63

स्वती

पूज्य दण्डि स्वामि विमलानन्द सरस्वती
को
सादर

ज्ञानतरंगिणी

[श्रद्धयाऽग्नि : समिध्यते]

: १८-१९]   १९८५-८६   अंक

22/11/86

जनपदीय अंक

संरक्षक :

☐ श्री उमाशंकर राय, पूर्व प्राचार्य
☐ श्री केशवप्रसाद राय, प्राचार्य

प्रधान सम्पादक :

डॉ० अनिलकुमार 'आंजनेय'

सम्पादन सहयोग :

श्री रमाशंकर राय
श्री गोपाल प्रसाद
श्री मधुमंगल राय
श्री शिवबहादुर पाण्डेय
श्री मोहम्मद सोहराब

छात्र :

श्री विजयन्त कुमार सिंह, आइ० ए०;
श्री अखिलेश कुमार सांकृत्यायन, दशम 'ब'
श्री विकास कुमार वर्मा, दशम 'स'
श्री विनय कुमार वर्मा, नवम 'स'
श्री राजीव रंजन मिश्र, अष्टम 'अ'

☐

अनुक्रम

क. आशीर्वाद / विद्वानों के पत्र सन्देश और शुभकामनाएँ (v)
१. पृथ्वी सूक्त / छविनाथ मिश्र (xxii)
२. भूमि सूक्त / छविनाथ मिश्र (xxiii)
३. चल मिट्टी की ओर / रवीन्द्रनाथ ठाकुर (xxiv)
४. शाश्वती अन्त:सलिला/ कुबेरनाथ राय १
५. वैदिक सूक्तों में गाथा/राम इकबाल सिंह 'राकेश' ११
६. साहित्य में जनपद और देश/डॉ० विद्याविन्दु सिंह १६
७. लोक भाषा:हिन्दी की प्राण-रसधारा/डॉ० राजेन्द्र रंजन १८
८. लोकदेवताओं की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि/डॉ० प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन' २१
९. हम हिन्दी के लिए क्या करें ?/ अखिल विनय २७
१०. जनपदीय आन्दोलन में हम क्या करें/डॉ० त्रिलोकीनाथ ब्रजबाल ३०
११. जनपदीय आन्दोलन:आशंकायें एवं संभावनायें/डॉ० श्रवणकुमार गोस्वामी ३४
१२. जनपदीय प्रतिभायें/आनन्द शंकर माधवन ...३७
१३. जनपदीय ब्रजभाषा के ग्यारह शब्दों की निरुक्ति/
डॉ० अम्बा प्रसाद 'सुमन' ३९
१४. बंगला और अंगिका में साम्य/राम बहाल तिवारी ४१
१५. डॉ० विवेकी राय का जनपदीय अवदान/डॉ० भगवान सहाय पचौरी ४८
१६. 'वसुदेव हिंण्डी' में अंकित लोक जीवन और आख्यान के तत्व/
डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव ५७
१७. गांव का मन / डॉ० विद्यानिवास मिश्र ५९
८. जनपदीय आन्दोलन : जनकल्याणी योजना / महेश चन्द्र गर्ग ६४
१९. जनपदीय आन्दोलन की नई भूमिका / नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ६७
२०. गाजीपुर को जनपदीय साहित्यिक चेतना का विकास /
डॉ० विवेकी राय ७०
२१. मातृभूमि : पुत्रोऽहम् पृथिव्यां / डॉ० जनार्दन उपाध्याय ७८
२२. जनपदीय आन्दोलन का भविष्य / डॉ० किरण मराली ८५
२३. जनपदीय अध्ययन का उद्देश्य : मनुष्य को पहिचानना /
रामनारायण उपाध्याय ८८
२४. लोकगीत : स्वरूप विवेचन / डॉ० रामस्वरूप आर्य ९१
२५. जनपदीय आन्दोलन : मार्क्सवादी दृष्टि / डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ ९३

२६. शिक्षा में जनपदीय अध्ययन का महत्त्व /
आचार्य पं कुलदीप नारायण 'झड़प' ९७
२७. राष्ट्रभाषा और जनपदीय भाषा / डॉ० युगेश्वर १०२
२८. राष्ट्रभाषा हिन्दी और महात्मा गांधी / डॉ० जितेन्द्रनाथ पाठक १०६
२९. राष्ट्रभाषा बनाम जनपदीय भाषा / विद्यानाथ ओझा ११२
३०. भाषा की विभिन्नता / योगिराज श्रीअरविन्द ११५
३१. जनपदीय आंदोलन / जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी ११९
३२. हिन्दी का व्यवहार क्षेत्र : बोलियों का प्रश्न / डॉ० गोपाल राय १२९
३३. संस्कृत तथा हरियाणी शब्दावली : तुलनात्मक अध्ययन /
डॉ० विष्णुदत्त भारद्वाज १३५
३४. वज्जिका के प्रगतिशील कवि और उनकी कविताएँ /
रमण शाण्डिल्य १४४
३५. बिहारी बोलियों में अंगिका का स्थान / डॉ० तेजनारायण कुशवाहा ... १५२
३६. जनपदीय भाषा 'अंगिका' का लोक-साहित्य / नरेश पाण्डेय 'चकोर' ... १५८
३७. गाजीपुर का इतिहास / डॉ० भोला नाथ तिवारी १६१
३८. कुरू-प्रदेश की लोकनाट्य परम्परा-स्वांग / वेद प्रकाश गर्ग १६३
३९. हमारे अवधी लोकगीत / त्रिभुवन नाथ शर्मा 'मधु' १६९
४०. ईसुरी-पूर्व का प्राचीन बुन्देली फाग काव्य /
डॉ० श्याम सुन्दर बादल १७२
४१. राम जन्म / डॉ० रामशरण सिंह ... १७७
४२. राजस्थानी लोकगीत 'पणिहारी' का भारत-व्यापी महत्व
डॉ० मनोहर शर्मा १७९
४३. लोकवार्ता और जनपदीय आन्दोलन / कृष्णानन्द गुप्त १८७
४४. मेरे गाँव का ब्रह्मवृक्ष / डॉ० रामप्रवेश सिंह १९०
४५. कोश-सन्दर्भ : एक पत्र / डॉ० चन्द्रसेन कुमार जैन १९३
४६. भोजपुरी लोकगीतों में शिव / सुश्री शारदा पाण्डेय १९८
४७. ब्रजभाषा का राष्ट्रीय महत्व / श्री शिवदत्त चतुर्वेदी २१०
४८. ब्रज-जनपदीय प्रबन्ध लोकगीतिका 'जिकड़ी भजन' /
डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा २२३
४९. मिथिला जनपद और मैथिल / पण्डित श्रीतारिणीश झा २२०
५०. भारतीय पूर्वांचल की लोकनाट्य परम्परा /
डॉ० चन्द्रसेन कुमार जैन २२४

५१. भोजपुर तथा आरा के नामकरण की पृष्ठभूमि / श्री दशरथ तिवारी २४०

५२. भोजपुर का ऐतिहासिक महत्व / डॉ० भगवतशरण उपाध्याय २४४

५३. समीक्षा : सोना माटी / सम्पादक २४९

: ए कम्परेटिव स्टडी ऑव सफिक्सेज इन ओरिया एण्ड भोजपुरी / सम्पादक २५६

‘शेष-नि:शेष’ / सम्पादक २५७

५४. मैथिली और खड़ी बोली / शीलभद्र साहित्यरत्न २६१

५५. प्रेरक साधक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी / डॉ० अनिल कुमार ‘आंजनेय’ २६३

५६. बाबू वृन्दावन दास / रमाशंकर राय २६८

५७. यशस्वी सांस्कृतिक व्यक्तित्व : झड़प जी / डॉ० प्रियदर्शी २७२

५८. राष्ट्रभाषा हिन्दी, अँग्रेजी और जनपदीय भाषाएँ / प्रो० ब्रजकिशोर २७६

५९. बार-बार अपने आप से पूछता हूँ / शंकरदयाल सिंह २७९

६०. अभय कुमार अमरनाथ झा की जनपदीय दृष्टि / २८०

६१. पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी और जनपदीय बोलियाँ / विजयन्त कुमार सिंह ... २८१

६२. राष्ट्रकवि दिनकर : जनपदीय दृष्टि / अनुज कुमार द्विवेदी २८३

६३. अछूत की शिकायत / हीराडोम / प्रस्तुति : विकास कुमार ... २८५

६४. चुनरी में लागे ना दाग / अखिलेश कुमार सांकृत्यायन, एवं ओम प्रकाश सांकृत्यायन ... २८७

६५. भोजपुरी जनपद के मंगल और सगुन / ललितेश्वर राय ... २८९

६६. पहेली / श्री प्रकाश केशरी और साथी ... २९४

६७. मुहावरा / संजय कुमार चौबे और साथी — २९५

६८. कहावतें और लोकोक्तियाँ / अनुरोध कुमार सिन्हा और अन्य ... २९६

६९. भोजपुरी लोकोक्तियाँ एवं कहावतें / श्री शिवबहादुर पाण्डेय २९६

७०. बिहार लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में बिहार की भाषाओं को मान्यता / डॉ० अनिल कुमार आंजनेय / प्रस्तुति : गोपाल प्रसाद २९८

७१. गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर की भाषा-दृष्टि / शौकत अली अन्सारी २९२

७२. महामहिम राष्ट्रपति और हिन्दी भाषा / मधुमंगल राय ३०५

७३. अनछुए प्रसंग / श्री उमाशंकर राय ३०६

७४. जनपदीय भाषाओं में प्रचलित गाली-गीत / श्री राजवल्लभ सिंह ३१३

७५. सोवियत संघ का समाधान और
भारत की भाषा समस्या / श्री पशुपति नाथ सिंह ···· ३१६
७५. राष्ट्रभाषा और जनपदीय चेतना / श्री अंगद प्रसाद राय ···· ३१८
७६. जनपदीय चेतना का आमंत्रण / परिपत्र ···· ३२२
७७. जनपदीय अंक : विषय संकेत (योजना) ···· ३२४
७८. पं० बनारसीदास चतुर्वेदी : जीवन यात्रा /
श्री यशवन्त कुमार 'नीरज' ···· ३२६
७९. आशीर्वाद : प्राचार्य की कलम से / श्री केशव प्रसाद राय ···· ३२८
८०. गीत / डॉ० जगदीश वाजपेयी ···· ३२९
८१. सम्पादकीय / डॉ० अनिल कुमार 'आंजनेय' ···· ३३०
८२. हमारा विद्यालय परिवार ···· ३४४
८३. सम्मान-समारोह (चित्र-परिचय) ···· ३४५
८४. बाँसुरिया-सी बजै ब्रजभाषा (कविता) / श्री गोपाल प्रसाद व्यास ···· ३४६
८५. हमारे विशिष्ट अतिथि लेखक ···· ३४७

चित्र-सूची

१. स्मृति-तर्पण : सम्पादकाचार्य पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी
२. हमारे संरक्षक : पूर्व प्राचार्य श्री उमाशंकर राय और
प्राचार्य श्री केशव प्रसाद राय
३. सम्मान-समारोह : विद्यालय परिवार का समूह-चित्र

□

आशीर्वाद

इस 'जनपदीय अंक' के लिए जब योजना बनी और उसे पूज्य पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जी का प्रोत्साहन-आशीर्वाद मिल गया तो लेखकों, साहित्यकारों एवं जनपदीय आन्दोलन में लगे मूर्धन्य व्यक्तियों को एक परिपत्र भेजा गया जिसके साथ सम्भावित लेखों की सूची भी थी। बाद में भी सैकड़ों पत्र लिखने पड़े। विद्वानों ने कृपा की, निबन्ध भेजे और उनके अनेक पत्र प्राप्त हुए जिनमें सुझाव थे और हमारे लिए प्रोत्साहनोत्पादक आशीर्वाद के शब्द भी थे। सैकड़ों पत्रों में से आशीर्वाद-स्वरूप कुछ पत्रों को हम यहाँ अविकल रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। यह आशीर्वाद हमारी प्रेरणा का स्रोत रहा है। सबके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए श्रद्धावनत हैं।

—(डॉ०) अनिल कुमार 'आंजनेय'
प्रधान सम्पादक
'ज्ञानतरंगिणी'
शिवप्रसाद विद्यामन्दिर इण्टर कालेज
बक्सर (भोजपुर)

□

फीरोजाबाद
दिनांक—२२-८-८४ ई०

प्रिय भाई आंजनेय जी;

प्रणाम।

आपका कृपापत्र मिला। 'ज्ञान-तरंगिणी' का जनपद अंक अवश्य निकालिए। क्या 'मधुकर' का जनपद अंक आपके पास है? वह तो अब सर्वथा अप्राप्य हो गया है। 'मधुकर' के कुछ फुटकर अंक तो मेरे पास हैं पर 'जनपद अंक' की केवल एक ही प्रति मेरे संग्रह में है। जनपद आन्दोलन के लिए वह अंक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। 'ज्ञान-तरंगिणी' के विशेषांक में उसका सारांश आ जाना चाहिए। आपके भेजे हुए ५ रु० के टिकट प्राप्त हुए। एतदर्थ अनेक धन्यवाद। मैं तो सौ-सवा सौ रुपये महीने पोस्टेज पर खर्च किया करता हूँ। पर अब लिखना और पढ़ना मेरे लिए अत्यन्त कठिन हो गया है। पत्र पढ़वा कर सुन लेता हूँ और उत्तर अपने सहायक श्री डॉ० मथुरा प्रसाद 'मानव' से बोलकर लिखा देता हूँ।

विशेषांक के लिए कुछ सुझाव

१. विशेषांक में अन्तर जनपदीय कार्यकर्त्ताओं के चित्र तथा चरित्र तो रहने ही चाहिए।

२. सबसे पहले आप भाई बाबू वृन्दावन दास, प्रकाश भवन, डोरी बाजार; मथुरा का चित्र और चरित्र मँगा लीजिए। वे अस्वस्थ हैं और बहुत कम लिख-पढ़ पाते हैं। आप डॉ० राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी, जैन इन्टर कॉलेज; सासनी जि० अलीगढ़ को पत्र लिखें। स्वयं रंजन जी ने लोकशास्त्र पर बहुत काम किया था। वे भाई वृन्दावनदास जी पर अच्छा लेख लिख सकते हैं।

३. श्री जगदीश 'पीयूष', गौरीगंज, सुल्तानपुर ने अवधी पर बहुत काम किया है। मेरे नाम का उल्लेख कर उन्हें भी पत्र लिखिए। अवधी के दो महान् कवि स्व० वंशीधर शुक्ल और रमई काका के भी चित्र तथा चरित्र दिए जाने चाहिए। स्व० वंशीधर शुक्ल की तीन कविताएँ—'कवि सम्मेलन', 'मुशायरा' और 'सिनेमा' मैंने 'सुमित्रा' (कानपुर से निकलने वाली एक पत्रिका) में छापी थी। मैंने सुना था कि महापंडित राहुल जी की सम्मति में स्व० वंशीधर शुक्ल महाकवि तुलसीदास के बाद अवधी के सबसे अधिक सशक्त कवि थे। रमई काका की 'धोखा होइगा' कविता बहुत मशहूर है।

४. स्व० वासुदेव शरण अग्रवाल की पुस्तक 'पृथ्वी-पुत्र' तो हमलोगों के लिए 'बाइबिल' है। उनके पत्र भाई वृन्दावनदास जी ने छपाए थे, उन्हें अवश्य मँगा लीजिए।

५. जनपद आन्दोलन की कल्पना मेरे दिमाग में आई थी। सम्भवतः वह अराजकतावाद (Anarchism) के मूल सिद्धान्त विकेन्द्रीकरण (Decentrelisation) से प्रभावित थी। 'मधुकर' के जनपद अंक में तीन धाराएँ हैं—(१) महापंडित राहुल सांकृत्यायन की धारा—राहुल जी जनपदीय भाषाओं के प्रान्त बनाने के पक्ष में थे। (२) मेरी धारा—मैं छोटे-छोटे केन्द्रों को स्थापित करने के पक्ष में था। (३) तीसरी धारा भाई वासुदेवशरण अग्रवाल की थी। उन्होंने प्राचीन साहित्य के आधार पर जनपदों को पुनर्जीवित कराने का व्यावहारिक कार्यक्रम दिया था। भाई वासुदेवशरणजी का स्पष्ट मत था कि प्रान्त निर्माण जैसे राजनीतिक प्रश्नों से हमें अलग ही रहना चाहिए।

६. यह भी एक आकस्मिक घटना थी कि मैं बुन्देल खण्ड प्रान्त निर्माण का आन्दोलन चला रहा था। बुन्देल खण्ड में ३६ छोटी-बड़ी रियासतें थीं। उन्हें एक करने के खयाल से महाराज ओरछा ने वह आन्दोलन चलवाया था। चूँकि ये आन्दोलन मेरे हाथ केन्द्रित थे इसलिए गलतफहमी होना स्वाभाविक था। कुछ लोगों ने यह कल्पना कर ली कि महाराज ओरछा समस्त बुन्देल खण्ड के शासक बनना चाहते हैं, जब कि यह बात सर्वथा निराधार थी। हिन्दी साहित्य के कर्णधार भी सशंक थे। लेकिन आगे चलकर स्वयं सम्मेलन ने भोजपुरी पर दो ग्रन्थ छापे।

७. अन्तर जनपदीय परिषद् की स्थापना मैंने ही हाथरस के 'ब्रज साहित्य मण्डल' के अधिवेशन के अवसर पर कराई थी। कुछ लोगों को यह भ्रम था कि जनपदीय भाषाओं के उद्‌धार से खड़ीबोली को धक्का लगेगा। मैंने कहा था, "जनपदीय भाषाएँ खड़ी बोली की माँ हैं न कि सौत।" मेरा यह कथन काफी प्रसिद्ध हो चुका है। मैं इस पक्ष में कभी नहीं था कि स्कूल कॉलेजों की पाठ्य पुस्तकें जनपदीय भाषाओं में लिखी जावें। जनपदीय भाषाओं में जो शब्द, लोककथा और मुहावरे हैं, उनका संग्रह करके सुरक्षित करा देना चाहिए। लोकशास्त्र (Folk Lore) अब एक अन्तर्राष्ट्रीय विषय है। विदेशों में भी इस पर काफी सामग्री मिलती है।

८. हिन्दी जगत् में कम से कम २-३ स्थान ऐसे होने चाहिए, जहाँ लोकशास्त्र सम्बन्धी सन्दर्भ ग्रन्थ सुरक्षित हों। आप बी० बी० उच्च विद्यालय, बक्सर (भोजपुर) की मदद से एक छोटे-मोटे संग्रहालय की स्थापना कर दीजिए।

९. जनपदीय पत्रों की फाइलें भी वहाँ होनी चाहिए।

१०. यह सब कार्य व्यय-साध्य हैं और मुझे पता नहीं कि आप लोग कितना खर्च कर सकते हैं।

११. मेरे पास की सामग्री तीन जगह विभाजित हो गई—(१) राष्ट्रीय अभिलेखागार, जनपथ, नई दिल्ली, (२) के०एम० मुंशी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय; आगरा के व्रजकक्ष में, तथा (३) मेरे घर पर।

१२. श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, ५५ काकानगर, नई दिल्ली-३ से मेरा उल्लेख करते हुए पत्र-व्यवहार करें। उत्तर के लिए टिकट लगा लिफाफा भेजना ठीक रहेगा। 'मधुकर' के 'जनपद अंक' का सम्पादन श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी ने किया था। वे बहुत से सुझाव दे सकते हैं।

१३. दिल्ली के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर जनपदीय भाषाओं के मण्डल बनाने का प्रस्ताव मैंने ही रखवाया था। यद्यपि मैं उसमें नहीं पहुँच पाया था पर टण्डन जी ने वह प्रस्ताव पास करवा दिया था।

१४. कुछ लोग जनपद आन्दोलन से इतने सशंकित थे कि वे इसे भारतीय एकता के लिए विघातक मानते थे और एक सम्पादक महोदय ने तो मेरे मुँह पर ही यहाँ तक कह दिया था, "तुम्हारा आन्दोलन जिन्ना के आन्दोलन से भी खतरनाक है क्योंकि यह हिन्दुस्तान को अनेक टुकड़ों में विभाजित कर देगा।" यह गलतफहमी राहुल जी के जनपदीय भाषाओं के आधार पर प्रान्त बनाने की कल्पना से हुई होगी।

आज प्रातःकाल के २-३ घण्टे मैंने आपके आदेश पालन पर खर्च कर दिए। मेरे इस पत्र की प्रतियाँ टाइप कराकर आप जनपदीय कार्यकर्त्ताओं को भेज सकते हैं। एक प्रति श्री रामचरण हयारण 'मित्र', वर्त्तन बाजार, झांसी को और एक श्री श्याम सुन्दर 'बादल', राठ (हमीर पुर) को भेज दीजिए। ये दोनों बुन्देली भाषा के अच्छे कवि हैं। 'गढ़गौरव' के सम्पादक श्री कुँवर सिंह नेगी 'कर्मठ', कोटद्वार (गढ़वाल) को भी पत्र भेजें। गढ़वाली का कोश उन्होंने छपाया है। श्री शिवदत्त चतुर्वेदी, एम० ए०, छिपेटी मुहल्ला, इटावा को भी पत्र भेजें। वे व्रजभाषा कोश तैयार कर रहे हैं।

ज्यों-ज्यों विचार आते जाएँगे, भेजता रहूँगा। आप इस मिशन को अपना लें। समय-समय पर पत्र भेजकर पत्रिका की प्रगति से सूचित करते रहें।

विनीत,
बनारसीदास चतुर्वेदी

अखिल भारतीय हिन्दी संस्था संघ

Akhil Bharatiya Hindi Sanstha Sangh

75. Jawahar Lal Nehru Marg, New Delhi—110002

(An All India Federation of Voluntary Hindi organisations recognised by the Govt. of India.)

अध्यक्ष : गंगाशरण सिंह, डी० लिट्
सचिव : रामलाल परीख
कोषाध्यक्ष : शंकरराव लोंढे

क्रमांक
दिनांक

जिस प्रकार शरीर को पुष्ट, स्वस्थ और कर्मठ बनाये रखने के लिए प्रत्येक अंग का स्वस्थ और पुष्ट होना आवश्यक है उसी प्रकार राष्ट्र को पुष्ट, सशक्त, स्वस्थ, कर्मठ और जागरूक बनाये रखने के लिए राष्ट्र के प्रत्येक जनपद का पुष्ट, सशक्त, कर्मठ और जागरूक होना आवश्यक है। इस दृष्टि से और राष्ट्र के निर्माण और विकास की दृष्टि से जनपदीय भाषाओं, कलाओं, शिल्पों और विशेषताओं का भी विकास और उन्नयन होना जरूरी है। इसे ध्यान में रखते हुए आप लोग जो प्रयत्न कर रहे हैं वह प्रशंसनीय, अनुकरणीय और उपयोगी है। ज्ञानतरंगिणी का जनपदीय अंक जनपद के विकास और उन्नति के द्वारा राष्ट्र को और समर्थ बनाने में सफल हो यह मेरी हार्दिक कामना और प्रार्थना है।

जनपदीय भाषा, मुहावरों, कला, शिल्प और संस्कृति आदि को गँवारू या ग्राम्य प्रयोग कह कर घृणा या उपेक्षा करने की जो परम्परा चली उससे बहुत हानि हुई है। इस दृष्टिकोण का त्याग करना चाहिए। राष्ट्र में जनपदों का वही स्थान है जो माला में पुष्प या मनकों का। इनके बगैर जैसे माला नहीं बन सकती वैसे ही राष्ट्र भी नहीं बन सकता। जनपद की कला, संस्कृति, शिल्प, साहित्य और स्वस्थ परम्परा का विकास कर आप राष्ट्र के विकास का महान कार्य कर रहे हैं। इस महान यज्ञ में आप जो आहुति दे रहे हैं उसका परिणाम सबके लिए सुखद और बलप्रद होगा। आप लोगों को मेरी हार्दिक बधाई।

—गंगाशरण सिंह

□

दशरथ तिवारी
जिला शिक्षा पदाधिकारी,
(भोजपुर)

आरा
दिनांक-२७ मई, ८६

सन्देश

हिन्दी और अन्य भाषाओं के सुधी पाठकवृन्द एक लम्बे अरसे से 'ज्ञानतरंगिणी' के जनपदीय अंक के प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। 'ज्ञानतरंगिणी' एक उत्कृष्ट साहित्यक पत्रिका के रूप में सर्वत्र प्रतिष्ठित एवं समादृत हुई है। पत्रिका के प्रधान सम्पादक डॉ० अनिलकुमार राय 'आंजनेय' की विद्वत्ता, साहित्यिक अभिरुचि, कल्पना-शक्ति तथा कर्मठता ने इस पत्रिका को स्थायी साहित्य की अनमोल निधि के रूप में परिवर्तित कर दिया है। डॉ० आंजनेय की शम्पादन-कला एवं साहित्यिक प्रतिभा का सम्यक आकलन तटस्थ एव सुधी साहित्य-साधक समीक्षक करेंगे, परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि 'ज्ञानतरंगिणी' के गांधी, दिनकर एवं लोकमान्य तिलक अंकों के सम्पादन द्वारा डॉ० आंजनेय ने अपने को हिन्दी के मूर्धन्य सम्पादकों की परम्परा से जोड़ लिया है।

डॉ० आंजनेय को मैंने **"शब्द स्वामी"** की उपाधि दी है। उन्होंने हिन्दी के शब्दों का बहुत ही सूक्ष्मता से अध्ययन किया है। प्रसंग के अनुसार सही शब्द के चयन की जो आकुलता मैंने डॉ० आंजनेय में देखी है, वह अन्यत्र दुर्लभ प्रतीत होती है। 'Lemot juste' के सिद्धान्त को हिन्दी में लागू करने वाले साहित्यकारों की अग्रिम पंक्ति में डॉ० आंजनेय की गणना होगी।

जनपदीय अंक के लिये जो विषय विज्ञापित किये गये हैं, उनसे स्पष्ट है कि अन्य अंकों की भांति यह अंक भी साहित्य का एक संग्रहणीय अंक होगा। मैं इस अंक के सफल प्रकाशन के लिये महाविद्यालय के विद्वान् प्राचार्य श्री केशव प्रसाद राय को साधुवादु देता हूँ। श्री राय हिन्दी साहित्य के एक मर्मज्ञ विद्वान् हैं और प्रतिभा को प्रोत्साहित करने में अनन्य हैं।

मैं पत्रिका के सफल प्रकाशन की कामना करता हूँ।

—दशरथ तिवारी

डॉ० चेर्निशोव
भाषा विभाग
प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान,
ऊलित्सा,ज्दानोवा-१२
मास्को (केन्द्र), यू० एस० एस० आर०

दि० १३-२-८५

प्रिय मित्र;

आपका पत्र प्राप्त हुआ। इसमें आपकी ओर से निवेदन है कि प्रस्तावित-प्रकाश्यमान 'ज्ञानतरंगिणी' के 'जनपदीय अंक' के लिए मैं कोई निबन्ध/लेख लिख दूँ। निवेदन के लिए धन्यवाद देता हूँ, परन्तु आपका अनुरोध पूरा नहीं कर सकूँगा। बात यह है कि आपने लेख भेजने की अन्तिम तिथि बताई—नवम्बर मगर आपका पत्र मुझे मिला है—दिसम्बर में। अतः भेजने का कोई अर्थ न रहा। यद्यपि मेरे पास जनपद आन्दोलन सम्बन्धी दो निबन्ध वर्तमान हैं, जो रूसी में भी कहीं प्रकाशित नहीं हुए हैं। ये हैं—'प्रगतिशील लेखक संघ तथा हिन्दी भाषी प्रदेश की उपभाषाओं एवं उनमें रचित साहित्य का प्रश्न', और 'ब्रज में रचित उपन्यास तथा प्रेमचन्द की परम्परा।'

पत्र यथासमय ही प्राप्त हुआ होता तो भी प्रस्तावित अंक में भाग नहीं ले सकता था, क्योंकि उनका (निबन्धों का) हिन्दी में अनुवाद करने में काफी समय लगता। यदि एक वर्ष पहले पत्र लिखा होता तो सब ठीक हुआ होता।

आशा है कि आप स्वस्थ तथा सकुशल हैं।

आपका ही,
चेर्निशोव

मास्को (केन्द्र)
२३-५-८५

प्रिय मित्र;

आज मुझे शोकजनक सूचना प्राप्त हुई कि पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जी निधन हो गया। उनके निधन से साहित्य जगत् की भारी क्षति हुई। श्री चतुर्वे जी न केवल एक महान् साहित्यकार बल्कि सच्चे देशभक्त और सोवियत संघ बड़े मित्र भी थे। उनके निधन पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। मे गहरी सम्वेदना स्वीकार करें।

आपका दिनांक १४-३-८५ का पत्र अप्रैल महीने के अन्त में ही प्राप्त हुआ। उसके साथ-साथ आपका १-१-८५ का पत्र भी मुझे मिला। वह किसी और पते पर आया और वहाँ पड़ा रहा।

जो भी हो दोनों पत्र मुझे प्राप्त हुए और उन दोनों का उत्तर दे रहा हूँ। (उनके साथ आपके भेजे परिपत्र (फोल्डर) के दो प्रतिमुद्रण भी मुझे मिले)।

जैसा मैंने लिखा था, मेरे पास एक अप्रकाशित लेख वर्तमान है। नाम है—'प्रगतिशील लेखक संघ और जनपदीय भाषाओं का प्रश्न।' वह काफी लम्बा—५४ टैप हुए पृष्ठों का है। (रूसी में वह "Assotsiatsiya Progressivnih pisateley i problema regionalnih yazikovy" होगा, अँग्रेजी में Progressive Writers' Association and the problem of Folk-languages in the Hindi speaking regions).

आपके पास भेजने के लिए उसे हिन्दी में अनूदित करना है। इस समस्या का समाधान किया जा सकता है, जब लेखक-अधिकार-रक्षा-एजेंसी का औपचारिक पत्र आ जाए। अत: आपसे अनुरोध है कि उपर्युक्त लेख के सम्बन्ध में आप लेखक-अधिकार-एजेंसी में पत्र लिखकर भेज दें। अच्छा होगा अगर आप अँग्रेजी में लिखें। उसका पता यह है—

Authors' Rights Agency
(VSESOYUZNOE Agentstvo
PO AVTORSKIM PRAVAM)
VAAP
BOLSHAYA BRONNAYA, 6-A,
MOSCOW, USSR

इसके लिए शायद काफी समय लगेगा। लेकिन क्या करूँ, यह मुझ पर निर्भर नहीं है।

आशा है कि आप स्वस्थ तथा मंगलमय हैं।

पत्रोत्तर की प्रतीक्षा में
आपका
चेर्निशोव

सस्ता साहित्य मण्डल

सत्साहित्य के प्रणेता, प्रकाशक तथा प्रसारक
एन-७७ कनॉट सर्कस, दिल्ली-११०००१

मंत्री
श्री यशपाल जैन

२३ अक्तूबर, १९८४

प्रिय बन्धु,

सप्रेम नमस्कार।

आपके पत्रक से यह जानकर हर्ष हुआ कि आप 'ज्ञानतरंगिणी' का 'जनपदीय अंक' निकाल रहे हैं। मैं आपके उपक्रम का स्वागत करता हूँ और उसकी सफलता के लिए शुभ कामनाएँ भेजता हूँ। प्रत्येक जनपद में साहित्य, संस्कृति और कला की अनमोल निधियाँ तो हैं ही, साथ ही वहाँ की प्रवृति और लोक जीवन भी अत्यन्त समृद्ध है। पर उसे देखने के लिए एक विशेष प्रकार की दृष्टि चाहिए, जिसका आज अभाव है। इसी से ये सब निधियाँ और समृद्धियाँ गौण तथा उपेक्षित हो रही हैं। मैं आशा करता हूँ कि आपके प्रयास से देशवासियों का उस ओर ध्यान आकर्षित होगा।

विशेष कृपा।
सप्रेम आपका,
यशपाल जैन

डॉ० अनिल कुमार 'आंजनेय'
उजियार (बलिया)

□

१९; विधायकक्ज ब
पटना—१

प्रिय भाई,

···· आपका "जनपदीय अंक" खूब अच्छा निकलेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। मैं, भी इसके लिए लिखूँगा। परन्तु आप काशी आकर मिलिए भी।

···· स्वास्थ्य आपकी धुन का इसी प्रकार साथ दे, यही मनाता

—नागार्जुन
आपका

□

क० मु० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ
आगरा विश्व विद्यालय, आगरा

विद्यानिवास मिश्र
निदेशक

आगरा-४ पिन-२८२००४

दिनांक २२-८-८४

प्रिय श्री आंजनेय जी,

आपका स्नेहसिक्त पत्र मिला। जनपदीय विशेषांक की रूपरेखा के लिए वर्षों पूर्व प्रकाशित 'जनपद' पत्रिका के अंक देख लें जिसमें स्व० डॉ० वासुदेव शरणजी अग्रवाल ने बड़ा मार्गदर्शक काम किया है। वस्तुतः जनपदीय संस्कृति की प्रशंसा न करके उसका एक प्रामाणिक अभिलेख तैयार करना चाहिए, जिसमें लुप्त हो रहे मौतिक साहित्य का संकलन हो, संकलित साहित्य की मीमांसा हो और जनपदीय सर्वेक्षण की समस्याओं का समाधान हो।

सस्नेह

आपका
—विद्यानिवास मिश्र
निदेशक

श्री अनिल कुमार आंजनेय
उजियार
बलिया—उ० प्र०
२७७५०१

□

Dr. Siyaram Tiwari
M.A. (Bihar), Ph.D. (Patna), D. Litt. (Patna)
Professor of Hindi
Visva-Bharati

Hindi-Bhavana
Santiniketan
731235
West Bengal, India

२६-३-१९८५

यह मेरे लिए परम प्रसन्नता का विषय है कि 'ज्ञानतरंगिणी' का जनपदीय अंक प्रकाशित हो रहा है। हिन्दी वस्तुतः जनपदीय भाषाओं का समूह है। अतः जनपदीय भाषाओं और उनके साहित्य के विकास से हिन्दी समृद्ध होगी। 'ज्ञानतरंगिणी' का जनपदीय अंक उस दिशा में एक सशक्त प्रयास है, इसमें सन्देह नहीं। डॉ० अनिल कुमार राय 'आंजनेय' जनपदीय भाषा-साहित्य के विकास में समर्पित एक सुधी विद्वान् हैं। इनका प्रयास निश्चय ही अभिनन्दनीय है।

—सियाराम तिवारी

□

प्रो० कुमार विमल, डी० लिट्०

दूरभाष { कार्यालय : २३५७
आवास : ५२६४

अध्यक्ष,

बिहार लोक सेवा आयोग
पटना

८६, एम० आई० जी० एच०
लोहियानगर, पटना-८०००२०

प्रिय महोदय, दि०-१६।१२।८४

आपके द्वारा प्रेषित मुद्रित पत्र मिला। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आ 'ज्ञानतरंगिणी' का जनपदीय अंक प्रकाशित करने जा रहे हैं। मैं इस विषय क कोई अधिकारी ज्ञाता नहीं हूँ। फिर भी मैं रचना-सहयोग देने की चेष्टा करूँगा।

आपका यह मुद्रित पत्र अपने आपमें जनपदीय साहित्य के महत्व प पर्याप्त प्रकाश डालता है। यह एक महत्वपूर्ण पत्र है। इसलिए मैं इसे अपने पत्र संकलन में जुगाकर रखूँगा।

शुभकामनाओं सहित,
भवदीय,
कुमार विमल

□

बचनदेव कुमार
संकायाध्यक्ष, मानविकी, राँची विश्वविद्यालय
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
राँची विश्वविद्यालय, राँची

प्रियवर,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'ज्ञान-तरंगिणी' का आप 'जनपदीय अंक प्रक शित करने जा रहे हैं। आशा है, आपका यह अंक 'श्रद्धांजलि अंक' और 'लोकमा तिलक स्मृति अंक' की भास्वर परम्परा में सुनहली कड़ी होगा।

शुभकामनाओं के साथ
बचनदेव कुमार

□

सम्पर्क अनियतकालीन अव्यावसायिक पत्रिका
सम्पादक : डा० सुरेशचन्द्र त्यागी
रामजीवन नगर, चिलकाना रोड, सहारनपुर-२४७००१

आदरणीय श्री आंजनेय,

प्रणाम स्वीकारें।

आपका ५-४-८६ का कृपापत्र और झड़प जी०का लेख प्राप्त हुआ। आभारी हूँ। आप अप्रैल के अंत तक भी अपना लेख भेज सकते हैं। 'ज्ञानतरंगिणी' के जनपदीय अंक का सम्पादन आप कर रहे हैं, यह जानकर मुझे सुख मिला।

इतिहास और संस्कृति पुस्तकों में नहीं है, न महानगरों के कंक्रीट जंगलों में। वह तो गांव के गली कूचों में बिखरी है। उसे देखने वालों की कमी होती जा रही है। जनपदीय अंक की रूपरेखा देखकर मुझे विश्वास हुआ है कि इससे पाठकों को नई दृष्टि मिलेगी और जनपदीय आन्दोलन को बल मिलेगा। अंक छप जाने पर मुझे भी भेजने की कृपा करें। मेरे योग्य !

आपका
सुरेशचन्द्र त्यागी

◆

८१८, कुण्डेवालान,
अजमेरीगेट, दिल्ली-६
दि० : ५-१-८५

प्रिय भाई,

आपका परिपत्र मिला। सत्यार्थीजी से इधर भेंट नहीं होती। डाक से आपका परिपत्र उन्हें भेज दिया है। मैं इधर कुछ अन्य कामों में इतना व्यस्त हूँ कि आपको कुछ लिख भेजना सम्भव नहीं होगा। शुभकामनाएँ ही भेज सकता हूँ। आशा करता हूँ कि आपका यह अंक जनपदीय आन्दोलन को नई दिशा दे सकेगा। और सब ठीक है।

आपका,
विष्णु प्रभाकर

॥ श्री मारुतिः शरणं ॥

सम्मेलन, प्रयाग
दि० १३।१२।८५

आदरणीय आंजनेय जी,

नमस्कार,

अ० भा० अंतर जनपदीय परिषद् का परिचय पाया। ज्ञानतरंगिणी के लिये कुछ न कुछ तो अवश्य लिखूँगा। श्री झड़प जी के साथ जनपदीय आन्दोलन का आपका कार्य तेजी से चल रहा है, समय-समय पर ऐसी सूचना मिलती रही है।

"बलिया जनपद में प्राप्त प्राचीन साहित्यिक संपदा" विषय पर लेख शीघ्र ही भेजूँगा। आप लोग अपने प्रयास में सफल हों यही मेरी हार्दिक अभिलाषा है। आ ,शाहैस्वस्थ और सानंद हैं।

भवदीय,
उदय शंकर दूबे
साहित्य विभाग

□

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन', डी० लिट्०
'परितोष', ए० ८७. विवेकनगर (आवास विकास कालोनी),
दिल्ली रोड, सहारनपुर-२४७२०१ (उ० प्र०)

दिनांक ९.१०.८४

प्रिय भाई आंजनेयजी;

आपके द्वारा प्रेषित 'जनपदीय अंक की लेख-शीर्षक-सूची मिली, हार्दिक-धन्यवाद! श्रद्धेय डा० वासुदेव शरणजी अग्रवाल मेरे पी-एच०डी०-शोध-ग्रन्थ के निर्देशक थे। मैंने शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र में उनसे पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया था। डी०लिट्० के विषय को भी उन्होंने ही सुझाया था। उन जैसा अधीती और ज्ञान के लिए समर्पित व्यक्तित्व भारत में मैंने दूसरा नहीं देखा। हाथरस (अलीगढ़) के ब्रज साहित्य मण्डल, मथुरा के अधिवेशन में **जनपदकल्याणी योजना** का शिलान्यास हुआ था। तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के सभापतित्व में। मैं उसमें उपस्थित था। सर्वश्री आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल और डॉ० उदयनारायण तिवारी एक ही कमरे में थे। मैं भी उसी कमरे में ठहरा था। श्रद्धेय पं० बनारसीदासजी उस यज्ञ के पुराधा थे। यदि नेत्र-रोग से मुक्ति मिल गयी तो सं० २६ के अनुसार निम्नांकित शीर्षक पर कुछ लिखूँगा—**"जनपदीय ब्रजभाषा के कुछ लोक प्रचलित शब्द"**। हर्ष है; सब आनंद हैं। 'परितोष' मेरे कुटीर का नाम है।

आपका
अम्बा प्रसाद सुमन

ऋतंवरा
गोड्डा, बिहार
पिन—८१४१३२
दि०—१९-१०-८४

प्रिय भाई,

स्मरण के लिए आभारी हूँ। आप 'ज्ञानतरंगिणी' का जनपदीय अंक प्रकाशित करने जा रहे हैं, यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। 'ज्ञानतरंगिणी' के एक दो विशेषांक मैंने देखे हैं। उनकी स्तरीयता और उपयोगिता के सम्बन्ध में दो मत नहीं है। विश्वास है जनपदीय अंक भी उसी परम्परा की एक सबल कड़ी प्रमाणित होगा। प्रस्तावित विषय सूची देखकर लगता है कि यह अपने विषय का सन्दर्भ अंक हो सकेगा। जनपदीय आन्दोलन कमजोर पड़ता जा रहा है। हमारे राष्ट्रीय जीवन में शहरों की भूमिका बढ़ रही है, गांव और जनपद उपेक्षित हो रहे हैं। या तो वोट की राजनीति के लिए उनका दोहन हो रहा है या राष्ट्रीय प्रसंग में उनकी अपार उपयोगिता (अ) स्वीकारी जा रही है। इस सन्दर्भ में जनपदों की ओर हमारा ध्यान नये सिरे से जाना चाहिए। इस दिशा में जो भी प्रयास हो उसमें हमारी रुचि स्वाभाविक है। विश्वास है, आप यह मशाल जलाये रखेंगे। पिछले दो वर्षों से मैं हाथ-कष्ट से पीड़ित हूँ। पत्र तो लिख लेता हूँ; पर लम्बे लेख लिखने में कठिनाई होती है। अतः क्षमा चाहता हूँ।

प्रकाशित होने पर अंक जरूर भेजिएगा।

आपका
श्यामसुन्दर घोष

□

बी—३ बी/६६ जनकपुर
नयी दिल्ली-५८
१४-१-८५

प्रिय अनिलकुमार जी,

आपका ३१-१२ का पत्र पढ़कर मुझे सचमुच प्रसन्नता हुई। आपने मेरे लेखों और पुस्तकों का जिक्र किया है, जिससे मैं समझा कि आप मेरी लिखी चीजें पढ़ते रहे हैं। आपने नवल के लेख से मक्खन वाली बात उद्धृत की है। सम्मति मांगने वालों से—विशेष रूप से कवियों से—मैं परेशान रहता हूँ। पहले परेशानी ज्यादा होती थी, अब कम। 'कवि' लोग समझ गये हैं कि प्रयास करना व्यर्थ है। 'भय और आशंका' की बात मन में न लाएँ।

समय और शक्ति बचाने के लिए सम्मतियाँ, प्रतिक्रिया आदि के अलावा मैंने छुटपुट लेख लिखना भी बन्द कर दिया है। 'ज्ञानतरंगिणी' से सम्बन्धित परिपत्र मुझे मिल गया है। लेख मैं आपको न भेज सकूँगा। इससे आप निराश न हों। जनपदीयता और हिन्दी जातीयता का आन्तरिक सम्बन्ध पहचान कर काम करते रहें। आपका श्रम सफल हो, मेरी कामना है।

सप्रेम—
रामविलास शर्मा

दिनकर शोध संस्थान
८२/२ ई, विधान सरणी, कलकत्ता-७००००४

दूरभाष : ५४-३७०
५५-५९९

अध्यक्ष :
कन्हैयालल फूलफगर

दिनांक १४-१०-८

सन्देश

बन्धुवर,

आपके ५-८५ के पत्र से यह जानकर विशेष खुशी हुई कि आप 'जनपदीय अंक' प्रकाशित करने जा रहे हैं। आपके द्वारा सम्पादित और प्रकाशित 'श्रद्धांजलि अंक' 'लोकमान्य तिलक अंक' मैं पहले ही देख चुका हूँ। जनपदीय अंक उसी शृंखला की एक शानदार और जानदार कड़ी बनेगा। भोजपुरी भाषा का मैं तो प्रेमी हूँ। जनपदीय-साहित्य का हमारा विशाल भण्डार इधर-उधर बिखरा पड़ा हुआ है।

पूज्य बनारसीदासजी चतुर्वेदी, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, बाबू वृन्दावन दास, डॉ० कन्हैयालाल सहल, गोविन्द अग्रवाल और श्री अगरचन्द नाहटा ने काफी कुछ ठोस कार्य करके हमारा मार्ग-दर्शन किया है। आप लोग जो कार्य कर रहे हैं, वह बहुत ही उपयोगी और ठोस कार्य है। हाँ, एक बात से मेरा मन कांप-कांप उठता है। 'जनपदीयता' के नाम पर ओछी और बौनी राजनीति लो करने लगे हैं। हिन्दी जो हमारी राष्ट्रभाषा है, उस पर भी लोग अंट-संट बे-सिर पैर के आरोप अपने स्वार्थ साधने के लिए लगाने लगे हैं। हमको इस तरह क राजनीति से परे रहकर शुद्ध साहित्यिक ठोस काम में जुटा रहना चाहिये।

मुझे पूरा भरोसा है कि आपका यह 'जनपदीय अंक' भी एक प्राणवा संग्रहणीय मूल्यवान दस्तावेज बनेगा। अतः हार्दिक शुभकामनाएँ और बधा स्वीकार करें।

बिनीत
कन्हैयालाल फूलफग

□

ज्ञानतरंगिणी

जनपदीय अंक

वेदछन्दा

पृथिवी सूक्त

☐ द्रष्टा : ऋषि कवि : भौम अत्रि
☐ हिन्दी गीतान्तर : छविनाथ मिश्र

दृल्हा चिद् या ननस्पतीन् क्ष्मया
दर्धर्ष्य ओजसा
यत् ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो
वर्षन्ति वृष्टयः ।।
—ऋक्-संहिता : ५/८४/३
(ऋग्वेद)

प्रकृति, मा पृथिवी

जीवधात्री मा हमारी, दृढ़ा है, विश्वम्भरा है
द्यौश्छन्दा भूमि—
प्राणोच्छला सागर अम्बरा है।

अंकुरों की तरह जिसकी गोद में खेले-खुले
शस्य श्यामल प्राण चंचल
दूध से जिसके धुले

वही प्रतिमा, प्रभा, मा है
दिव्य हैमवती उमा है
मेघवर्णा, वृष्टि-झंझा, रसमयी रूपाम्बरा है
—दृढ़ा है, विश्वम्भरा है।

ऊर्ध्वगामी मन-वनस्पति की शिखा यह आग्नेयी
सुधावर्षी सोमधारा—
चेतना यह पार्वतेयी

कहीं यह स्रोतस्विनी है
कहीं यह तेजस्विनी है
क्षमा, शीला, सती, तपसिन, स्वधा, स्वाहा, उर्वरा है
—दृढ़ है, विश्वम्भरा है।
('हिन्दी साहित्य : बंगीय भूमिका' से सामार)

☐

भूमि सूक्त

☐ द्रष्टा : ऋषि कवि : अथर्वा
☐ हिन्दी गीतान्तर : छविनाथ मिश्र

यस्यां समुद्र उत् सिन्धुर् आपो यस्याम्
—अन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः
यस्याम् इद जिन्वति प्राणद् एजत् सानो
भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥
—शौनक संहिता : १२/१/३
(अथर्ववेद)

वसुधा
रसस्वदा मैत्रेयी

मधुवन्ती जलधाराओं से, जिसकी सारी देह उजागर
—नदी—नदी हैं, बाहें जिसकी
आँचल जिसका सागर - सागर

शस्य श्यामला धरती कमला अन्नपूर्णा, अन्नदात्री
नवजीवन की प्राण - प्रतिष्ठा—
कृषकों की सीता - सावित्री

यही अन्नमय सत्ता का स्वर
यही प्राणमय चिन्मय निर्झर
खेत - खेत पोथी - पन्ने हैं, अंकुर - अंकुर, आखर - आखर
....आँचल जिसका सागर - सागर

पृथिवी रसस्वदा मैत्रेयी, सोम उड़ेले आँगन - आँगन
जिसकी छुअन जगा जाती है—
जड़ - चेतन में धड़कन - फड़कन

लौटे हैं, हम कहाँ - कहाँ से
हम तो बृहत् ज्योति के प्यासे
प्रथम पान के हम अधिकारी, तृप्त करो तुम भीतर - बाहर
....आँचल जिसका सागर - सागर

('हिन्दी साहित्य : बंगाली भूमिका' से सागर-सागर)

☐

मिट्टी की ओर लौट चल

●

फिरे चल माटिर टाने,
ये-माटि आँचल पेते चेये आछे मुखेर पाने।
यार बुक फेठे एइ प्राण उठे छे
हासि ते यार फुल फुटेछे रे,
—डाक दिलो ये गाने-गाने।।

दिक् हते ओइ दिगन्तरे
बोल रयेछ पात,
जन्म मरण ओरि हातेर
चलए सुतोय गाथा।
ओर हृदय गला जलेर धारा
सागर पाने आत्म हारा रे।
फिरे चल माटिर टाने ।।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

—लौट चल मिट्टी की ओर;
जो मिट्टी आंचल फैलाकर देख रही है (तेरे) मुख की ओर।
जिसकी छाती से फटकर यह प्राण (लहरा) उठा है।
जिसकी हँसी से फूल खिल पड़े हैं।
जो संगीत (के प्रत्येक तान पर) पुकार रही है।
इस छोर से उस छोर तक।
जिसकी गोद फैली हुई है, जन्म और मरण उसी के हाथ के।
अलख-सूत्र में ग्रथित हैं।
उसका हृदय ही गलकर जल की धारा बन गया है।
जो समुद्र की ओर आत्महारा होकर (दौड़ रही है)।
(ऐ भाई)
उसी मिट्टी की ओर तू लौट चल

□

हमारे संरक्षक

श्री उमाशंकर राय
निवर्त्तमान प्राचार्य

श्री केशव प्रसाद राय
वर्त्तमान प्राचार्य

शिवप्रसाद विद्यामन्दिर इण्टर कॉलेज, बक्सर

शाश्वती अन्तःसलिला

☐ कुबेरनाथ राय

[नदी प्रतीक है त्रिकालव्यापी व्यक्ति चैतन्य के प्रवाह की। इसी व्यक्ति चैतन्य के भीतर लोकचैतन्य (कलेक्टिव कांशसनेस) भी प्रतिष्ठित है, ठीक वैसे ही जैसे व्यक्तिदेह के भीतर कूटस्थ अचल विश्वसत्ता प्रकाशित है। अतः जो मेरी नदी है वह सर्वव्यापिनी भी है। और मेरा भोग, मेरा आस्वादन, वास्तव में एक प्रीतिभोज है, सारे समूह के भोग और आस्वादन से जुड़ा हुआ। यदि उस बाहर की नदी के साथ भीतर की नदी का जो वस्तुतः एक चैतन्य प्रवाह के दो रूप हैं योग-संयोग निविड़तर और अधिक अनुभव-संवेद्य हो उठे तो मेरा सम्पूर्ण जीवन ही सारी सृष्टि के लिए एक प्रीतिभोज बन जायगा। पर ऐसा होना बड़ा कठिन है। यह असाध्य साधना है। मैंने चेष्टा की है कि मेरा समस्त साहित्य इसी सर्वव्यापिनी नदी के साथ सहचर-भाव से चलता रहे। —कु०ना०रा०]

☐ प्रस्तावना

मैं उस अनामा नदी के तट पर
बार बार जाऊंगा
जहाँ जरठ काले महीरुहों की छाँह में
तह पर तह शीतल शान्ति है, सुरक्षा है
जहाँ चलती है मन्द-मन्द, पके जामुन की
गन्ध से लदी मीठी काषाय हवा
जहाँ नदी के प्रवाह की अविराम कटि-भंगिमा है
जहाँ अनवरत प्रवाहमान संकोचहीन प्रतीक्षा है
जहाँ यहाँ से वहाँ तक सर्वत्र व्याप्त है
एक अविभाजित अभुक्त काषाय क्षण का स्वाद
(मेरी प्रतीक्षा में, केवल मेरी प्रतीक्षा में !)
उसी अनामा नदी के तट पर
आज
कल
सदैव, बराबर जाऊंगा।

जहाँ घनी झमार पत्र-राशि के बीच
सरस परिपक्व गूदेदार गुच्छ के गुच्छ
लटके हैं रूप के रस के गन्ध के,
जहाँ मन चाभता है सद्य ताजे स्वादिष्ट प्राण,
जहाँ दूर अति दूर कोई दुर्विनीत शब्द
सघन वन गर्भ में टूटती शाखा सा चटखता है
फिर उधर ही कहीं, किसी गहरे गम्भीर में, डूबता-डूबता
उसी ओर कहीं अतल लीन हो जाता है
जहाँ कोई लीला हिल्लोलित शोख क्षण
क्रीडावश या लोभवश तट से आ टकराता है

और,
नरम ऊंगलियों से कठोर कगार का दृढ़ मन टटोल जाता है;
फिर, प्रवाह समर्पित हो विनीत वह जाता है
एक बार भी घूमकर देखता नहीं
चला ही जाता है विनीत और नतशीश
किसी सजल, अनन्त और व्यापक हृदय के पास ।

मैं इन शोख दुर्विनीत क्षणों की विनीत इच्छाओं का
खेल देखने आज, कल
सदैव और बार-बार
उस अनामा नदी के तट पर जाऊँगा ।

□ दृष्टि-अभिसार

वह दिवस अद्मुद् रहा, वह धूलिधूसर सांझ ।
दिन भर बेंत वन के मध्य, क्षीण कटि,
वैतसी तनु-भार, चन्दन-खौरि
साजती, अनिमेष लोचन ताकती
कोमल नरम बपु श्यामली,
एक वह कोई नदी ।

और, मैं मानस-मुकुल को भूनता
सृष्टि को निष्कर्म-सिद्धि बाँटता
काष्ठमौनी सिद्धियों का पीता रहा काषाय ।
(कटु काषाय पर ही स्वाद जल का मिष्ट होता है !)
पर वह दिवस अद्भूत रहा, वह धुलिघूसर सांझ ।

हृदय में, कण्ठ में, देह में, मन में
सर्वंभक्षी तृषा ले जब एक संध्या
बेंतवन के मध्य क्षीण कटि चंचल
वैतसी तनुभार, सांध्य चन्दन खौरि
झांकती, अनिमेष लोचन ताकती
एक वह कोई नदी तनुश्यामली।

मैंने उसे देखा,

मैंने नदी की दृष्टि को देखा,
क्षण दृष्टि वह, पर बन गयी अभिसार
पीने लगी मेरे सहज अस्तित्व को
नदी की अम्बुश्यामल दृष्टि वह !
मुझको लगा, तब, यह नदी है
प्रेयसी का भाल, अथवा दिशा-निर्देश
प्रभु की तर्जनी का, लक्ष्य है यह,
चरम परिणति है हमारी, मुक्ति है-गति है।

नयन पल्लव मुंद गये मेरे विकल विह्वल।
तो यह नदी देगी मुझे
अविराम गति की वेदना
औ' मुक्ति का सुख स्वाद !
नयन पल्लव मुंद गये मेरे
निःशब्द मैंने प्रार्थना की—
ओ नदी, तू जग; तू प्रवाहित हो
कण्ठ में, मन में, देह में सर्वत्र
अनवरत, कर मुझे तू पान, छककर,
जिससे पा सकूं मैं
अविराम गति की वेदना औ' मुक्ति का सुख स्वाद।

☐ राग

मुझ पर गुजर जाती है प्रति आधी रात
एक कोई सर्वंभक्षी नदी
अनजाने आदिम जल की अकूल
सर्वंभक्षी नदी।
मेरी शय्या के अगल बगल असंख्य

गुलाब और केतकी के दुर्गम झोंप,
असंख्य मणि-सर्पों के निवास
अनेक-अनेक पुतुल खेल, कोमल,
कूलद्रुम दृढ़ और बेपरवाह; सबको
सब कुछ को डुबाती यह सर्वग्रासी नदी
पता नहीं
आती कहाँ से और कहाँ चली जाती है।
प्रति आधीरात !
आदिम जल की सर्वभक्षी नदी !
पर ज्यों ही सुबह होती है
भास्वर वारिधार, नदी एक ज्योतिःसरा
अवतरण करती है मुझपर, नदी पवित्र पापहरा।
तब न शय्या है, न शवाधार, न संशय।
यह दृश्यावली और है, यह दर्पण अन्य है,
स्पष्ट चेहरे हैं, विराग और राग,
फिर-फिर नजरों के इशारे इत्यादि इत्यादि,
प्रेम पत्र, डांट-फटकार, ताजे समाचार
सरल आकृतियाँ, मनीआर्डर-तार
हम और यह सम्पूर्ण दृश्यावली हमारी
मलमल नदी स्नान करते हैं, प्रति प्रात
प्रसन्न मन, देहतल पोंछ पोंछ, फिर-फिर स्नान करते हैं।
प्रति सुबह नित्य जब यह उतरती है
भास्वर वारिधार, नदी पापहरा !
रात भर हा हा-रव शववाही धारा प्रवाहमान;
पर सुबह-सुबह, सब कुछ निर्मल है
झिर झिर ज्योतिर्मय, भास्वर प्रसन्न जल।
हे नदी, हे तामसी शववाही, हे भास्वर वारिधार !
तुझे शत शत नमन, तुझे बहुत बहुत प्यार।

☐ समागम

नदी यह जानी पहचानी
अन्तर्वाहिनी, आपाद मस्तक बह रही ऐसे
मानो अंगांग लिपटी हो प्रेमिका की देह।

परस्पर थरथराते हृदय दो
रक्त की वह तीव्र वेग पछाड़
आपाद मस्तक वह रही उन्माद विद्युत्धार
सुखद है यह मिथुन पीड़ा, मोहवंशी
बज रही, सुख-सर्वस्व है रतिसार
मन लिप्त-मूर्छित, रुद्ध हैं सब शेष रव,
रुक गये दिक् काल, शेष सृष्टि असार,
लोचन-स्नायुओं के मूल से उठते हुए
ब्रह्मरंध्र कपाल तक चेतना के
सुखद दंशन, 'शॉक' और प्रवाह।
सुख-सर्वस्व है, यह रति-क्रिया, एकान्त
अह, चक्षु मेरे मुँद गये मुख स्नात।
कुछ क्षण बाद
आँखें खोलता हूँ, देखता हूँ
सुन्दर धरामुख, सृष्टि सुन्दर
सुन्दर यामिनी, तारिका-शृंगार,
सुन्दर गृहों के बन्द द्वार गवाक्ष
सुन्दर चाँदनी की रात निर्जन
धरती, कुसुमिता-वनकानना
सभी सुन्दर-विशुद्ध-पवित्र।
मुझ परम दरिद्र को यह महा अनुभव दान
कर गयी जो नदी
आपाद मस्तक वह रही है जो नदी
वह नदी मेरी यार, मेरी प्रेमिका है।
नदी, तेरे भाल पर चुम्बन, तुझको बहुत सा प्यार !!

☐ महाभाव

यह नदी अन्तर्वासिनी आपाद मस्तक बह रही।
कर रही मेरा निरन्तर पान,
पी रही मुझको निरन्तर यह नदी !
वाम-दक्षिण बाहु-पग, नयन युग के मध्य
गुल्फ त्रिकुटी बीच, स्नायु मण्डल-मध्य

सींचतीं शिश्न-नाभि-ललाट
कर रही मुझको निरन्तर तृप्त,
कर रही मेरा निरन्तर पान ।

आह, यह कैसी तृषा मेरी और उसकी भूख
देह भीतर, प्राण मन के मध्य
गुरु ने, पिता ने, प्रेमिकाओं ने
जो लगाये थे सघन कान्तार
अथवा पुष्पवन
सर्प-संकुल केतकी वन
या कुसुम-संकुल झाड़-विहार-वीथी कुंज
नदी इन सब के मध्य अन्तर्धान
निरन्तर बह रही है, कर रही है तृप्त !
उनको कराती पान उनका कर रही है पान !
यह नदी चिर संगिनी !

ओ नदी मेरी प्रिया, ओ नदी मेरी द्वितीया,
नदी मेरी यार, मेरी पुनः पुनः पुनर्जन्म !
यह परस्पर-पान ही है जन्म-धारण की
खेचरी-वज्रौलिका, पाँचवा पुरुषार्थ अथवा मुक्ति !

इसी से बार बार आना है ओ नदी,
ओ अनामा, ओ नदी, तेरे तट बार-बार आना है !

☐ साधारणीकरण

नदी, तू निमंत्रण बाँट जाती है ।
नदी, तू निमंत्रण की पाती है !
मेरे मन में जटिल-वरारोह देशकाल व्यापी,
महा महीरुह सहस्र वर्ष वृद्ध,
नदी तू, उसकी निमंत्रण-पाती है ।
उसी के किसी चिरंजीवि-श्रीमान् पौत्र-प्रपौत्र की
जन्म-द्वादशी अथवा विवाह-व्रतबन्ध की
हल्दी-अभिषिक्त एक स्वतिश्री निमंत्रण पाती है
जिसे कल कल ध्वनि से तू सर्वत्र बाँट आती है,
अपने को बूंद-बूंद काट-काट सर्वत्र बाँट आती है !
नदी, स्वयं तू निमंत्रण की पाती है ।

मिलते हैं बन्धु से बन्धु गले
जाता उल्लास रव दूर के गाँव तक
हँसी की वर्षा, मुस्कान पहचान की
काका और दादा, भइया और बचवा
उमड़ा है जवार; सभी भाई हैं
सभी परस्पर दृढ़ दाहिनी बाँह हैं।
('भइया रे बिराना, तब भी दहिन बाँह !')
षट रस स्वाद की बहार, दही-शक्कर।
कुल्हड़ पर कुल्हड़, पात्र पर पात्र
'वाह भाई वाह', 'दो, इन्हें और दो',
'लो भाई, लो' 'वाह भाई, वाह !
जुड़ता है प्रीतिभोज गाँव में
वीरोचित रोमांचक पंक्तिभोज
पाँत हुँकड़ती है, खाती है, तृप्त डकारती है,
षट रस की होती है वर्षा, बजती है
अह, सुख और तृप्ति की बाँसुरी।

वह जो मेरे संस्कारों में हजार वर्ष व्यापी
महामहीरुह है वही इस समूचे ग्राम के
हजार हजार वर्षों के स्थावर संस्कारों का
'उर्ध्वमूलं अधोशाखा' विग्रह है,
उस वृद्ध महीरुह में नये मुकुल लगते हैं
वृद्ध तरु-जटाजूट लहलहा उठता है
आनन्द इसके पत्ते हैं, तृप्ति है फूल
और प्राण हैं लाल लाल गोंदे,
मधुर और रसाल।
(दो सुपर्ण इसकी डाल पर बैठे हैं !
एक है दर्शक उपवासी और अन्य
सरसफल का भोक्ता है।)
नदी तू स्वयं ही
मेरे मन में अतिष्ड महावृद्ध
उध्वंमूल-अधोशाखा पीपल की
हल्दी-अभिषिक्त निमंत्रण-पाती है !

ओ नदी, तू इस बार जाकर जन जन से
वे जन-जन ज़ो मेरे ही अस्तित्व के
विभिन्न टुकड़े हैं, जयमल-शुकदेव से
जितेन्द्र से, मंगला से, रामसागर से
शोभा से, एब्राहम और अजीज से—
सबसे जन-जन से जाकर कहना तुम :
'स्वति श्री सर्व उपमा योग्य बड़े को
प्रणाम और छोटों को हार्दिक आशीष'.
ओ जन्मान्तर-सहगामिनी चेतन अस्तित्व की,
अस्मिता की, त्रिकाल व्यापी व्यक्तिचित्त की,
साथ ही मेरे, अपने, निजी लोकचित्त की नदी !
ओ, नदी, ओ जन्मान्तर-प्रवाह,
तू स्वयं में एक निमंत्रण की पाती है
अविच्छिन्न प्रीतिभोज की निमंत्रण पाती है।

☐ उपसंहार

दूर कहीं दूर, कहीं पर, किसी दिन,
किसी एक दिन जुड़ता है पर्व संक्रान्ति का
जुटती है भारी भीड़—झारी-कमण्डलु,
दूब और अक्षत, दीप और पार्थिव
तट पर बिखरे हैं या प्रवाह को अर्पित हैं।
'ओरी मुन्नी, गहरे में मत जा'
'ओ टंकू, जल में दंगा नहीं करते हैं।'
'वाह री भाभी, पीती हो डूब-डूब,
कहाँ ऐसा सीखा धार में सन्तार काटना ?'
(भाभी की देह गोरी मछली है यार !
भाभी नदी कन्या है, गुदाज और स्वादिष्ट !)
'सब्र करो न बैशाख तो आता ही है !'
(ओह हल्दी और लग्न का माधवमास !),
'भाभी तेरा मुँह है अनूपम वाटिका
फूल जो झड़ते हैं मौसम-बेमौसम'
(मन कहता है : देह है अनूपम वाटिका !)

—इधर इस प्रकार सस्वाद चलते हैं, उधर उस ओर
भीगे वस्त्र, कम्पित गात सूर्योन्मुख कोई
अंजलि समर्पित कर रही, नयन मूंद;
विगलित करुणा चेहरे पर झलक गयी;
फिर कुछ पुष्प दल गिरे नदी की धार में ।
मैं देखता हूँ उस पार से प्रवाहिता
आ रहीं फूलों की पाँत पर पाँत
सार्थक है श्रम-जल सरयूदास का
धन्य हैं उनका फूल वन, उनकी कुटी
और धन्य है यह गंगातट, गायों के ढोर
अरहर के झाड़, वन तुलसी के झोंप
खट्टी झड़बेरी के जंगल भी धन्य हैं,
शूकर, चित्रमृग, साँप और शृगाल
दौड़ते हिरन और कूजते चक्रवाक
ढेकीं की पाँत और सारस की वलाका ।
धन्य है बाबा सरयूदास का परिवार ।
दिन में, बाबा सरयूदास मधुकरी
माँग खाते हैं और फूल उगाते हैं
रात को श्वापदों के बीच किसी अन्तर की
अनामा नदी को 'योगवाशिष्ट' के
श्लोक बोल बोल कर सुलाते हैं
देते हैं श्लोकों की थपकी; कहते हैं;
'नदी, अब तू बसकर अब तू मत रो,
ओ मेरी रानी, ओ मेरी फल्गु, सो जा !'
नदी, अब तू सो जा !'
तो भाई मेरे, जान ले तू भी असल बात
एक ही वह नदी है जो बहती सर्वत्र
मुन्नी में, टंकू में, भाभी में, दादी में
मुझ में और तुझ में वही है जो
बाबा सरयूदास में फल्गु बन जाती है,
हाँ, हाँ, वही एक ही सर्वव्यापी अन्तःसलिला है
अरे वही है बुद्ध की निर्मल निरञ्जना भी ।

वही बाहर और भीतर, सर्वत्र, सबको
परस्पर जोड़ती है, परस्पर बाँटती है,
वही भगवती सुरेश्वरी भागीरथी बनती है
और तट पर संक्रान्ति पर्व जुड़ता है ।
पर जन जन के भीतर भिन्न नाम, भिन्न रूप,
निर्मल निरञ्जना या मरुस्रोता फल्गु
अनामिका यमुना या लुप्तस्रोत सरस्वती
या और कुछ बनती है, पर नदी है
एक, अखण्ड, व्यक्ति के सामूहिक चित्त की ।

पात्र-पात्र में सिमट कर भिन्न भिन्न
नाम रूप लेती है, जन्म प्रति जन्म
हमारी व्यक्ति-सत्ता की अस्मिता की
वाहिका बनी हुई आमरण साथ चलती है
अतीत और अनागत के जन्मों का
गर्भ बीज धारण किए हुए यह नदी
जन्म प्रति जन्म नख शिख बहती है
इसी से कहता हूँ, नदी, तुम मेरी द्वितीया स्वयं ।

नदी, तुम वान्धवी, प्रेमिका, माता
नदी, तुम देवता,
तुम्हें बार बार नमन
तुम्हें बहुत बहुत प्यार !

□

वैदिक सूक्तों में गाथा

—राम इकबाल सिंह 'राकेश'

हमारी लोक-संस्कृति का केन्द्र-बिन्दु गौ है। वस्तुतः गो-जाति ने कई दृष्टियों से लोक-जीवन को उन्नत, समृद्ध और सुसंस्कृत किया है। अथर्ववेद (३/१०/१) से ज्ञात होता है कि देवयुग के प्रारम्भ में जिस दिन पहली उषा की वेला उदय को प्राप्त हुई, लोक-वन्धु ने दिगदिगन्त को आरञ्जित किया: उसी दिन नियम में रहनेवाली गौ प्रकट हुई। इस तरह युगों और कल्पों को लांघकर चली आ रही गो-जाति की कहानी विशाल या विराट लोक-लोक जीवन के लिये स्वर्गीय ज्योति के समान सदा एक विलक्षण सत्य रही है, और रहेगी।

यजुर्वेद, अध्याय २३ के ४६ वें मंत्र में एक प्रश्न है—'संसार में किसके समान कोई वस्तु नहीं है?' 'कस्य मात्रा न विद्यते?' इसका उत्तर यजुर्वेद, अ० २३ के ४८ वें मंत्र में दिया गया है--'संसार में गौ के समान कोई वस्तु नहीं है।' वैदिक वाङ्मय के दो-चार नहीं, शतशः मंत्रों में जिस गो-जाति की महिमा इस प्रकार गायी गयी है, उसी को गाथाओं का भी आधार या आदि कारण माना गया है। अथर्ववेद (काण्ड १०; सूक्त १०, मंत्र २०) में गौ के मुख से गाथाओं के उत्पन्न होने का ध्वनितार्थ यह समझना चाहिए कि वैदिक काल में उनका अत्यन्त व्यापक महत्त्व था।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का ८५ वाँ सूक्त 'सूर्या-सूक्त' के नाम से प्रसिद्ध है। इनका अध्ययन करने से मानव-जीवन के महत्त्वपूर्ण संस्कार वैवाहिक सम्बन्ध के अतीतकालीन इतिहास की एक झलक मिलती है। यद्यपि अधिकांश वेदभाष्यकारों ने सूर्या-सूक्त के वैवाहिक प्रसंग को विशिष्ट प्राकृतिक घटना का एक आलंकारिक रूपक माना है, तथापि आचार्य सायण ने प्रस्तुत सूक्त के एकाधिक मंत्रों का स्पष्ट रूप से इतिहास के प्रचलित अर्थ में भी व्याख्यान किया है। सूर्या-सूक्त में निर्दिष्ट विवाह-सम्वन्धी प्रागैतिहासिक दृष्टिकोण को ही पारस्कर गृह्य सूत्र काण्ड १, कण्डिका ३-८ में ग्रहण किया गया है। हिन्दू-समाज में परिवार को जन्म देनेवाली विवाह की प्रथा, वैदिक काल से अर्वाचीन काल तक, प्रायः एक ही रूप में चलती आ रही है।

ऋग्वेद (१०/८५/६) के आलंकारिक सूर्या-सूक्त में आदिवधू सूर्या के साथ रैभी सहचारिणी केरूप में जाती है, नाराशूंसी पथप्रदर्शिका बनकर उसको

पति-गृह ले जाती है, और 'गाथा' सुन्दर रीति से उसको विभूषित करती है। ऋग्वेद के इस मंत्र से प्रमाणित होता है कि विवाह के उपरान्त सेविका के रूप में नववधू के साथ ससुराल में भेजी जाने वाली दासी के लिये 'न्योचनी' शब्द व्यवहृत होता था। वर्त्तमान विदेह जनपद में ऋग्वैदिक शब्द 'न्योचनी' के लिये 'लोकनी' शब्द प्रयुक्त होता है। मिथिला में आज भी विवाह-काल में 'रुक्मिणी सम्मरि', 'उषा सम्मरि' और 'सीता सम्मरि' की लोक गाथायें गायी जाती हैं। यजुर्वेदीय विवाह-पद्धति के अनुसार विवाह-संस्कार में सप्तपदी के पहले लाजा-होम-अंगुष्ठ-ग्रहण, अश्मारोहण, गाथा-गायन और अग्निप्रदक्षिणा—इन पाँच मांगलिक कर्मों को करने का विधान है। विवाहकाल में अश्मारोहण कर्म के उपरान्त जब वधू अपना दाहिना चरण पत्थर पर रखती है, तो वर निम्नलिखित मंत्रों का पाठ करता है—

'ओऽम् सरस्वति प्रेदमव सुभगो वाजिनीवती,
यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः।
यस्या भूतं समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्,
तामव्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः।

महाभाग्यशीला नारी जो भूत और भविष्य की जननी है और जिस उत्तम यश की पात्री है, उस कीर्तिगाथा का हम आज गायन करते हैं।

राघवेन्द्रे यथा सीता विनता कश्यपे यथा,
पावके च यथा स्वाहा तथा त्वं मयि भर्तरि।

जो सम्बन्ध सीता का राम से, विनता का कश्यप से और स्वाहा का पावक से है, तू वही सम्बन्ध मुझसे जोड़े रहना।

अनिरुद्धे यथैवोषा दमयन्ती नले यथा,
अरुन्धती वशिष्ठे च तथा त्वं मयि भर्त्तरि।

जैसे उषा अनिरुद्ध में, दमयन्ती नल में और अरुन्धती वशिष्ठ में प्रेम या भक्ति-भाव रखती हैं, उसी प्रकार तुम भी मुझमें अनुरक्त रहना।

सुदक्षिणा दिलीपे तु वसुदेवे च देवकी
लोपामुद्रा यथागस्त्ये तथा त्वं मयि भर्त्तरि।

जैसे सुदक्षिणा दिलीप में, देवकी वसुदेव में और लोपामुद्रा अगस्त्य में प्रेम रखती है, उसी प्रकार तुम भी मुझमें अनुरक्त रहना।

शन्तनौ च यथा गंगा सुभद्रा च यथार्जुने
धृतराष्ट्रे च गान्धारी तथा त्वं मयि भर्त्तरि।

जिस प्रकार गंगा शन्तनु में, सुभद्रा अर्जुन में अर गान्धारी धृतराष्ट्र में प्रेम रखती हैं, उसी प्रकार तुम भी मुझमें अनुरक्त रहना।

अत्रौ यथानुसूया च जमदग्नौ च रेणुका,
श्रीकृष्णे रूक्मिणी यद्वत्तथा त्वं मयि भर्त्तरि

जिस प्रकार अनुसूया अत्रि में, रेणुका जमदग्नि में और रुक्मिणी श्रीकृष्ण में प्रेम रखती हैं उसी प्रकार तुम भी मुझमें अनुरक्त रहना।

जानकी च यथा रामे ऊर्मिला लक्ष्मणे यथा,
कुशे कुमुद्वती यद्वत्तथा त्वं मयि भर्त्तरि।

जिस प्रकार जानकी राम में, ऊर्मिला लक्ष्मण में और कुमुद्वती कुश में भक्तिभाव रखती हैं, उसी प्रकार तुम भी मुझमें अनुरक्त रहना।

भारत के प्रज्ञावान मनीषियों ने दृष्टिकोण की विविधता के अनुसार एक ही वेद-मंत्र का अनेक प्रकार से बखान किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का कथन है कि वेदों में न तो पूरी गाथायें ही मिलती हैं, न इतिहास की घटनाओं का उल्लेख ही। यत्र-तत्र कुछ ऐतिहासिक शब्द मिल जाते हैं। उनकी व्याख्या करने के लिये लोगों ने गाथायें गढ़ डालीं, जैसे शुनःशेष की गाथा, सुदास, नहुष और उर्वशी-पुरुरवा अथवा वामनावतार की गाथा। पहले गाथा की कल्पना कर लेना, फिर उसके आधार पर वेद-मंत्रों की व्याख्या करना, यह अर्थ करना नहीं, अनर्थ करना है। प्रस्तुत प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण (११/१/६/१०) का यह वक्तव्य भी विचारणीय है— इतिहासों और आख्यानों में देवासुर-संग्राम की कथाओं का जो उल्लेख मिलता है, वह सत्य नहीं है।' भारतीय मेधाशक्ति ने चिन्तन करने की प्रणाली इतनी लचीली बना रखी है कि उसमें विचारों की बहुविधता का पल्लवित होना स्वाभाविक है।

यदि हम आचार्य सायण, उव्वट और महीधर जैसे मध्यकालीन वेद-व्याख्याकारों की भाष्य-प्रणाली को प्रामाणिक मानकर विचार करें, तो वैदिक गाथाओं में देव और मानव-जाति का भी प्रशस्ति-विस्तार मिलता है। ऋग्वेद की दान-स्तुतियों के विवरण के आधार पर पौराणिक वेदभाष्यकारों की मान्यता है कि ऋग्वैदिक काल के ऋषियों ने आसंग (ऋग्वेद ८ | १ | ३३), विभिन्दु (ऋग्वेद ८ | २ | ४१) कुरूङ्ग (ऋग्वेद ८ | ४ | १९), त्रसदस्यु (ऋग्वेद ८ | १०), प्रस्कण्व (ऋग्वेद ८ | ५५), पृथुश्रवा (ऋग्वेद ८ | ४६) आदि दानदाता नृपतियों से धन प्राप्त कर वैदिक गाथाओं में उनका कीर्तिमान स्थापित किया है। यास्क का निरुक्त देखने से पता चलता है कि प्राचीन काल में वेद-मंत्रों के ऐतिहासिक भाष्यकार भी

अवश्य थे ।[1] ऋग्वेद ७ | ३६ | ३ और ७ | ८३ | ७ में दशराज्ञ-युद्ध का उल्लेख मिलता है । रंगोजिन का कथन है कि दाशराज्ञ-युद्ध अनार्य भारतीयों पर विदेशी आर्यों का अभिमान था । पण्डित चिन्तामणि विनायक वैद्य का मन्तव्य है कि दाशराज्ञ-युद्ध आक्रमणकारी विदेशी आर्यों के साथ आक्रान्त भारतीय आर्यों का युद्ध था । पौराणिक भाष्यकारों के अनुसार जल का देवता वरुण था । इन्द्र युद्ध का शक्तिशाली देवता था जो पर्वतों की कन्दराओं को विदीर्ण कर जलधाराओं को मुक्त करता था । रूद्र गर्जना करनेवाला तूफान का देवता और मरुतों का पिता था ।[2] वेदान्तर्गत पुरुषसूक्त में तीनों लोकों को नापने के लिये वामन रूपी विष्णु के त्रिविक्रम की विराट् कल्पना भारतीय गाथाशास्त्र की उल्लेखनीय विशेषता है । वैदिक वाङ्मय में ऐसे कितने ही प्रसंगों को देखा जा सकता है ।

कई वेदभाष्यकारों ने ऋग्वेद १ | १३ | ३ और १ | १८ | ९ में उल्लिखित 'नाराशंस' शब्द पर आर्ष निर्वचन पद्धति से विचार करते हुए अग्नि तथा यज्ञ को परमात्मा का प्रतीक मान कर उसका अग्नि और यज्ञपरक अर्थ किया है । प्राचीन नैरुक्तों के अनुसार अनादिष्ट देवता से सम्बन्धित वेद-मंत्र नाराशंस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं । याज्ञिकों के अनुसार जिस वेद-मंत्र का देवता निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, उस मंत्र का जिस देवता-विशेष के यज्ञ में प्रयोग होता है, वही उसका देवता अर्थात् प्रतिपादनीय विषय है । और जिन वेद-मंत्रों का किसी भी यज्ञ में प्रयोग नहीं होता, उनका देवता प्रजापति है ।[3] नैरुक्तों ने अनादिष्ट देवताविषयक मंत्रों को नाराशंस-श्रेणी की सीमा में निबद्ध किया है, जिनका देवता

---

[1] The vedas contain history or myths which the Brahmanas explain at length. There must have been a school of historical or mythological interpreters (ऐतिहासिक) who interpreted RKS accordiug to the history or myths contained in them.
Introduction, Yaska's Nirukta, Volume I, V. K. Rajavade.

[2] Rudra was the howling terrible god, the god of storms, the father of the Maruts. Prof. John Deussen.
Classical Dictionary of Hindu Mythology, page 289

[3] तत् ये अनादिष्ट देवताः मंत्राः तेषुदेवतोपपरीक्षा, यद्वेतः भ यज्ञो वा यज्ञाङ्ग वा तद्देवताः भवन्ति । अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्याः इति याज्ञिकाः—निरुक्त, अ० ७ | ५

मनुष्य नहीं था। प्रस्तुत प्रसंग में आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव ने लिखा है—'अनादिष्ट देवता के मंत्रों के सम्बन्ध में नैरुक्तों का मत है कि वे मंत्र नाराशंस हैं। नाराशंस के विविध अर्थ किये गये हैं। एक अर्थ है—नरों की स्तुति जिनमें की गई हो, वे मंत्र, किन्तु इस स्थल पर यह अर्थ नहीं लग सकता। क्योंकि यदि अमुक मनुष्य की स्तुति की गई हो, तो वहाँ उस मनुष्य को मंत्र का देवता मान लिया जायेगा जिसका यश में कोई प्रयोजन नहीं। इस कारण टीकाकारों ने इस अर्थ को नापसन्द किया है, परन्तु मनुष्य-मात्र के विराट स्वरूप को जाति के अर्थ में 'नर' या 'नार' कहें तो नाराशंस का अर्थ अनुष्य जाति. मनुष्य-समष्टि की पूजा इस मत में विवक्षित है। यह कल्पना हो सकती है तथा ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के अनुसार यह अर्थ करना अनुचित भी नहीं है।[1]

यास्कप्रणीत निरुक्त के सम्पादक का कथन है कि 'नाराशंस' किसी देवता का नाम नहीं है। यह ऋक् का एक प्रकार है, जिसमें वीर पुरुषों के कृत्यों का उल्लेख मिलता है।[2] आचार्य रामदेवजी का मन्तव्य है कि वेदों में जिन धर्मों का उपदेश है उन्हें जानकर कौन मनुष्य उत्तम बना और धर्मविरुद्ध आचरण करने से कौन दुखी हुआ ब्राह्मणों के इस वर्णन को नाराशंसी कहते हैं। नाराशंसी में कतिपय मनुष्यों की संक्षिप्त जीवनी भी है।[3] वर्त्तमान प्रसंग में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का यह निश्चित मत भी उल्लेखनीय है—'अथर्ववेद में इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी इन चार शब्दों का प्रयोग मिलता है। इनमें गाथा का प्रयोग ऋग्वेद में भी है और उसका अर्थ छन्दोवद्ध स्तुति है। वही अर्थ ब्राह्मण और सूत्र साहित्य में भी प्रचलित है। नाराशंसी उन संक्षिप्त छन्दबद्ध रचनाओं के लिये प्रयुक्त होता था, जिनमें किसी प्रख्यात राजा का कीर्त्तिगान किया जाता था।[4]

---

१. वेद, वेदार्थ और वैदिक देवता आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव गंगा, वेदाङ्क, जनवरी १९३२ ई०

२. नाराशंस is not the name of any deity, it is the name of RK that describes the deeds of human heroes.
Yaska's Nirukta, Volume 1, Page 200 Editated by V. K. Rajavade

३. भारतवर्ष का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ५६, तृतीयावृत्ति, आचार्य रामदेव, गुरुकुल विश्वविद्यालय, काँगड़ी

४. लोक-कथायें और उनका संग्रह-कार्य डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल आजकल, लोक-कथा-अंक, मई १९५४ ई०

★

साहित्य में जनपद और देश

—डॉ० विद्या विन्दु सिंह

देश की एक व्यापक कल्पना होती है जो राजनीतिक विभाजनों से ऊपर होती है। यही कल्पना देश को, तथा देश के निवासियों को एक दिशा देती है। इसमें देश की भौगोलिक एकता या परस्पर सम्बद्धता की बात अधिक महत्त्व रखती है। यह परस्पर सम्बद्धता देश की भौतिक संस्कृति और आध्यात्मिक संस्कृति के बीच होती है तथा देशव्यापी और प्रदेशव्यापी संस्कृति के बीच होती है। इसी कारण प्रादेशिक संस्कृति के गुण उसके समग्र रूप के घटक होते हैं।

जनपदीय और देश की संस्कृति परस्पर पूरक होती है, परस्पर विरोधी नहीं होती।

जिसे हम जनपदीय साहित्य कहते हैं उसमें स्थानीय रंग की अलग-अलग छटा होते हुए भी भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही स्तरों पर कुछ ऐसी समानताएँ मिलती हैं, जिनपर ध्यान दिया जाय तो दिखेगा कि जनपद देश का पोषक ही है विरोधी नहीं।

जनपदीय लोक साहित्य की भावात्मक समाहित्व देखने पर उनकी व्यापकता की थाह मिलती है। उसके माध्यम से भारत की एक अखण्ड संस्कृति का विश्वास मिलता है। उदाहरण के लिए माता के गीत सारे भारतवर्ष में एक-से हैं। स्थल-स्थल पर विभिन्न नाम हैं पर सर्वत्र एक समानता है आस्था में, विश्वास में। दूसरी समानता इस बात में है कि सर्वत्र माता के गीत फूलों में, पत्ती-फूलों से लदी डालियों में, माता को झुलाकर गाये जाते हैं। सर्वत्र इन गीतों में कोमलता और कठोरता दोनों हैं। माता को उलाहना देकर अपना अत्यन्त आत्मीय समझने का भाव भी सर्वत्र है। मिट्टी के हाथी, घोड़े, प्याले सभी जगह देवी थानों में चढ़ाये जाने का वर्णन हुआ है।

प्रश्न उठता है जनपद और देश क्यों एक दूसरे के विरोधी दिखने लगे हैं, वैसे दोनों को एक दूसरे से कोई खतरा नहीं है? केवल इतनी ही बात नहीं दोनों एक दूसरे के बिना जी ही नहीं सकते।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है जनपदीय साहित्यों में अलग-अलग रंग होते हुए भी कुछ ऐसे प्रतीक, अभिप्राय, मुहावरे, संवेदन होते हैं जो देशव्यापी तो होते ही हैं कभी-कभी विश्वव्यापी भी होते हैं। इसलिए यदि देश की एकता की अवधारणा करनी हो तो जनपदीय साहित्य का अध्ययन उसमें बहुत सहायक हो सकता है। पर यह अध्ययन एक जनपद तक सीमित नहीं होना चाहिए। एक जनपद तक लगाव है। स्वाभाविक है पर जब लगाव अन्धा आग्रह बन जाता है तब जनपदीय साहित्य का मूल स्वर खो जाता है।

जनपदीय साहित्य में गहरी मानवीय चेतना है जो व्यापक देश की चेतना है और एक व्यापक मनुष्य की चेतना हमारे देश में इसलिए प्रवाहित होती रही है

कि हमारा देश शास्त्रीय आचार को लोकाचार से जोड़ने की कोशिश करता रहा। स्वयं हमारे शास्त्र भी इसका विधान करते रहे हैं कि कहीं भी किसी अनुष्ठान के बारे में संदेह हो तो बड़े बूढ़ों से पूछ लो, लोकाचार का कभी भी निरादर न करो। क्यों कि लोकाचार एक दीर्घकालीन अवचेतन में रहने वाला संस्कार है। वह संस्कार मनुष्य को बराबर यह बोध कराता रहता है कि तुम्हारी जड़ बहुत गहरी है और उससे रस लेकर तुम्हें ऊँचे उठना है। इसलिए जब हम मुख्य धारा की बात करें तो हम उसकी सही कसौटी यहीं मानें के वही धारा मुख्य हो जिसमें उपधाराओं को अपने साथ ले चलने की शक्ति हो।

जब हम कबीर, जायसी, सूर, तुलसी के साहित्य को मुख्य धारा कहते हैं तो इसीलिए कि वह लोकजीवन से जुड़ी है। जायसी ने षड्ऋतु की साहित्यिक परंपरा को छोड़ कर लोक परंपरा के बारामासा का वर्णन किया जिसमें एक महारानी के वियोग का वर्णन होते हुए भी पूरी परिस्थिति साधारण नारी की चित्रित है।

आधुनिक साहित्य में वह भाव लोग ले नहीं पाते, जो लेते भी हैं वह एक सजावट के रूप में, इसीलिए वह मन पर सीधा प्रभाव नहीं डालता बल्कि पैबन्द-सा लगता है।

इस बात पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है कि हमारे भारतीय साहित्य के इतिहास में लोक और शास्त्र का परस्पर विनिमय होता रहा है। और इसी विनिमय के कारण ही पहले यह दूरी नहीं थी! तुलसी ने लोक के छंद अपनाये। उनके 'जानकी मंगल', 'पार्वती मंगल' तथा लोक गीतों में विभाजक रेखा नहीं मिलती। आज के साहित्य में और लोक साहित्य में यह विभाजक रेखा स्पष्ट है। इसीलिए लोक साहित्य अलग संग्रह की वस्तु हो गयी है और आदान-प्रदान की जो व्यापक संभावना थी वह कम हो गयी है। तभी यह भेद-भाव का प्रश्न अधिक उठ रहा है। भेद होने पर आदान-प्रदान स्वयं ही कम हो जाता है। साहित्य की विकास यात्रा साक्षी है कि शास्त्रीय तथा मार्गी और देशी परंपरा का आदान-प्रदान सदैव से होता रहा है। शास्त्रीय रागों पर बहुत-सी लोक धुनों का प्रभाव है, इसी प्रकार लोक गीतों पर शास्त्रीय प्रभाव से सुगठन आया है। चित्रकला में भी लोक मोटिव बहुत ही सशक्त तथा तीखे हैं। आज लोक से साहित्य, संगीत और कला में जो कुछ भी ग्रहण किया जा रहा है, इस स्वीकृति के पीछे बहुत कुछ तो आवश्यकता का हाथ है मौलिकता लाने के लिए। कहीं-कहीं फैशन के रूप में भी यह ग्रहण किया जा रहा है। जैसे-जैसे यह आदान-प्रदान कम हुआ वैसे-वैसे शहरी संस्कृति और देहात की संस्कृति में दूरी बढ़ती गयी, परस्पर अविश्वास बढ़ता गया। गांव का आदमी पहले अपने को हीन नहीं समझता था किंतु अब उसमें हीनता की भावना आने लगी है। इस दूरी को यदि पाटना है, परस्पर विश्वास पैदा करना है तो शास्त्र और लोक को निकट से निकटतर लाना होगा।

लोक की भावात्मक एकता की जो सहज दृष्टि है, उसका व्यापक प्रभाव ही आज बिखरी हुई संस्कृति को एक करने में सहायक हो सकता है।

★

लोकभाषा : हिन्दी की प्राण-रसधारा

—डॉ० राजेन्द्र रंजन

वेदों की भाषा तो ब्रह्मा की वाणी मानी जाती थी फिर भी महात्मा बु और तीर्थंकर महावीर पाली और प्राकृत में बोले।

गोस्वामी तुलसीदास देवभाषा के प्रकांड पंडित थे। संपूर्व रामचरित मान संस्कृत में लिख कर वे अधिकार के साथ कह सकते थे कि राम को जानने की पहल शर्त है कि आप संस्कृत को जान लें। किंतु नहीं; वे अपने राम को शवरी के घर जाना चाहते थे, अपने राम को वे उस धरातल पर निहारना चाहते थे, जहाँ ना चलाने वाला भी यह कह पा रहा है कि—

एहि घाट ते थोरिक दूर अहै
कटि लौं जल थाह दिखाइहौं जू।

यही कारण है कि काशी के पंडितों का कोपभाजन वनकर भी उन्होंने अप कृतियाँ ब्रजी और अवधी में लिखीं।

जिस सम्राट अशोक का चिह्न आज हमारी राष्ट्रमुद्रा पर अंकित है उस जनता का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए जनता की ठेठ भाषा का सहारा लिया था कौन सोच सकता था कि सम्राट के शिलालेखों के लिए वह भाषा उपयुक्त समझ जायेगी ? चकराता तहसील में यमुना और तमसा के संगम पर स्थित कालसी गाँ में हिमालय के एक शिलाखंड पर ये शब्द खुदे हुए हैं—

जानपदसा च जनसा धमंनुसथि च धम पलिपुछा च।

विद्यापति ने 'देसिल वयना' को 'सव जन मिट्ठा' कहा था। भक्तिमार्ग आचार्य महाप्रभु वल्लभ ने ब्रजी को पुरुषोत्तम-भाषा की संज्ञा से महिमामंडित कर उसे पुष्टिमार्ग की भाषा वनाया।

आधुनिक हिन्दी के युग प्रवर्तक भारतेन्दु ने 'कवि वचन सुधा' में यह अपी निकाली—"मैंने यह बात सोची है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें वनें अ गाँव-गाँव में साधारण लोगों तक पहुँचाई जाँय। यह तो सभी जानते हैं कि गाँव गीत जितना शीघ्र फैलते हैं; काव्य को संगीत द्वारा सुन कर जितना प्रभाव होता उतना साधारण शिक्षा से नहीं हो सकता है। ये गीत बहुत छोटे-छोटे छंदों साधारण भाषा में वनें वरन् गमारी भाषा में, स्त्रियों की भाषा में वनें।"

भारतेंदु हरिश्चन्द्र हिन्दी और लोक भाषाओं के पारस्परिक संवंध के विषय निर्भ्रान्त थे। वे जानते थे कि जनता के सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक विक के लिये जनता की भाषाओं के विकास की अनिवार्य आवश्यकता है "निज भा उन्नति अहै सव उन्नति को मूल।"

हिन्दी की विस्तृत संत-परंपरा के उदाहरण को देख कर ही डॉ० भगवतशरण उपाध्याय ने निष्कर्ष निकाला है कि 'जब-जब सत्यशील संन्यस्तों ने अपने संदेश जनता को सुनाने चाहे तब-तब उन्हें प्राकृत का ही सहारा लेना पड़ा।' वे कहते हैं कि 'जहाँ खड़ी बोली में सत्साहित्य का सृजन इतना हो रहा है, वहाँ उन प्राकृतों को भी सजाने की आवश्यकता है। यदि जन-जन तक संदेशों के क्रम को पहुँचाना है तो अवश्य उन्हीं प्राकृतों—अवधी, भोजपुरी, बैसवाडी, ब्रजी आदि—की शरण लेनी होगी। इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं हिन्दी के बड़प्पन की नींव अवधी और ब्रजभाषा के जायसी, तुलसी, और सूर हैं।'

बुन्देलखंडी कवियों के बीच दिनांक २८ जनवरी ४५ को डॉ० रामविलास शर्मा ने कहा था कि 'जो कवि बुंदेलखंडी में कवितायें लिख कर इस प्रदेश की साधारण जनता में जाग्रति फैलाता है, राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए उन्हें सचेत करता है, अपने अधिकार पाने के लिए अग्रसर करता है वह राष्ट्र का सच्चा सेवक है। आपकी राष्ट्रीयता इस बात से साबित नहीं होगी कि आप रायबहादुरों की प्रशंसा में हिन्दी में कविता लिख रहे हैं या उर्दू में वरन् इससे प्रकट होगी कि आप जनसाधारण की उन्नति के लिये उनसे क्या कह रहे हैं? फिर यदि आप उन किसानों से जो अपने जीवन के अधिकांश क्षणों में बुन्देलखंडी का ही प्रयोग करते हैं; जो आपको प्रसन्न करने के लिए साफ हिंदी बोलते हैं तो आपको हँसी आ जाती है; यदि उन किसानों के लिए आप उन्हीं की बोली में कुछ साहित्य लिखते हैं तो यह ऐसा काम नहीं है जिसके लिए आपकी गर्दन नीची करनी पड़े।'

निश्चित ही राष्ट्रभाषा हिन्दी देश की सभी प्रान्तीय और जनपदीय भाषाओं की रानी है परन्तु रानी का गौरव इस बात में नहीं है कि वह प्रजा की नारियों को मार डाले वरन् इस बात में है कि वह उनका संवर्द्धन करे। जनपदीय भाषाओं के प्रति राष्ट्रभाषा का दायित्व इसी प्रकार का है।

जो लोग समझते हैं कि जनपदीय भाषाएँ क्रमशः मर जायेंगी; हो सकता है वे भ्रम में हों। भाषा की जिन्दगी इस बात पर निर्भर है कि उसका जनजीवन से कितना गाढ़ा संपर्क है!

अपनी भाषा को आम जनता की समझ से दूर रख कर अपने आभिजात्य, सत्ता और प्रभाव को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति इतिहास में कई रूपों में दीखती है किन्तु इस प्रवृत्ति से भाषा आम जनता से दूर और दुरुह बन कर मुट्ठी भर विद्वानों के हाथों में ही कैद होती गयी है। वैयाकरणों ने प्राकृतों को कई बार संस्कृत किया किन्तु क्या वे संस्कृत बन कर रह पाईं? वे तो बाँधों को तोड़कर जनता के बीच बहीं और फिर प्राकृत बन गयीं। वास्तव में भाषाओं का विकास साधारण जनता की जिंदगी में होता है; विशेषज्ञों के सुविधा-संपन्न कार्यालयों में तो उनका दम घुटता है।

श्री राम नरेश त्रिपाठी ने बताया था कि हिन्दी के आदि जन्मदाता गाँव वाले है । ऐसी स्थिति में लोकभाषाओं को गमारु समझकर उनसे परहेज रखना अथवा उन्हें हिन्दी की प्रतिद्वंद्विनी समझना वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं है । क्या अवधी, मैथिली, भोजपुरी, मालवी और ब्रजी हिन्दी से भिन्न हैं ? क्या उन जनपदीय भाषाओं के लाखों कहावत-मुहावरे, धातु, प्रत्यय और शब्दों की अक्षय संपदा हिन्दी की संपदा नहीं है ? क्या उनका साहित्य हिन्दी का साहित्य नहीं है ? वास्तव में, जनपदीय भाषाएँ हिन्दी की प्राण रसधाराएँ है और उनके विस्तार में हिन्दी का विस्तार है ।

मैथिली, मगही, भोजपुरी, अवधी, वघेली, छत्तीसगढ़ी, बुंदेली, ब्रज, कनउजी, राजस्थानी, मालवी, कौरवी, डोगरी, काँगड़ी, गढवाली, कमाउनी आदि के लोक साहित्य का इतिहास काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (संपादक: महापंडित राहुल सांकृत्यायन) का अंग वन चुका है और वह दिन दूर नहीं जव आकाशवाणी के रीजनल केन्द्रों पर विविध विधाओं में और अंगभारती, बज्जिभारती, बुन्देल-भारती, मधुकर, विन्ध्यवाणी, गढ़गौरव, परम्परा, विहान, लोकवार्ता, अँजोर, राजस्थान भारती, मरुभारती, मरुश्री, अचल, ब्रजभारती, जनपद, वीणा, लोककला, वरदा और अन्य भोजपुरी पत्रिकाओं आदि जनपदीय भाषाओं में प्रकाशित साहित्य द्वारा रेखांकित विराट राष्ट्रभाषा हिन्दी का नवीन इतिहास लिखा जायेगा ।

ब्रजभाषा को हिन्दी के स्थान पर विठलाया जाय अथवा ब्रजभाषा में सरकारी कामकाज किया जाय जैसी हास्यास्पद बातें कह कर क्या कोई भी व्यक्ति उपहास का पात्र बनना चाहेगा ? किन्तु यह सवाल मैं जरूर रखना चाहता हूँ कि क्या आप यह जरूरी नहीं समझते कि पाली गाँव का कलुआ धोबी सदायन का परदेसी कहार और लुहर्रा गाँव का चिरंजी दूधिया भी सामाजिक राजनैतिक विसंगतियों को हृदयंगम कर सके ?

आपकी आस्था लोकतंत्र में है तो आप अवश्य ही हाँ कहेंगे परंतु यह हाँ तब तक किस काम की जव तक उन लोगों से उन्हीं की भाषा में वे बातें नहीं कही जातीं ? प्रत्येक जनपदीय भाषा में प्रिंसिपल मनोरंजन, ईसुरी, पढ़ीस और मुकुल जैसे कवि हों तो इससे हिन्दी को अपच होने की सम्भावना नहीं है और न ही यह हमारे लिये सांस्कृतिक दरिद्रता का लक्षण होगा ।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का विचार है कि—"मुझे तो जनपदों की भाषाओं का कार्य एकदम देवकार्य जैसा पवित्र और उच्चाशय से भरा हुआ प्रतीत होता है, यह उठते हुए राष्ट्र की आत्मा को पहचानने जैसा उदार कार्य है क्योंकि इसके द्वारा हम कोटि-कोटि जन समुदाय का मूल साहित्यिक प्रेरणाओं के साथ सांनिध्य प्राप्त करते हैं ?"

* * *

लोकदेवताओं की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

—डॉ० प्रफुल्ल कुंमार सिंह 'मौन'

भारतीय लोकधर्म विशुद्ध देहवादी तथा कामनाप्रधान है, जो मात्र भौतिक ही नहीं, पराभौतिक सत्ता पर भी आधारित है। लोकधर्म की इस पराभौतिकी को अथर्वेद ने भी स्वीकार किया है। इस प्रकार आर्यीकरण के साथ ही लोक और वेद की समानान्तरता आजतक किसी न किसी रूप में हमारी जीवनधाराओं में उपलभ्य है। लोक का सम्बन्ध मूलतः निषाद, द्रविड़ तथा किरात मूलक तथा वेद का सम्बन्ध आर्यमूलक जातियों-उपजातियों से रहा है। यद्यपि नव आर्यीकरण के पश्चात् आज बहुत कुछ समन्वित हो चुका है तथापि आदिम और अविकसित जातियों-उपजातियों में भारतीय लोकधर्म की मूल विशिष्टताओं के अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं।

प्रकृति प्रधान होने के कारण हमारे लोकधर्म की पृष्ठभूमि में नदी, पहाड़, वृक्ष, नाग, यक्ष आदि की पूजा परम्परा के साथ टोना-टोटका, झाड़-फूँक, ओझाई-भगतई आदि के प्रति अटूट आस्था और विश्वास की लोक परम्परा भी प्रचलित देखी जाती है। अतः आर्य पूर्व प्रचलित लोकधर्म आज भी अपदेवी तथा अपदेवताओं की पूजा प्रक्रिया तथा परम्परा में स्पष्टतः विद्यमान है जो दैनिक सुख, शत्रु-संहार, लोककल्याण आदि उद्देश्यों से प्रचलित रही है। वैसे देवोपासना आर्यों की तथा देवी उपासना निषादों की देन है। कालान्तर में इसी आदिम लोकधर्म से सम्बद्ध अपदेवी-देवता पूजन, व्याधि पूजा, धरती वृक्ष तथा नदी पूजा आदि विकसित हुई। इस प्रकार भारतीय लोकधर्म का उत्स आर्येतर संस्कृति के गर्भ में अन्तर्निहित है। वैदिक साहित्य में आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का समाहार देखा जाता है। दूसरे शब्दों में हमारी लोकसरस्वती का परिष्कृत रूप ही वैदिक साहित्य तथा हमारा समस्त वाङ्मय ही लोकसरस्वती का प्रतिफलन है।

ब्रह्मविद्या का मूल वैदिक वाङ्मय में निहित है और इसी ब्रह्मविद्या से तंत्र और योग का प्रस्फुटन हुआ है। इसका अतिविकसित रूप मध्यकालीन परिवेश में उपलभ्य है जिसमें आदिम विश्वास तथा वज्रयानी विकृतियों आदि की परम्परा भी आकर घुलमिल गयी। फलतः इसने तत्युगीन नागर तथा लोक साहित्य को बुरी तरह प्रभावित किया है। पौराणिक अवतारवाद के अनुरूप लोक ने भी अपने परिवेश में अवतारवाद की प्रतिष्ठापना की है। प्रमाणस्वरूप हमारे लोकजीवन में प्रतिष्ठित नायक प्रायः अग्नि, सूर्य, धर्म, शिव, भैरव आदि का ही अंश लेकर अवतरित हुए हैं। लोक जब भी संकटापन्न हुआ है, लोकदेवताओं के अवतरण की

परम्परा तथा प्रमाण हमें उपलब्ध हैं। ऐसे लोकदेवताओं में राजा सलहेस, दीनाभदरी, गनीनाथ, वखतौर, शशिया आदि विशेष रूप से प्रतिष्ठित हैं, जिनका आदेश लेकर इनके सेवक-भगत अद्यपि लोककल्याण में निरत हैं। इन मध्यकालीन लोकदेवताओं के चरित्र तंत्र-मंत्र, जादू-टोना, काय-परिवर्त्तन, कामरूप-कामाख्या, मोरंग-बंगाल, मालिन-जोगीन, सिद्धि-साधना आदि से अनुप्राणित हैं। जो रूपाकृति और स्वभाव से मूलत· अपदेवता हैं। जिस प्रकार तपा हुआ सोना कसौटी .पर अपनी स्वर्णिम आभा रेखांकित कर जाता है, उसी प्रकार इन लोकदेवताओं ने गीत-गाथाओं में अपने स्वर्णिम चरितांशों को लोककण्ठों को समर्पित कर दिया है, जिनकी प्रतिछवियाँ अद्यतन लोक जीवन के लिए वरदान बनी हुई हैं।

इन लोकदेवताओं की आद्याशक्ति चण्डी मानी गयी है, जो कभी सप्तमातृकाओं के रूप में तो कभी वामन वीरों की महानायिका के रूप में विलसती हैं। कभी वीर और मंगल भावनाओं की अधिष्ठात्री देवी के रूप में तो कभी चौंसठ जोगिनियों के रूप में लीला विस्तार करती हैं। मातृपूजक आर्येतर जातियों की मान्यता के अनुसार चण्डी को कहीं निषादकन्या के रूप में प्रतिष्ठा मिली है तो कहीं किरातकन्या के रूप में। फलतः इनकी पूजा जनपदीय तथा जातीय भेद के कारण निषाद तथा किरात दोनों पद्धतियों से होती हैं। आकृति तथा प्रकृति से समान होते हुए भी आद्याशक्ति चण्डी के नामों में जाति, स्थान तथा कालभेद के कारण भिन्नता पायी जाती है। वह अपने विश्वस्त अनुसेवक के साथ सदियों से आधि-व्याधि, अमंगल तथा महामारी से कुल-परिवार तथा गाँवों की रक्षा करती आ रही है। भले ही उनका नाम काली और भैरव, वन्नी और गोरैया, कमला और कोयला आदि क्यों न हो। आर्यों से सम्पर्कोपरान्त इस आद्याशक्ति की आकृति-प्रकृति में परिष्कार भी देखा जाता है। यही कारण है कि जो सहजसाध्य थी, वह विविध आचारों में बंधकर क्रमशः असाध्य और दुसाध्य बनती चली गयी। सिद्ध-साधकों, नाथपंथी योगियों तथा विलासप्रिय वज्रयानियों ने तो उसे एक ऐसे घूर्णित चक्र पर प्रतिष्ठित कर दिया कि योग और भोग में आकण्ठ निमग्न तथाकथित साधकों तथा अनुयायिओं को इस्लामी अभियान के सामने घुटने टेक देना पड़ा। इस प्रकार दशवीं-ग्यारहवीं सदी में शायद पहली बार हमारी आस्था व्यापक रूप से खण्डित हुई। फलस्वरूप एक ओर भक्ति की गंगा लहरा उठी तो दूसरी ओर वीरता की यमुना और इन दोनों के बीच अंतःसलिला के रूप में तंत्र-मंत्र की सरस्वती गुपचुप प्रवाहित होती रही। यही कारण है कि हमारे मध्यकालीन लोक देवताओं में लोक कल्याण की भावना के साथ-साथ भक्ति, वीरता और तंत्र-मंत्र आदि के तत्व के दर्शन होते हैं।

तंत्र-मंत्र-यंत्र : तंत्र और योग का मूल वैदिक ब्रह्मविद्या में निहित है। अतः तंत्र धर्म की एक कड़ी तथा ब्रह्मविद्या का एक अंग है; जिसकी सिद्धि के लिए योग, ध्यान, समाधि आदि क्रियाओं से गुजरना पड़ता है। इसका प्रयोग देवत्व से साक्षात् तथा तादात्मय स्थापन के अतिरिक्त भौतिक सुखोपलब्धि के उद्देश्य से किया जाता है, यद्यपि इससे अनिष्ट की भी आशंका बनी रहती है। क्योंकि मधुर-वेधन की स्थिति में जहाँ इसका प्रभाव सम्मोहक होता है, वहीं प्रतिशोध की दशा में मारक हो जाता है। हमारे तंत्र-साहित्य में भोग-मुद्राओं का चित्रण भी उपलब्ध है जिसका उद्देश्य भोग से अनासक्ति उत्पन्न करना है। लेकिन मध्यकालीन तंत्र-साधना विकृतियों की सीमा लांघ गयी थी। फलतः उसका पतन तीव्रगति से हुआ। फिर भी तंत्र की वैज्ञानिकता को नकारा नहीं जा सकता।

मंत्र वेदवाणी ही नहीं अपितु देववाणी तथा लोकवाणी भी है, जिसकी सिद्धि-साधना साधक और देवत्व के बीच तादात्म्य स्थापन के अतिरिक्त देवी-देवताओं को वशीभूत करने के क्रम में की जाती है। वेदमंत्रों तथा लोकमंत्रों की शक्ति तथा चामत्कारिक प्रभाव और समानान्तरता प्रत्यक्ष है। दोनों की शैलियां, पद्धति तथा प्रक्रिया भी समान हैं। वैदिक मंत्रों में भी देव शक्ति का आवाहन, रूपांकन, महिमा, निवेदन आदि का क्रम स्पष्ट है। साथ ही विशिष्ट कार्यसिद्धि हेतु प्रतिष्ठित देवी-देवताओं, अलौकिक शक्तियों अथवा प्रतीकों की दोहाय पद्धति का प्रचलन भी द्रष्टव्य है। वैदिक मंत्रों की तरह लोकमंत्रों की गुप्त तथा गायन दोनों परम्परायें प्रचलित हैं। वैदिक मंत्र समवेत स्वर से गाये जाते हैं तो लोकमंत्र मात्र बुदबुदाये जाते हैं। लोकमंत्रों में देवी-देवताओं की दोहाय के अतिरिक्त रोग-शोक, व्यथा-पीड़ा आदि से मुक्ति की प्रार्थना के स्वर आज भी मुखरित हैं। लोक की आस्था तथा विश्वास जब तक कायम है, तबतक इन लोकदेवी-देवताओं का अस्तित्व भी कायम है। इनसे सम्बद्ध सिद्ध मंत्रों की शक्ति तथा चमत्कार आज वैज्ञानिक शोध का विषय है।

तांत्रिकों ने विभिन्न फलों की प्राप्ति के उद्देश्य से अनेकानेक यंत्रों की रचना की है, जिन्हें मंत्रशक्ति द्वारा जाग्रत और सिद्ध किया जाता है। तंत्र एक उपाय है, जिसकी साधना मंत्र और यंत्र द्वारा की जाती है। अर्थात् मंत्र और यंत्र की साधना से ही सिद्धिलाभ संभव है। इस प्रकार तंत्र-मंत्र और यंत्र साधकों के लिए आनन्दानुभूति तथा लोक कल्याण के माध्यम ही नहीं अपितु लोगों के लिए रहस्यात्मक और चमत्कारिक विद्या मानी जाती है, जिसकी ओर आज का लोक ही नहीं अपितु नागर मन भी बड़ी तेजी से आकृष्ट होता जा रहा है।

हमारा समस्त मध्यकालीन लोकधर्म तंत्र, मंत्र, यंत्र, योग, भोग आदि बुरी तरह प्रभावित रहा है । इनके सुप्रसिद्ध गढ़ों में काशी, कामरूप, मिथिला, मोरं बंगाल, श्री पर्वत, नेपाल, कश्मीर, विन्ध्याचल आदि का नामोल्लेख अधिका हुआ है और यहाँ के कोकजीवन में इसके अवशेष अद्यपि उपलब्ध हैं । मिथिलां में महिषी की उग्रतारा, विराटपुर की चण्डी, खुरहान की छिन्नमस्ता, उच्चैठ भगवती, बलिया का भैरव, कटार की चामुण्डा, वदलाघाट की कात्यायनी, मोरं की त्रिपुर सुन्दरी, उपत्यका की गुहेश्वरी आदि इसके प्रमाण हैं । मिथिला-मोरं से प्राप्त मंत्रों से यह स्पष्ट होता है कि वंग-वालायें तंत्र-मंत्र शिक्षा के नि मोरंग तथा मिथिला की मालिनें कामरूप जाया करती थीं ।

किसी भी जनपद की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में वहाँ के लोक देवी-देवता की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है । क्योंकि जनपद विशेष की हँसी-खुशी, रोग-शो दुख-दारिद्रय आदि का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्वन्ध इनसे होता है । यही कारण कि श्रद्धा, भय या लोक की आस्था जितनी वलवती होगी उनका देवत्व भी उतना दीप्त होगा तथा उनकी महिमा भी उतनी ही व्यापक होगी । वैदिक तथा पौराणि देवी-देवताओं की तरह यद्यपि इन लोक देवी-देवताओं का प्रभाव क्षेत्र व्याप नहीं होता, तथापि ये अपने प्रभाव क्षेत्र में सर्वशक्तिमान होते हैं । हमारी परम्परि गाथाओं, नृत्य-नाट्यों, स्तुतिगानों, लोकमंत्रों आदि में इनके स्वरूप, शौर्य-प क्रम, चमत्कार, कृपाशीलता आदि तत्वों से अलंकृत चरितों का विस्तृत आकलन हु है । आश्चर्य है कि स्वाधीनता प्राप्ति के इतने वर्ष वाद भी इनके प्रति लोक आस् बहुत नहीं बदली है ! भारत का शायद ही ऐसा कोई गाँव होगा, जहाँ इनके गहवर थान आदि में इनके चित्र, प्रतिमा या पिण्ड-प्रतीक को पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त न हो इनके अमानवीय या अतिमानवीय शक्ति-सामर्थ्य तथा चमत्कारिक शक्ति के कार ही इन्हें लोक की मनोवैज्ञानिक श्रद्धा प्राप्त है । इसी श्रद्धा, भय तथा विश्वास क परम्परा के कारण लोक अपने इन देवी-देवताओं से जुड़ा है । अतः लोक आस् जबतक जिन्दा है तबतक इनसे सम्बद्ध गाथा, नृत्य, नाट्य, गीत आदि लोक कला भी जिन्दा हैं ।

जातीय अथवा जनपदीय आधार होते हुए भी ये लोकदेवता सबके आराध् हैं । जातीय परिधि से मुक्त ब्रह्म, जोगी, वीर, पीर, डीहवार, नाग आदि जै लोक देवता सबके हैं तथा सभी इनके हैं । लोककल्याण के लिए जिन्होंने अप आपको समर्पित कर दिया, वे लोक देवताओं के रूप में लाखों की श्रद्धा, औ भक्ति के केन्द्र तथा लोकसंस्कृति के प्रतीक पुरुष बन गये । इनकी रचित कथाए आंचलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं । काल ने जिनकी स्मृतियाँ शेष रखी हैं, संस्कृति ने जिनके माध्यम से अपना

विकास किया है, लोक ने जिन्हें श्रद्धा या भय से भजा और पूजा है, ये लोक देवता हमारी लोकसंस्कृति की अमूल्य निधियाँ हैं, आंचलिक तथा जातीय इतिहास के महत्त्वपूर्ण अध्याय हैं तथा लोक स्तर पर धर्म-कर्म के जीवित रखने के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इनके प्रति अटूट श्रद्धा एवं विश्वास ने लोगों को नाचने-गाने, मनौतियाँ मनाने, लोकोत्सव आदि का अवसर सहज ही प्रदान किया है। इस प्रकार इन लोक देवी-देवताओं ने लोक संस्कृति के विभिन्न तत्वों को पल्लवित, पुष्पित तथा संरक्षित करने का शुभ कार्य किया है।

पूर्वांचलीय लोकदेवताओं के वाहनों में भारतीय लोकदेवताओं के प्रिय वाहन घोड़ा के अतिरिक्त हाथी तथा बाघ भी देखे जाते हैं। ऐरावत हाथी जिस प्रकार देवराज इन्द्र का प्रिय वाहन हैं, उसी प्रकार हाथी मिथिलांचल के लोक देवता राजा सलहेस तथा राजा धनपाल के भी प्रिय वाहन हैं, यद्यपि वे अश्वारोही भी हैं। हाथी यदि ऐश्वर्य, शक्ति और गांभीर्य का प्रतीक है तो घोड़ा स्फूर्ति, तेज शौर्य-पराक्रम, गतिशीलता आदि का प्रतीक है। हमारे वहुत सारे लोकदेवताओं तथा जलदेवियों को प्रतीक रूप में घोड़े चढ़ाये जाते हैं। मिथिला के बरहम, सलहेस, वैशाली के जोगी वावा, नरसिंह, मोरंग के धनपाल, रणपाल, राजस्थान के तेजा जी, भैरव, नेपाल तराई की जलदेवियाँ आदि इनके प्रमाण हैं। हमारे लोक साहित्य में सूर्य तथा धर्मराज को भी अश्वारोही कहा गया है।

वैदिक तथा पौराणिक देवी-देवताओं की तरह हमारे लोक देवताओं के आयुध भी निर्धारित हैं, जिसने इनके कालनिर्धारण में हमें दिशानिर्देश किया है। हमारे सर्वजातीय लोक देवता सोखा तथा मुसहरों के दीना-भदरी तीर धनुषधारी हैं तो राजा धनपाल, रइया रणपाल, राजा सलहेस आदि ढाल-तलवारधारी हैं। वैसे राजा सलहेस के हाथों में भाला तथा धनुष-वाण भी यत्र-तत्र सुशोभित हैं। उत्तरांचल के लोकदेवता भीमसेन को गदा तथा वज्जिकांचल के बसावन और बखतौर को अपनी लाठियाँ ही प्रिय हैं। इन आयुधों से इनका पराक्रम तथा शौर्य प्रकट होता है, जिनके माध्यम से ये लोककल्याण के लिए दुष्टों का संहार करते हैं। इसी तरह लोकदेवियों के भी वाहन तथा आयुध निर्धारित हैं। इस संदर्भ में भी लोक और वेद की समानान्तरता देखी जाती है।

हमारे लोक देवताओं को ग्रामीण परिवेश में जहाँ प्रतिष्ठित किया जाता है, उसे गहवर या थान कहते हैं। वहाँ इन्हें मांगलिक अथवा वार्षिक पूजनोत्सव के अवसर पर सार्वजनिक पूजा दी जाती है। इन्हें बलि तथा नैवेद्य भी चढ़ाया जाता है। बलि तो देवता का सगोत्र ही खा सकता है, लेकिन नैवेद्य सभी को प्राप्त होता है। इन्हें बड़ी श्रद्धा के साथ जातीय मान्यता तथा परम्परा के अनुसार दूध-फूल,

पान-प्रसाद, गांजा-भांग, खस्सी-भेड़ा, मुर्गी-कबूतर, पीताम्बर, यज्ञोपवीत, झांप-वन्दनवार, मधुर-मिष्टान, दारू आदि चढ़ाये जाते हैं। लोकगीतों में इनके गह्वरों की शोभा, सुरभित छांह में देवताओं का रात्रिवास, मालिनों के साथ क्रीड़ा-कौतुक, भगतों की सेवा, आर्त्तों की गोहार आदि की जीवन दृश्यावलियाँ अंकित हुई हैं।

इन देवी-देवताओं के मुख्य साधक, अनुचर, पूजक अथवा सन्देशवाहक को प्रायः सेवक,भगत, ओझा-गुनी, धामी आदि नामों से जाना जाता है। इन्हीं सेवक या भगत के माध्यम से लोक की पूजा इन्हें प्राप्त होती है तथा इनका वरदान या अभिशाप भी इन्हीं के माध्यम से लोक को प्राप्त होता है। निर्गुणवादियों के साधना मार्ग में जो स्थान गुरु का है, वही स्थान लोक देवताओं का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए सेवकों या भगतों का माना गया है। फलतः इन देवी-देवताओं के आदेश से आवेष्टित लोकविद्या तथा साधना प्रक्रिया में निष्णात सेवक या भगतों को लोकधर्म तथा लोकसंस्कृति का जीवन्त प्रतीक कहा जा सकता है। ओझा-गुनी या धामी जिस देवांग को तांत्रिक साधना से प्राप्त करता है, उसे सेवक या भगत सहज-साधना से ही प्राप्त कर लेता है। कुछ लोक प्रसिद्ध साधकों में नदीयक्ष कोयलावीर, सोखा भगत माधो, शिवनाथ, उधराज, भगवती-भक्त दुलरा दयाल, लोरिक, सलहेस, राहु-भगत भीमल, काली-भगत गोरैया आदि के अतिरिक्त धामियों में सरियो, सुव्वाई, कनकसिंह, आदि तथा बंका दुसाध, वनठा चमार, झिमिला खवास आदि के नाम सदियों से जनजिह्वा पर उत्कीर्ण हैं।

कुछ अपवादों को छोड़कर हमारे अधिकांश लोकदेवता निम्नवर्ग से ही नायकत्व तथा देवत्व की श्रेणी में प्रतिष्ठित हुए हैं। मुसहरों के दीना-भदरी तथा यादवों के वसावन-बखतौर की गाथाओं में बेगार, डोला आदि जैसे शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध उठी आवाज प्रतिध्वनित हुई है। यदि इन लोकदेवताओं को अज्ञात तथा अल्पज्ञात गह्वरों से निकालकर शोध-खोज की रोशनी में नागर साहित्य और सांस्कृतिक मंचों पर प्रतिष्ठित किया जाय तो ये आज भी लोकजीवन को आन्दोलित करने में समर्थ हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, राहुल सांस्कृत्यायन, कुबेरनाथ राय, डॉ० महेन्द्र भानावत, डॉ० प्रफुल्ल कुमार मौन; आदि ने इन जनपदीय देवताओं को नागर प्रतिष्ठा देने का सत्प्रयास किया है। इनकी गाथाएँ हमारे जनपदीय इतिहास की अमूल्य निधियाँ प्रमाणित हुई हैं। अतः सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में इन लोकदेवी-देवताओं का अध्ययन-अनुशीलन आवश्यक प्रतीत होता है।

* * *

हम हिन्दी के लिए क्या करें ?

—अखिल विनय

भारत को स्वतंत्र हुए आज सैंतीस वर्ष हो गए, फिर भी क्षेत्रीयता और साम्प्रदायिकता का वोलवाला है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि राष्ट्रीय एकता की धारणा चरमरा रही है और इस विशाल राष्ट्र को एकता के सूत्र में पुनः पिरोने की आवश्यकता है। आधुनिक यूरोप के अनेक राज्यों में आज एक ही लिपि प्रचलित है और इस कारण दूसरे देशों में जाकर उन्हें पढ़ने में अधिक कठिनाई नहीं होती। इसलिए कुछ विद्वान् एक ही लिपि का आग्रह करते हैं। विनोबा जी ने तो राष्ट्रीय एकता के लिए "नागरी लिपि परिषद्" की स्थापना के सन्दर्भ में, सम्पर्क लिपि नागरी को अपनाने पर वल देते हुए कहा था—

"हिन्दुस्तान की एकता के लिए हिन्दी भाषा जितना काम देगी उससे बहुत अधिक काम देवनागरी लिपि देगी। इसलिए मैं चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान की समस्त भाषाएँ देवनागरी लिपि में लिखी जाएँ, सब लिपियाँ चलें, साथ-साथ देवनागरी का भी प्रयोग किया जाये।"

स्वतंत्रता के पहले भी, देश के अनेक नेताओं ने समूचे देश के लिए किसी एक लिपि पर वल दिया था। उल्लेखनीय है कि भारतीय स्तर पर एक भाषा और एक लिपि की आवश्यकता के सम्बन्ध में आवाज उठाने वाले नेता अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के थे। नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी के एक अधिवेशन में भाषण देते हुए, लोकमान्य तिलक ने समस्त भारतीय भाषाओं के लिए एक सामान्य लिपि के रूप में देवनागरी को अपनाने का प्रवल समर्थन १९०५ में किया था। उन्होंने कहा था कि देवनागरी रोमन लिपि की तुलना में कहीं अधिक उपयुक्त है।

पाश्चात्य अनुकरण

कुछ समय पहले, इलाहावाद में, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग द्वारा चार दिवसीय हीरक जयंती समारोह आयोजित किया गया, जिसमें जैनेन्द्र कुमार ने कहा कि, आज हमारी लोक संस्कृति विखंडित होती जा रही है। उन्होंने संस्कारहीनता को दूर करने का एकमात्र तंत्र साहित्य और भाषा को वताया। समारोह का विषय था "साहित्य का तुलनात्मक अनुशीलन, शोध की नयी दिशायें।" अनेक साहित्यकारों ने अपने विचार प्रस्तुत किये। समारोह के अंतिम दिन केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के डॉ० सुरेश कुमार ने कहा कि, हिन्दी भाषा की अपनी परम्परा है; यदि हम अपनी परम्परा की बात करें तो हिन्दी निश्चित रूप से नये आकार-प्रकार में आ सकती है। यदि हम पाश्चात्य परम्पराओं की नकल करेंगे तो हमारी परम्परायें स्वतः क्षीण होती जायेंगी।

आज हम मानसिक दासता से त्रस्त हैं। नये प्रकार की गुलामी ने हमें जकड़ रखा है। अंग्रेजी के प्रति जो दासता है उसको दूर करने की आवश्यकता है। अब जो लोग यह कहते हैं कि हिन्दी में शब्दावली नहीं है या वैज्ञानिक साहित्य की कमी है, उसमें कुछ तथ्य नहीं है। हिन्दी में और भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य काफी बड़ी मात्रा में प्रचारित हो चुका है। अब भारतीय भाषाओं को निकट लाने की जरूरत है। अब आवश्यकता इस बात की है कि हम अंग्रेजी को भूल कर, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार हो जायें। उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी और भारतीय भाषाओं को मान्यता मिलनी चाहिए। हिन्दी तो आज अन्तरिक्ष में पहुँच गयी है। जब स्वर्गीया प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी के प्रश्न के उत्तर में श्री राकेश शर्मा ने "सारे जहाँ से अच्छा" कहा, तब हिन्दी अन्तरिक्ष में स्थित हो ही गयी।

अहिन्दी भाषियों के प्रयास

डॉ० आदोलेन स्मेकल चेकोस्लावाकिया के हिन्दी-विद्वान् हैं। "कादम्बिनी" (नई दिल्ली, दिसम्बर १९८४) में उन्होंने "वे हिन्दी की रोटी खाते हैं, पर उसके विकास में सहायक नहीं होते" शीर्षक अपने लेख में अच्छा झिझोड़ा है। उनका कथन है कि, भारत की परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए, इस देश में भाषा का विकास, समाज के विकास के पीछे रह जाता है। "दैनिक हिन्दी का प्रयोग होटलों में, दुकानों में, न्यायालयों या विश्वविद्यालयों में किस प्रकार किया जाए, इस पर प्रामाणिक पुस्तक लिखनी चाहिए।"

हिन्दी के व्यावहारिक पक्ष की अवहेलना पर अपने विचार व्यक्त करते हुए, डॉ० स्मेकल ने लिखा था : "दो वर्ष पूर्व 'विश्व हिन्दी पुरस्कार' प्राप्त करते हुए मैंने एक बात कही थी कि पिछले तीस वर्षों की अवधि से लेकर कुछ सीमा तक हिन्दी के प्रचार व प्रसार, हिन्दी की सफलताओं तथा असफलताओं का साक्षी हुआ हूँ, क्योंकि भारत के स्वाधीन होने के दो ही वर्ष बाद मैं हिन्दी पढ़ने लगा और उस समय से इस भाषा को अपने प्राण लगातार समर्पित करता आ रहा हूँ।" वे आगे लिखते हैं—"भारत में मैंने देखा कि यहाँ के हिन्दी के विद्वान्, चाहे वे विश्वविद्यालय के हों, चाहे हिन्दी के संस्थानों के, हिन्दी की रोटी तो खाते हैं फिर भी वे हिन्दी के विकास को भरसक सहायता नहीं देते। मेरा अभिप्राय है कि व्यवहार या अनुप्रयोग की दृष्टि से उन्होंने इस बात पर यथेष्ट ध्यान अभी तक नहीं दिया कि हिन्दी के शीघ्र से शीघ्र अधिक, विकास के लिए क्या करना चाहिए? किस दिशा में शोध करना है, समाज की किन-किन शाखाओं को भाषा की दृष्टि से सहायता देने की जरूरत है।"

तमिलनाडु में या दक्षिण भारत में हिन्दी के विरोध की वात सुनी जाती है। इस प्रसंग में तीस वर्ष पूर्व की एक घटना है। द्रविड मुन्नेत्र कझगन के नेता श्री नायकर ने सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री सन्तराम बी०ए० (जो इस समय ९८ वर्ष के हैं) को अपने पत्र में लिखा था कि हमारे वच्चे हिन्दी पढ़ रहे हैं और हम नहीं चाहते कि जिस प्रकार उच्च वर्ण वाले हमारे ऊपर आधिपत्य किये वैठे हैं वैसे ही उत्तर वाले ब्राह्मण हमारे ऊपर हिन्दी लाद कर हमें कहीं का न छोड़ें—इसलिए हमारा नारा "हिन्दी-विरोध" का रहेगा। आज तीस साल वाद भी उनकी वात इस माने में सही है कि राजनैतिक दृष्टिकोण से तमिलनाडु से हिन्दी के विरुद्ध आवाज उठायी जा रही है, यद्यपि यह नितांत सत्य है कि तमिलनाडु, केरल, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में अधिकाधिक लोग हिन्दी सीख रहे हैं। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के प्रमुख हिन्दी अधिकारी की मातृभाषा तमिल है, और राष्ट्रीय दूरदर्शन प्रसारण (दिल्ली) से हिन्दी में समाचार देने वाले श्री रामन भी दक्षिण भारतीय हैं।

सक्रिय कदम उठायें

हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए कुछ ठोस कदम उठाना जरूरी है। जैसे—

(१) अपने पत्रों पर पते हिन्दी में लिखें। "कांग्रेस का इतिहास" लिखने वाले डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने आज से ५० साल पहले हिन्दी में पते लिखने की शपथ ली थी और आजन्म उसे निभाते रहे। क्या हम आजादी के वाद वैसा नहीं कर सकते ?

(२) अपने लेटरपैड, मोनोग्राम, दूकानों के सूचनापट्ट, नामकी प्लेट आप हिन्दी में वनवायें। पत्र हिन्दी में लिखकर दस्तखत अँग्रेजी में करना जरूरी नहीं। बैंक के चैकों पर हिन्दी में लिखें—हिन्दी में दस्तखत करें।

(३) सरकारी पत्र-व्यवहार हिन्दी में करें। रेल विभाग और अन्य कई सरकारी विभागों ने कायदा बनाया है कि वे हिन्दी में प्राप्त पत्रों का उत्तर हिन्दी में ही देंगे। सभी सरकारी विभागों में हिन्दी-अधिकारी रखे गए हैं। क्या वे ऊपर लिखित डॉ० स्मेकल की वात ध्यान में रखेंगे ?

(४) फीजी, मारीशस, गुवाना आदि में दशाब्दियों से हिन्दी का प्रचार-प्रसार करने वालों का परिचय छापा जाए। वयोवृद्ध हिन्दी-सेवियों का परिचय प्रकाशित किया जाए—उनकी सेवाओं को कैसे भुलाया जा सकता है ? अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी का प्रचार करने वालों की अधिकृत जानकारी छपनी चाहिए। नागरी लिपि परिषद् (१९, राजघाट, नई दिल्ली-२) ने नागरी के माध्यम से विदेशी भाषाएँ सीखने का स्तुत्य प्रयास किया है। दक्षिण की भाषाओं को हिन्दी के माध्यम से सीखने का अधिकाधिक प्रचार किया जाना उचित है।

★

जनपदीय आन्दोलन में हम क्या करें ?

—डॉ० त्रिलोकीनाथ ब्रजबाल

हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार एवं पत्रकार श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने जनपदीय आन्दोलन के आलोक-स्तम्भ, मूर्धन्य विद्वान् डॉ० वादेव शरण जी अग्रवाल की पुस्तक 'पृथिवी-पुत्र' को जनपदीय आन्दोलन के कार्यकर्त्ताओं के लिए 'बाइबिल' बताया है। इस पुस्तक में डॉ० वासुदेव शरण जी अग्रवाल ने जनपदों के ऐतिहासिक भौतिक और सांस्कृतिक अध्ययन से सम्बन्धित विभिन्न विषयों का महत्त्व स्पष्ट करते हुए उनके अध्ययन की दिशा का निर्देश किया है तथा अपने सुविचारित सुझाव दिये हैं। 'पृथिवी-पुत्र' पुस्तक का प्रथम प्रकाशन सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली से जून सन् १९४९ ई० में हुआ था।

अभी तक जनपदीय आन्दोलन का ध्यान अधिकतर लोक-साहित्य और लोक-संगीत पर रहा है। इन्हीं के विभिन्न पक्षों को लेकर समय-समय पर विविध आयोजन और संगोष्ठियाँ एवं सभा-सम्मेलन हुए हैं। इस प्रकार के आयोजनों और कार्यक्रमों में प्रायः साहित्य-सेवियों का सहयोग ही अधिक रहा है, इन्हीं में परस्पर चर्चा और विचार-विनिमय हुआ है। इन आयोजनों में जनपदों की सर्वसाधारण जनता का विशेष सहयोग नहीं लिया गया है। परिणाम यह हुआ है कि, यह आन्दोलन अपने सीमित क्षेत्र में ही सिमट कर रह गया है। इस आन्दोलन में जनपद के आम नागरिक का अपेक्षित सहयोग नहीं मिला है। जनपद की महिलाओं और बालक-बालिकाओं को इन आयोजनों में जितना महत्त्व मिलना चाहिए था, उतना नहीं दिया गया है।

कोई भी आन्दोलन जब तक आम जनता के जीवन से नहीं जुड़ता है तब तक वह अधिक सफल नहीं होता है। अतः जनपदीय आन्दोलन को व्यापक और सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि, इसे जन-जीवन से जोड़ा जाये तथा इसे ऐसा रूप प्रदान किया जाये जिसमें जनपदीय चेतना का समग्र रूप समाहित हो सके। इस आन्दोलन को जनपदीय भाषा, साहित्य और कलाओं में ही न बाँधा जाये।

जनपदीय आन्दोलन वस्तुतः कोई साहित्यिक आन्दोलन नहीं है, न ही यह कोई राजनीतिक नारा है। यह आन्दोलन तो वास्तव में जनपद का सहज जीवन-धर्म है। इसका सम्बन्ध जनपद के समग्र जीवन से होना चाहिए। यह एक सात्त्विक सांस्कृतिक आन्दोलन है। इसका सम्बन्ध धर्म, शिक्षा, कला, भाषा, साहित्य आदि

सभी से होना चाहिए। इस आन्दोलन में जनपद के प्रमुख उत्सवों-त्योहारों-पर्वों का उपयोग किया जाना चाहिए तथा वर्ष के महत्त्वपूर्ण अवसरों पर ऐसे आयोजन रखने चाहिए जिनसे परोक्ष रूप में इस आन्दोलन का लक्ष्य सिद्ध हो तथा इस आन्दोलन को बल मिले। किसी भी आन्दोलन की सफलता के लिए 'जन' और 'धन' दोनों की ही आवश्यकता होती है। अतः हम जनपदीय आन्दोलन के सम्बन्ध में भी गम्भीरता पूर्वक यह विचार करें कि, हमें अपने आन्दोलन में किस प्रकार 'जन' और 'धन' का सहयोग मिल सकता है।

जनपदीय आन्दोलन को अधिक गतिशील बनाने के लिए मेरा विचार है कि, हमें अपने-अपने जनपदों के समग्र रूप का ध्यान रखते हुए एक नौ सूत्री कार्यक्रम बनाना चाहिए और उसे अपनी शक्ति, क्षमता तथा साधनों के द्वारा यथाशक्ति सफल करने का प्रयत्न करना चाहिए। ये नौ सूत्री कार्यक्रम इस प्रकार रखे जा सकते हैं:—

१. सम्पर्क-अभियान—

सर्वप्रथम जनपदों में इस कार्यक्रम में जनपद के प्रवुद्ध नागरिकों, कलाकारों, समाजसेवियों और उत्साही व्यक्तियों से सम्पर्क किया जाये और परस्पर मिलकर एक कार्यक्रम बनाया जाये। इसके बाद जनपद तथा जनपद के बाहर आवश्यक सम्पर्क किया जाये। इससे आन्दोलन को 'जन' और 'धन' की आवश्यक प्राप्ति हो सकती है।

२. लोक-समारोहों का आयोजन—

अपने-अपने जनपदों में वर्ष के महत्त्वपूर्ण अवसरों पर लोक-समारोहों का आयोजन किया जाये, जिसमें जनपद की विभिन्न कलाओं का प्रदर्शन हो। ऐसे अवसरों में जन्माष्टमी, दशहरा, शरद पूर्णिमा, बसन्त, शिवचतुर्दशी, रामनवमी आदि जैसी तिथियाँ चुनी जा सकती हैं। इन आयोजनों में जनपद की अधिक जनता आ सकती है।

३. संग्रह, संकलन और संग्रहालय—

जनपद की विविध कलाओं के उत्तम नमूनों का संग्रह किया जाये एवं साहित्य की विभिन्न विधाओं की उत्तम सामग्री का संकलन किया जाये और इन सबके लिए उपयुक्त संग्रहालय स्थापित किये जाये। इससे जनपद की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक और कलात्मक सामग्री का परिचय जन साधारण को मिल सकता है तथा अज्ञात और उपेक्षित महत्त्वपूर्ण सामग्री की रक्षा हो सकती है।

४. प्रदर्शनी-आयोजन—

जनपद की विभिन्न कलाओं का सुन्दर रूप में प्रदर्शन करने के लिए सुव्यवस्थित प्रदर्शनियों का आयोजन किया जाये और उनके ऊपर चर्चा-परिचय-गोष्ठियाँ रखी जायें।

५. जनपदीय एवं अन्तर्जनपदीय सम्मेलन—

जनपदीय आन्दोलन से सम्बन्धित विषयों पर जनपदीय सम्मेलन तथा अन्तर्जनपदीय सम्मेलन किये जायें और इनमें विविध विषयों पर विचार-विमर्श हो तथा विद्वानों एवं कलाकारों का सम्मान किया जाये।

६. शिक्षण-प्रशिक्षण-कार्यक्रम—

जनपद के विद्यालयों, महाविद्यालयों में जनपदीय विषयों से सम्बन्धित विषयों पर अधिकारी विद्वानों के भाषण कराये जायें और इनमें अभिरूचि रखने वाले बालकों, युवकों एवं युवतियों को उचित रूप से विभिन्न विषयों से सम्बन्धित सामग्री एकत्र करने तथा उसके अध्ययन करने का प्रशिक्षण दिया जाये। इससे नयी पीढ़ी आन्दोलन के कार्य में विशेष सहयोग दे सकेगी।

७. आधुनिक साधनों का उपयोग—

जनपद की महत्त्वपूर्ण कलात्मक वस्तुओं और सामग्री की फिल्में बनवायी जायें। काव्य, लोक-गीत, लोक-कथा आदि के टेप भरे जायें तथा रेडियो और टेलीविजन पर सम्बन्धित कार्यक्रम किये जायें। इससे जनपदीय आन्दोलन को काफी व्यापकता एवं स्थायित्व मिल सकता है तथा लोकप्रियता प्राप्त हो सकती है।

८. प्रकाशन-कार्य—

जनपद के महत्त्वपूर्ण साहित्य, कलाओं और सामग्री का तथा उनसे सम्बन्धित पुस्तकों का आकर्षक रूप में प्रकाशन किया जाये। इस कार्य में सेवाभ्भाव के साथ व्यावसायिक सूझ-बूझ का भी ध्यान रखा जये। यह कार्य आन्दोलन को पर्याप्त स्थायित्व और गरिमा प्रदान कर सकता है।

९. प्रचार-प्रसार—

प्रचार किसी भी आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण पहलू होता है। जनपदीप आन्दोलन की सफलता के लिए भी सूझ-बूझ पूर्ण प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है। इस पर विशेष ध्यान दिया जाये। इनके अतिरिक्त और भी कार्यक्रम विचारपूर्वक रखे जा सकते हैं।

वर्त्तमान काल में विज्ञान और तकनीक के द्वारा मनुष्य ने विपुल भौतिक समृद्धि और अपरिमित शक्ति प्राप्त कर ली है। आज विश्व में देश, काल और स्थान की सीमाएँ मान्य होते हुए भी आज के विज्ञान और तकनीक से खण्डित तथा निरर्थक हो गयी हैं। आज सैद्धान्तिक रूप में विश्व के बड़े भूभाग पर लोकतंत्रात्मक शासन है किन्तु, व्यवहार में व्यक्ति की स्वतंत्रता राजनीति ने हर ली है। निर्माण और ध्वंस की विचित्र स्थितियों में आज का मानव रह रहा है। आने वाले वर्षों में अपार ध्वंसक शक्तियों के स्वामी क्या कुछ परिवर्तन वर्तमान संसार में कर डालेंगे, इसका सही अनुमान लगाना अत्यन्त कठिन है। ऐसे समय में समाज, साहित्य, कला और संस्कृति से प्रेम रखने वाले सभी विचारवान नागरिकों का कर्त्तव्य है कि, वे जनपदीय आन्दोलन के सही लक्ष्य पर गम्भीरता से विचार करें और इसे सफल बनायें।

अपनी मातृभूमि से सभी को लगाव होता है। जनपदीय आन्दोलन के मूल में मातृभूमि के प्रति प्रेम और उसके प्राणवान स्वरूप-दर्शन की कामना ही है। यह कामना सांस्कृतिक होते हुए भी भावना से आध्यात्मिक ही है। अतः इसमें संकुचित अर्थ जोड़ना उचित नहीं है।

वस्तुतः जनपदीय आन्दोलन जनपद विशेष की भाषा के सम्यक् विकास के लिए ही नहीं, वरन् उस क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं के समाधान तथा राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए भी अनिवार्य है। हमें इसी दृष्टिकोण से इस आन्दोलन को पुष्ट करना चाहिए।

*

जनपदीय आंदोलन : आशंकायें एवं संभावनायें

—डॉ० श्रवण कुमार गोस्वामी

मेरे जानते जनपदों की सांस्कृतिक एवं भाषिक पहचान को सुरक्षित बनाये रखना ही जनपदीय आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य है। उस उद्देश्य की सार्थकता पर किसी को कोई संदेह नहीं होना चाहिये। पर, अक्सर यह देखा जाता है कि प्रत्येक आंदोलन में ऐसे तत्त्व पर्याप्त संख्या में घुस आते हैं, जो आंदोलन को अपनी सुविधाओं एवं स्वार्थों के अनुरूप ढालते हैं। नतीजा यह होता है आंदोलन अपने निर्दिष्ट मार्ग से भटक जाता है।

बिहार में जनपदीय चेतना को राजकीय मान्यता भी प्राप्त हो चुकी है। यही कारण है कि बिहार सरकार ने अपने यहाँ मैथिली, भोजपुरी तथा मगही अकादमियों की स्थापना की है। इन अकादमियों से जनपदीय भाषाओं का संभवतः कोई भला नहीं होने जा रहा है। वास्तव में ये अकादमियाँ कुछ थके हुए लोगों के लिये विश्रामागार के अलावा और कुछ भी प्रमाणित होने नहीं जा रही हैं।

जनपदीय आंदोलन का स्वरूप क्या हो-यह इसके अतिउत्साही समर्थकों के समक्ष भी स्पष्ट नहीं है। इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि इस आंदोलन के सूत्रधारों की कथनी और करनी में कोई सामंजस्य नजर नहीं आ रहा है और उनके नारों से राष्ट्र तथा राष्ट्रभाषा विरोधी गंध निकलती प्रतीत होती है। इस आंदोलन की यह अस्पष्टता चिंताजनक है।

इस आंदोलन के सम्बन्ध में अब तक मैं जो सोच या समझ सका हूँ, उसके अनुसार इस आंदोलन में हम निम्नलिखित मुद्दों को भी सम्मिलित कर अपने उद्देश्य में सफल हो सकते हैं :—

१ : बच्चों को प्राथमिक शिक्षा जनपदीय भाषाओं में दी जाय,
२ : दो वर्षों के बाद बच्चों को हिन्दी भी पढ़ायी जाय,
३ : षष्ठ या सप्तम वर्ग के पहले अँगरेजी कभी कहीं लादी जाय,
४ : घर में जनपदीय भाषाओं के प्रयोग के साथ-साथ हिन्दी का समानान्तर प्रयोग किया जाय,
५ : विभिन्न जनपदीय भाषाओं के बीच समन्वय स्थापित करने के लिये हिन्दी की ही सहायता ली जाय,
६ : उच्च विद्यालय के स्तर तक जनपदीय भाओं का साहित्य पढ़ाया जाय, पर हिन्दी भाषा एवं साहित्य का अध्ययन भी अनिवार्य हो,

७ : महाविद्यालयों में जनपदीय भाषाओं की स्वतंत्र पढ़ाई की व्यवस्था न हो, बल्कि हिन्दी भाषा-साहित्य के पत्र में ही जनपदीय भाषाओं के साहित्य के अध्ययन का प्रावधान हो ताकि छात्र अपनी भाषा एवं साहित्य के अध्ययन से वंचित न हो सकें।

८ : बी० ए० हिन्दी (प्रतिष्ठा) में एक विशेष पत्र होता है। इस पत्र में छात्रों को अपनी जनपदीय भाषा के साहित्य के अध्ययन की छूट दी जानी चाहिये। ऐसी ही व्यवस्था एम० ए० में भी होनी चाहिये,

९ : एम० ए० में जहाँ लघु शोध-ग्रन्थ लिखने का प्रावधान है, वहाँ इच्छुक छात्रों को जनपदीय भाषाओं एवं उनके साहित्य के सम्बन्ध में शोध-ग्रन्थ लिखने का अवसर दिया जाय,

१० : पी-एच० डी० तथा डी० लिट० के स्तर पर जनपदीय भाषाओं तथा उनके साहित्य के सम्बन्ध में तुलनात्मक शोध-कार्य के लिये योग्य व्यक्तियों को अवसर तथा प्रोत्साहन प्रदान किया जाय,

११ : प्रत्येक जनपद में एक जनपद परिषद् हो, जो जनपदीय आंदोलन तथा गतिविधियों पर अपनी निगाह रखे,

१२ : प्रत्येक जनपद् परिषद् अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं को जीवित रखने के के लिये मेलों, समारोहों आदि का आयोजन परम्परागत ढंग से पूर्ववत् चलने दें,

१३ : प्रत्येक जनपद के साहित्य के संरक्षण तथा विकास के लिये ठोस उपाय किये जायें,

१४ : सांस्कृतिक विरासत की रक्षा में पुरुषों की अपेक्षा महिलायें सदैव आगे रही हैं, अतः शिक्षित महिलाओं के द्वारा यह प्रयास किया जाना चाहिये कि उनकी सांस्कृतिक पहचान नष्ट नहीं होने पावे,

१५ : जनपदीय चेतना शहरीकरण की प्रवृत्ति के कारण कुंठित न हो जाय इस पर ध्यान रखा जाय,

१६ : जनपद के स्तर पर जनपदीय भाषा का प्रयोग हो, पर अन्य सभी स्तरों पर सम्पर्क भाषा के रूप में राष्ट्रभाषा हिन्दी का ही प्रयोग किया जाये,

१७ : हिन्दी हमारी केवल राष्ट्रभाषा ही नहीं, बल्कि वह हमारी आत्मा की भाषा भी है, अतः ऐसा कोई भी कदम न उठाया जाय जिससे हिन्दी याने राष्ट्रीय हित पर आँच आ सके;

१८ : अपने जनपद तथा अपनी जनपदीय भाषा का हम जैसा सम्मान चाहते हैं, वही सम्मान हम अन्य जनपदों तथा वहाँ की जनपदीय भाषाओं को भी देने के लिये तैयार रहें,

१९ : प्रत्येक नगर में जनपदीय मंच हो, जो विभिन्न जनपदों के लोगों क
एक मंच पर लाने का प्रयास करे ताकि उन सबके बीच भावात्म
स्तर पर समन्वय तथा आपसी समझदारी उत्पन्न हो सके;

२० : जनपदीय आंदोलन को जाति, धर्म तथा राजनीति से मुक्त रखा जा

२१ : जनपदीय आंदोलन के सफल संचालन के लिये राजकीय तथा रा
नीतिक हस्तक्षेप को कतई स्वीकार नहीं किया जाय। इस दृष्टि
इसमें राजनीतिज्ञों के प्रवेश पर पूर्ण अंकुश रखा जाय; तथा

२२ : जनपदीय आंदोलन पूर्णतः जनता के लिये, जनता के द्वारा तथा जन
का होना चाहिये—सरकार का नहीं। दूसरे शब्दों में इसके वित्त
दायित्व का निर्वाह सम्बद्ध जनपद के लोग ही करें।

व्यक्तिगत रूप से मैं ऐसा कभी नहीं मानता कि जनपदीय आंदोलन राष्
विरोधी या राष्ट्रभाषा हिन्दी का विरोधी है। वास्तविकता तो यह है कि ये दोनों
एक दूसरे के पूरक हैं। हमें यह तथ्य बराबर याद रखना चाहिये और लोगों को स्मर
भी कराना चाहिये कि जनपदों ने ही हिन्दी को विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी आ
दिये हैं और हिन्दी ने ही जनपदीय भाषाओं के साहित्य को राष्ट्रीय मंच प्रदान कि
। पर, यदि हम संकीर्ण जनपदीय भावनाओं के वशीभूत होकर यह माँग कर
प्रारम्भ कर देंगे कि प्रत्येक स्तर पर जनपदीय भाषाओं की ही प्रतिष्ठा हो
प्रत्येक जनपदीय भाषा की एक स्वतंत्र लिपि भी हो, तब ऐसी माँगों से निश्चय
राष्ट्रभाषा हिन्दी का अहित होगा। इससे कहीं अधिक उस जनपद या उसकी भा
का अहित होगा, जहाँ से इस प्रकार की माँगें उठायी जायेंगी। ऐसी माँगों का
है राष्ट्र की मुख्य धारा से अपने को अलग-थलग कर लेना। ऐसी बेतुकी माँगों
राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता भी खतरे में पड़ सकती है। यह बराबर याद रख
की बात है कि इसका लाभ केवल अँगरेजी और अँगरेजी के माध्यम से भारत
गुलाम बनाये रखनेवालों सफेदपोशों को ही मिलेगा।

जनपदीय आंदोलन एक ऐसा अमोघ अस्त्र सिद्ध हो सकता है; जिस
सहायता से हम अपने देश को एक बनाये रख सकते हैं। इसके लिये शर्त्त केवल इत
है कि इस आंदोलन में क्षुद्र राजनीति को प्रविष्ट होने का अवसर न दिया जाय
दुर्भाग्यवश यदि इस आंदोलन में भी राजनीति के अवांछित कीटाणु घुस आते हैं,
हमारा यह अमोघ अस्त्र "बूमरैंग" की तरह हमारी ही तरफ लौटकर हमारा
अनिष्ट कर सकता है, उसकी कल्पना-मात्र ही कर मैं काँप उठता हूँ।

★

जनपदीय प्रतिभायें

—आनन्द शंकर माधवन

जनपदीय प्रतिभायें भूगर्भ स्थित खनिज जैसी निष्काम रही हैं अनादि काल से। कितने ही कालिदास और तानसेन, रवीन्द्रनाथ और रविशंकर वन्य पुष्पों जैसे खिले और मरे। देश के प्राज्ञ लोगों की दृष्टि इन सब की ओर इन दिनों पड़ने लगी है। यह खुशी की बात है।

प्राज्ञों की दृष्टि सदा ही इस तरह की चीजों पर पड़ती रही है। पर देश के इन्तजामकारों और जनसाधारण की भी दृष्टि यथेष्ट मात्रा में पड़े तभी तो भूगर्भ स्थित खनिज का सर्वजन कल्याणार्थ इस्तेमाल होने लगेगा। वन्य पुष्पों से भी देवाराधना की जा सकती है। तृण पुष्पों से भी यह कार्य सम्भव है। क्योंकि इन सब में भी वे सारी सम्भावनायें मौजूद हैं जो कमल पुष्प आदि आदरणियों को प्राप्त हैं। नाता-रिश्ता तृण पुष्पों का भी सूर्यदेव से ही है यद्यपि अपने पादाघात से निरन्तर आप उन्हें धूल में मिलाते रहते हैं। पर काश, आप उनके सौन्दर्य की ओर जरा निहारते। वे भी पृथ्वीमाता से ही अपना सौन्दर्य और सौरभ ग्रहण कर रहे हैं जैसे कमल पुष्प। सवाल यह है कि पृथ्वी माता की दृष्टि और नीति क्या है इन विविधस्तर की अपनी संतानों की ओर। लेलें सभी अपने-अपने हिस्से। यहाँ कोई अन्त नहीं है। इसलिये सभी को यथेष्ट सम्मान मिलना चाहिये। इस मामले में सूर्यदेव आदर्श हैं। वह जल ग्रहण करेगा, मैल नहीं, चाहे वह कहीं भी हो।

हाय, पुष्प संस्कृति को किसने समझा। अन्त तक भी तरुलतायें खिलती ही रहती हैं जैसे कि समस्या का समाधान अभी भी नहीं हुआ हो। प्रत्येक पुष्प शहीद हो रहा है। सभी पुष्पों के भाग्य भी बराबर नहीं रहते। सभी देवता के कण्ठ प्रदेश में नहीं पहुँचते। यद्यपि पुष्प होने के नाते उनका यह जन्मजात अधिकार है। कितनी ही गन्दी गलियों में पड़े सड़ जाते हैं। कितने गणिकाओं का शृंगार बन जाते हैं। कितने धन-कुबेरों के महलों का अलंकार बन जाते हैं। किस सम्भव सुन्दर मानव-व्यवस्था के अन्तिम परिचय स्वरूप पुष्प खिलते हैं। और देखो, वे निरर्थक मर नहीं मिटते। फल प्रसव करते हुए ही गिरेंगे। संतानोत्पादन के पहले फूलना और अपने सौन्दर्य और सौरभ से अन्तरिक्ष को प्रफुल्लित कर इससे आशीर्वाद प्राप्त करना. तरुलतायें आवश्यक समझती हैं, पर मनुष्य ऐसा नहीं समझते। अगर हममें ग्रहण शक्ति है तो इस प्रकृति से हम क्या-क्या नहीं सीख सकते? क्या ये वृक्ष एक एक दधीचि नहीं हैं? क्योंकि उनकी भी हड्डियां ली जाती हैं। प्रत्येक

जनपद को एक एक वृक्ष समझा जाय। प्रत्येक जनपदीय प्रतिभा इस वृक्ष के विविध रसभरे फूल हैं।

भारत कृषि प्रधान देश रहा है। यहाँ की जो कुछ भी खूबियाँ और उप- लब्धियाँ रही हैं 'सभी उन प्रातः स्मरणीय ऋषियों की आजन्म तपस्या-साधना उपजी सिद्धियों के अनन्तर निष्कर्ष मात्र रहे हैं। और, कौन-सा ऐसा क्षेत्र है, ऐसी विद्या और कला, ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी नाना प्रकार की शाखायें और प्रशाखायें हैं जिनपर महर्षियों ने काम नहीं किया और सफलतायें नहीं प्राप्त कीं? उनके सभी प्रकार के अनुष्ठान सत्यान्वेषण साधना के रूप में बीतते थे। उनके इस प्रकार के अनुष्ठानों और निष्कर्षों का प्रभाव सर्वत्र पड़ा। जनपदों में भी पड़ा। यही अव्यक्त और सूक्ष्म प्रभाव ही जनपदीय प्रतिभाओं के जागरण और प्रकाशन का कारण बना। यद्यपि यह जागरण और उदीप्ति नियमबद्ध और योजनाबद्ध तरीके से नहीं रही है फिर भी काम कुछ होता चला। मगर आजकल जनपदों में साधुसन्तों का नहीं सिनेमा, रेडियो और राजनीतिज्ञों का ही प्रभाव पड़ रहा है। इसलिये आजकल जो जन- पदीय प्रतिभा यत्र-तत्र खिल रही है वह विकृत और अनाकर्षक है। यह समूह के स्वस्थ भविष्य का परिचायक नहीं। देश के इन्तजामकारों के प्राज्ञ होने का ही यह दुष्परिणाम है। आग से आप खाना भी पका सकते हैं, अपने घ को आप भस्म भी कर सकते हैं। इसी तरह प्रतिभा को भी समझा जाय। उसक सदुपयोग होना चाहिये कि समूह लाभान्वित हो जाय। पर उसका दुरुपयोग भी कभी-कभी होने लगता है। देश के इन्तजामकारों को इन्हीं सब बातों पर सतर्क ध्यान रखना चाहिये। जनपदीय प्रतिभायें इन दिनों कुण्ठित ही नहीं, मृतप्राय भी हैं। हम धन के रहते हुए भी गरीब हैं, बुद्धि रहते हुए भी मूर्ख कहे जाते हैं। प्राचीन काल की प्रायः सभी प्रतिभायें जनपद की ही रही हैं। जिसे भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह वस्तुतः जनपदीय संस्कृति है। शहरी संस्कृति हमारी अपनी नहीं है। प्रत्येक शहर एक एक लन्दन है। और प्रत्येक जनपद एक-एक भारत है। अगर शहर की यह जहरीली सभ्यता हमारे जनपदों में व्याप्त हो गयी तो जिसे भारत कहा जा रहा है वह बिलकुल नष्टभ्रष्ट हो जायगा। जनपदों में इन दिनों साधु सन्तों, धर्मग्रन्थों और आश्रमों का प्रभाव कम होने लगा है। राजनीति धर्म को निगलने ही लगी है। इन सबका यह नतीजा निकलने लगा कि जनपदीय प्रतिभायें कलुषित होने लगीं, सस्ते यश को प्राप्त करने को बिकने लगीं।

इसलिए जरूरत इस बात की भी है कि जनपदीय प्रतिभा को ढूँढ निकालना, उसे परिष्कृत करना और जनकल्याणार्थ उसे उपयोग में लाना—ये सारे काम कौन करेगा—समस्या आज यही है।

★

जनपदीय ब्रजभाषा के ग्यारह शब्दों की निरुक्ति

—डा० अम्बा प्रसाद 'सुमन'
पी-एच० डी०, डी० लिट्०

(१) **गौंतरिया**—आदरणीय अतिथि या मेहमान के लिए ब्रजभाषा के क्षेत्र में **गौंतरिया** कहते हैं। यह संस्कृत शब्द **ग्रामान्तरीय** से विकसित है। सं० ग्रामान्तरीय > गाँवतरीय > गड़ँतरिया > गौंतरिया।

(२) **गौन**—एक प्रकार का दुख़ा बोरा जिसमें कुम्हार प्रायः गधे की पीठ पर अनाज भरकर ले जाता है '**गौन**' कहलाता है। यह संस्कृत शब्द **गोणी** का विकसित रूप है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी के एक सूत्र में इसका उल्लेख किया है—"कासू गौणीभ्यां ष्टरच्" (अष्टा० ५।३।९०)

(३) **डहर**—निचली गाढ़ जमीन, जिसमें पानी भर जाता है, **डहर** कहलाती है। इसमें धान की खेती अच्छी होती है। सं० ह्रद > हरद > दहर > डहर। 'दह' शब्द भी 'ह्रद' से ही विकसित है—सं० कालिय ह्रद > कालीदह।

(४) **दराँत**—किसान का लोहे का एक औजार जो कुछ-कुछ अर्द्ध चन्द्राकार मुड़ा हुआ होता है, **दराँत** कहाता है। इसे **हँसिया** भी कहते हैं। वैदिक भाषा में **दात्र** शब्द था। ऋग्वेद (८।७८।१०) में इसका उल्लेख है—"हस्ते दात्रं च नाददे" (ऋक् (८।७८।१०) पूर्व में दराँत को **दाति** भी कहते हैं। यास्क ने इसका उल्लेख किया है—"दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु"—यास्क, निरुक्त, नैगम काण्ड, (२।१।२), संस्कृत के **असिद** से विकसित प्राचीन '**असिअ**' शब्द ही **हँसिया** बन गया—"असिअं दत्ते"—देशीनाममाला, पूना संस्करण, (१।१४)। शब्द का आदिस्वर **अ** कालान्तर में 'ह' में परिवर्तित हुआ, जैसे सं० अस्थि—हिं० हड्डी।

(५) **निवाये**—जब फरवरी के अन्त में जाड़ा कुछ कम हो जाता है, तब उसे **निवाया** जाड़ा कहते हैं। सं० **निवात** शब्द से **निवाया** विकसित है। वायु जाड़े में वृद्धि कर देती है। वायु के बहुत कम होने को '**निवात**' कहते हैं। पाणिनि का एक सूत्र है—'निवाते वातत्राणे'—(अष्टा० ६।२।८)

(६) **पिहान**—किसान अनाज भरने के लिए मिट्टी की गोल-गोल ऊँची वस्तु बनाता है। उसे '**कुठला**' या '**कुठिया**' कहते हैं। कुठले के मुँह का ढक्कन '**पिहान**' कहलाता है। यह संस्कृत के **अपिधान** शब्द का विकसित रूप है—सं० अपिधान > पिधान > पिहान। संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं में आदि स्वर का लोप भी हुआ है।

सं० अपिधान > पिधान । सं० चतुरीय > तुरीय । सूरदास ने भी 'उदधिसुत' शब्द को 'दधिसुत' लिखा है—

> "पवन पानि घनसार संजीवन,
> दधिसुत किरन भानु भई भुंजैं ।" (सूरसागर)

कौरवी बोली में भी '**उठाना**' को '**ठाना**' ही बोलते हैं ।

(७) **बहली**—किसान का एक वाहन जिसमें बैल जोते जाते हैं, **बहली** कहलाता है । इसकी छत गोल होती है अर्थात् इक्के की छतरी की भाँति बहली की छतरी होती है । इसमें अधिक से अधिक दो आदमी ही ठीक तरह बैठ सकते हैं । '**बहली**' संस्कृत शब्द '**बाह्याली**' का विकसित रूप है । राजा तारापीड ने अपने पुत्र चन्द्रापीड के लिए विद्यालय के निकट एक बहलीखाना बनवाया था । चन्द्रापीड बहली में बैठकर हवा खाने जाता था । कादम्बरीमें बाण ने इसका उल्लेख किया है—

> "एकान्तोपरचित तुरगवाह्याली विभागम्"
> —(बाण, कादम्बरी)

(८) **भारकस**—किसान लोग जिन वाहनों में यात्रा करते हैं, वे **भारकस** कहलाते हैं । प्रायः सभी **भारकस** बैलों द्वारा खींचे जाते हैं । फारसी शब्द **बारकश** से विकसित शब्द ब्रजी का **भारकस** शब्द है । मुगल काल में अरबी-फारसी के अनेक शब्द हिन्दी की बोलियों में समाविष्ट हो गये थे । सूर और तुलसी ने अरबी-फारसी के अनेक शब्द अपने ग्रन्थों में प्रयुक्त किये हैं । अरबी '**शिर्कत**' के लिए तुलसी ने 'कवितावली' में **सरीकता** शब्द का प्रयोग किया है—

> "रावरी पिनाक में सरीकता कहा रही"
> --(कवितावली, बाल० छंद १९)

अरबी के 'शरीक' शब्द में हिन्दी का व्युत्पादक प्रत्यय—**ता** लगाकर तुलसी ने ब्रजभाषा का **सरीकता** शब्द बना लिया ।

(९) **रब्बा**—आकार में बहली से कुछ बड़ा वाहन **रब्बा** कहलाता है । इसकी छतरी आयताकार होती है । **रब्बा** शब्द अरबी शब्द **अराबा** से ही विकसित है ।

(१०) **रैंटी**—बड़ा चरखा **रैंटा** और छोटा चरखा **रैंटी** कहलाता है । सं० अरघट्टिका > अरहट्टिआ > रहटिआ > रहटी > रैंटी ।

(११) **हँड़िया**—मिट्टी का एक बर्तन जिसमें किसान दूध, दही, घी, तेल आदि रखते हैं, **हँड़िया** कहलाता है । सं० **भाण्डिका** > हण्डिआ > हँड़िया > यह विकास क्रम है । कुम्हार के चाक की **चकैंड़ी** में पानी रहता है । उसी में चाक का डोरा पड़ा रहता है । **चकैंड़ी** सं० **चक्रभाण्डिका** से विकसित है ।—हिन्दी का एँड़ी प्रत्यय सं० भाण्डिका का घिसा हुआ रूप है ।

* * *

बँगला और अंगिका में साम्य

—रामबहाल तिवारी

अच्छे पड़ोसी सुखी जीवन और पड़ोसियों में अगर आत्मीयता का वन्धन हो तो क्या कहना । केवल मनुष्य हीं नहीं भाषा के सन्दर्भ में भी यह वात उचित जँचती है । बंगला और भोजपुरी ऐसी ही पड़ोसिनें हैं ।

मध्यभारतीय आर्यभाषा काल की मागधी प्राकृत से उत्पन्न पश्चिमी मागधी या विहारी भाषायें तथा पूर्वी मागधी या बंगीय भाषायें पाई गईं । विहारी भाषाओं में मुख्य हैं— मैथिली, मगही तथा भोजपुरी । वंगीय भाषाओं में महत्ता रखती हैं— ओड़िया, असमीया तथा बंगला । अतः वंगला और भोजपुरी सगी नहीं तो मौसेरी वहनें तो अवश्य ही हैं ।

बँगला की पाँच उपभाषायें हैं— राढ़ी, झाड़खंडी, वरेन्द्री, वंगाली तथा कामरूपी । भोजपुरी के भी पाँच भेद माने जाते हैं—आदर्श भोजपुरी, पश्चिम भोजपुरी, नगपुरिया या अंगिका, मधेसी और थारू । राढ़ी या पश्चिमी बंगला एवं बंगाली या पूर्वी वंगला की भाँति आदर्श भोजपुरी एवं पश्चिमी भोजपुरी की प्रमुखता पाई जाती है । झाड़खंडी, वरेन्द्री तथा कामरूपी की भाँति नगपुरिया, मधेसी एवं थारू की महत्ता कम है । इतना ही नहीं ध्वनि, व्याकरण, शब्दभंडार तथा मुहावरों के विवेचन से भी वंगला तथा भोजपुरी में काफी साम्य पाया जा सकता है । आइये इस साम्य को संक्षेप में देखने की कोशिश करें । अंगिका भाषा के साथ बँगला को मिलाकर देखने से ही हमारा उद्देश्य कुछ हद तक पूरा हो सकता है । विस्तारित आलोचना का मार्ग भी मिल सकता है ।

'अंग-वंग-कलिंग' से जाहिर है कि वंग या बंगाल की भाँति 'अंग' भी एक प्राचीन देश है, उसकी भाषा भी पुरानी है । यद्यपि भाषा के लिए 'अंगिका' का उपयोग उतना पुराना नहीं है । कहा जाता है अंगिका बोलने वालों की संख्या लगभग पचास साठ-लाख है । वारह-चौदह लाख अंगिका भाषी तो भागलपुर जिले में ही हैं । बंगला भाषा पश्चिम बंगाल, वंगला देश तथा भारत के अन्य प्रान्तों में भी कुछ हद तक बोली जाती है । कुल मिलाकर बंगला-भाषियों की संख्या नौ करोड़ के लगभग है ।

हर भाषा या उपभाषा की खूबियाँ उसकी उच्चरित लय या सुर में झलकती पाई जाती हैं । किसी अजनबी के लिए उस लय या सुर को अपनाना एक टेढ़ी खीर

है। उस लय में ही भरी रहती है भाषा की माधुरी या लोच। भाषा प्रेमियों के लिए जो बड़े आदर तथा महत्त्व की वस्तु है। इसीलिए अपनी मातृभाषा पर मर मिटना बड़े आनन्द तथा गौरव की वात मानी जाती है। मातृभाषा वंगला की रक्षा के लिए बंगलादेशवासियों का आत्मत्याग इस सन्दर्भ में एक अनोखा मिशाल वन कर रह गया है —"इक्कीस फरवरी: शहीद दिवस"। हम यहाँ संक्षेप में अंगिका के साथ वंगला की विशेषताओं को मिलाकर देखने की कोशिश कर रहे हैं। यद्यपि चर्चा अंगिका की करने जा रहे हैं पर ध्यान भोजपुरी की तरफ ही है।

भाषा एक गतिशील विधा है। वहते नीर के साथ इसकी तुलना की जाती है। भाषा जन-जीवन को सँवारती है और जन-जीवन भाषा को सजीव सक्रिय तथा गतिशील वनाये रहता है। अंगिका तथा वंगला भाषाओं का इतिहास इसका सटीक गवाह है। यद्यपि भौगोलिक आदि कारणों से दोनों में युगोपयोगी अन्तर स्पष्ट है। फिर भी उस अन्तर की ओट में दोनों का मिला-जुला रूप भी दिखाई पड़ता है। इसके लिए आँखें, कान तथा मन को खोल रखना तथा उदार होना जरूरी है।। इसी उदारता से ही हम वाहरी भेद-भाव की ओट में चिरंतन राष्ट्रीय ऐक्य को देख तथा अपना सकते हैं।

ध्वनि साम्य

वंगला तथा अंगिका की ध्वनियों को मिलाकर देखें तो हमें पता चलता है—

अंगिका में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ कुल दस स्वर हैं वंगला में इसके साथ 'ऋ' भी है, यद्यपि यह ऋ, 'रि' उच्चरित होती है।

अंगिका तथा वंगला दोनों में 'अ' आधा विवृत एवं संवृत उच्चरित होता है। जैसे—चमअरा, सरल तथा 'मटर', मटोर व मोटोर। शब्द के अन्तवाले इ, उ, य, ज्ञ, क्ष आदि के प्रभाव से प्रारंभिक 'अ' वर्तुलायित होकर 'ओ' वन जाता है। 'आ' के उच्चारण में भी दोनों में साम्य है—कहीं दीर्घ तो कहीं ह्रस्व। एकान्तर में दीर्घ तो—माँगे-चागे, जावो में ह्रस्व, फिर रा-म् व रामा वतार। दोनों भाषाओं में दीर्घ स्वरों की प्रवणता ह्रस्व की ओर तथा ह्रस्व स्वरों की प्रवणता दीर्घ की ओर पाई जाती है। मतलव आमतौर पर ह्रस्व-दीर्घ में कोई अन्तर नहीं दीखता। अंगिका की भाँति वंगला में भी एकाक्षर शब्दों में दीर्घ स्वर दीर्घ ही उच्चरित होते हैं—आव-जाव, खा-पी, ऊट्, मेघ्, जोड़, राम-नाम, फी-स, सीस, रूप, एक, रोग-शोक आदि। वंगला में 'ए' का उच्चारण विवृत्त या विकृत भी होता है—जैसे—एका (याका) देखा, (द्याखा), तेल (त्याल) आदि। 'ऐ' तथा 'औ' दोनों रुद्धस्वर (closed vowel) या संध्यक्षर अइ>अए एवं अउ>अओ से बने पाये जाते हैं अंगिका में, पर वंगला में अइ>ओइ तथा अउ> ओउ बने हैं।

दोनों भाषाओं में २५ स्पर्श वर्णों के साथ र, ल, ड़, ढ़, स, ह आदि व्यंजन पाये जाते हैं। आम तौर पर य=ज तथा व=व रूपों में ही प्रयुक्त होते हैं। उपरन्तु बंगला में य़, क्ष, ज्ञ, त्र आदि का व्यवहार भी होता है तत्सम शब्दों में। बंगला में दरअसल तीन ज, य (ज) य़ काम में लाये जाते हैं—जहाज, यदि (जदि) रामायण, राय आदि। 'व' ध्वनि तो है ही नहीं; कभी कभार आवश्यकता पड़ने पर 'ओय' से काम लिया जाता है। जैसे तिवारी बंगला में 'ति ओ या री' लिखा जाता है। अंगिका में 'श', 'ष' तथा 'ण' नहीं उच्चरित होते और बंगला में 'स', 'ष' तथा 'ण' का उच्चारण नहीं होता। पर तत्सम शब्दों में ये लिखे जाते हैं। अंगिका में 'स', 'न' तथा बंगला में 'श', 'न' का ही अकसर उपयोग होता है।

स्वर भक्ति, सम्प्रसारण, अपिनिहिति, अभिश्रुति; अल्पप्राणी भवन, अघोषी भवन, घोषी भवन, वर्णविपर्यय, वर्णलोप आदि ध्वनि परिवर्तन में भी बंगला तथा अंगिका में साम्य है। जैसे—

रत्न > रतन, लवण > नून, नुन, राति > राइति > राइत, नियम > नेम, आइज > एज, शृंखल > सीकड़, सेकड़, लघुक > हलुक, हल्का, हाल्का, मजदूर > मजूर, मजुर आदि।

लिंग

अंगिका तथा बंगला दोनों के लिंग-बोध भी आपस में मिलते-जुलते पाये जाते हैं। मुख्यतः स्त्रीलिंग तथा पुंलिंग ही हैं। क्लीवलिंग बस कहने भर को है। क्रिया तथा विशेषण लिंग प्रभाव मुक्त पाये जाते हैं। बकरी चरै छे, छागल चरछे। कहने से बंगला में दोनों लिंगों को समझा जाता है। लाल बकरा। लाल बकरी। की भाँति बंगला में भी सुन्दर छेले, सुन्दर मेये चलता है। आकारान्त विशेषण से अंगिका में लिंग बोध हो सकता है—जैसे बड़का लड़का, बड़की लड़की। पर बंगला में ऐसा नहीं होता। पुंलिंग शब्दों को स्त्रीलिंग बनाने के लिए दोनों भाषाओं में आमतौर पर ई, नीः इनी आदि प्रत्ययों को जोड़ा जाता है। पर इन्, आइन् (दुलहिन्, पंडिताइन्) आदि अंगिका के तथा बउ, मेये (नापित-बउ, मेये शगल) आदि बंगला के कुछ खास प्रयोग हैं।

वचन

वचन-विधान भी अंगिका तथा बंगला के लगभग एक-से ही हैं। एकवचन तथा बहुवचन। एकवचन रूपों के साथ सिन्हो, अन्हि प्रत्यय लगाकर बहुवचन के रूप बनते हैं। साथ ही 'सब' या 'सभ' या 'लोग' जोड़ कर भी बहुवचन का काम चला लिया जाता है अंगिका में। बंगला में रा, एरा, गुलि, गुला, दिग, देर आदि प्रत्यय एवं बहुत्व-वाचक सब, सकल, समस्त आदि शब्दों के विशेषणात्मक प्रयोग से भी बहुवचन बनता है।

कारक

कारकीय पुष्टि के लिए अंगिका तथा बंगला दोनों भाषाओं में परसर्ग तथा विभक्तियों से काम लिया जाता है। कर्त्ता कारक में ०, एँ (ए); कर्मकारक में—के; सम्प्रदान—लागि, अधिकरण—ए, तथा संबन्ध में र, केर—के रूपों में साम्य है। दोनों भाषाओं के कर्त्ता में 'ए' का प्रयोग देखिए—रामधनें कहल कै। पागले कि ना वले, छागले कि ना वले। संबोधन के लिए अंगिका में पुंलिंग हे, हेरे, स्त्रीलिंग—हेगे, होगे और बंगला में पुंलिंग—हे, ऽहयाँगो, ओगो, स्त्रीलिंग—लो, ओ लो आदि चलता है।

विशेषण

दोनों भाषाओं में विशेषण अपरिवर्तित रहते हैं। फिर भी अंगिका में आकारान्त विशेषण पुंलिंग से स्त्रीलिंग में ई-कारान्त हो जाता है—जैसे वकरा-बकरी, लड़का-लड़की, बउका-बउकी आदि। दशोपरान्त संख्यावाचक विशेषण अल्पप्राणित हो जाते हैं—

अंगिका—एगारो, बारो, तेरो, पनरो, अठारो आदि।

वंगला—एगारो, वारो, तेरो, पनेरो, आठारो आदि।

निश्चित पूर्णांक अंगिका में 'ओ' तथा वंगला में टि, टा, टे की सहायता से बनते हैं—

अंगिका—एगो, दुग्गो, तीनों, सातो,
बंगला—एकटि (एकटा) दुटि, पाँचटा, सातटा।
राशिवाचक शब्दों में भी साम्य है—
अंगिका—जोड़ा, गंडा, गाही,
बंगला—जोड़ा, गंडा, गाछि।

गाछि से निश्चित पूर्णांक का भी वोध होता है— एक गाछि छड़ि, दश गाछि चुड़ि।

सर्वनाम

पुरुष वाचक सर्वनाम की दृष्टि से—अंगिका में 'अन्यपुरुष' नहीं है और बंगला में मध्यम पुरुष के तीन भेद पाये जाते हैं।

	उत्तमपुरुष	मध्यमपुरुष	अन्यपुरुष
अंगिका	हमें, हम्में	तें, तोंय	×
बंगला—	आमि, आमरा,	तुमि, तोमरा, (आपनि, आपनारा, तुई तोरा)	से, तारा

अन्य सर्वनाम के अन्य भेद भी पाये जाते हैं दोनों भाषाओं में पर उनमें शब्द तथा ध्वनियों की समता नहीं दीखती। केवल अंगिका के अनिश्चित सर्वनाम वाचक कुछु, किछु, कथु जैसे शब्द बंगला के अनुरूप कुछु, किछु, कतो आदि की याद दिलाते हैं।

क्रियापद

जहाँ तक क्रिया का सवाल है अंगिका में साधारण काल की रचना के लिए पुरुष, लिंग, और वचन के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रत्ययों का उपयोग होता है। पर बंगला में केवल पुरुष-भेद को महत्ता दी जाती है। लिंग तथा वचन-भेद नहीं माना जाता। अंगिका में √अछ् तथा √हो धातुजात क्रियायें सहायक-क्रिया काल को प्रस्तुत करती हैं। पर अछू का भावीकालिक रूप नहीं मिलता। बंगला में भी 'आछ्' (थाका) तथा 'हवा' सहायक क्रियायें हैं। आछ् का भविष्य कालिक रूप नहीं है। रह् और थाका से भविष्य रूप बनते हैं। दोनों भाषाओं में भविष्य रूप के लिए 'व' प्रत्यय का प्रयोग होता है—

	अंगिका	बंगला
उत्तम पुरुष एकवचन	देखवतो, होव, होवों	देखवो, हवो, होवो

अछ्/आछ् क्रिया के रूपों में भी दोनों भाषाओं में मेल है :—

भूतकाल :—	अंगिका	बंगला
उत्तमपुरुष एक वचन	छेलाँ, छेलाँव	छिलाम
मध्यम पुरुष एक वचन	छेला, छेलै	छिले
अन्य पुरुष एक वचन	छेल, छेले	छिल

हो/हव् क्रिया के भविष्यकालिक रूपों में भी एकता पाई जाती है—

भविष्यकाल :—		
उत्तम पुरुष एकवचन	होव, होवों	हवो, होवौ
मध्यमपुरुष एक वचन	होवे, होवें	हवे, होवे
अन्यपुरुष एक वचन	होत, होतौं	हवे, होवे

बंगला में मध्य तथा अन्य पुरुष के रूपों में कोई खास अन्तर नहीं दीखता, पर अंगिका में है।

अंगिका में दो प्रकार के कृदन्त रूप पाये जाते हैं—विशेषणात्मक तथा पूर्वकालिक। विशेषणात्मक वर्तमान 'त' भूतकाल 'ल' प्रत्यय के संयोग से बनता है—देखत लड़का, उड़त चिरई, गिरल बिरुआ, देखल रूप। बंगला में संस्कृत व्याकरण के अनुसार कृदन्त अतीत एवं कृदन्त भविष्यत् का प्रयोग होता है। फिर भी उड़न्त पाखी, चलन्त गाड़ी, फुटन्त जल जैसे वर्तमानकालिक प्रयोग के साथ ही पोड़ो बाड़ी, भाङा गाड़ी, छोड़ा तीर जैसे भूतकालिक प्रयोग भी मिलते हैं। अंगिका में 'क' प्रत्यय से असमापिका क्रिया का रूप बनता है—बइठ के खूब सुसअतैल। बंगला में इया>ए के संयोग से यह रूप बनता है—बसे खूब जिरिये निलो। दोनों भाषाओं में क्रियार्थक संज्ञा का भी व्यवहार है। हमरा देखल बा। एकर नतीजा हम्में देखब। बंगला में क्रियावाचक विशेष्य कहते हैं—देखा जिनिस आर देखवो ना। आपनि कि देखते चान ?

अंगिका में प्रेरणार्थक क्रियाएँ 'आ', 'वा' और 'आव' आदि के योग से बनती हैं। कट > काट; कट > कटवा; कट् + आव > कटाव। बंगला में इसको प्रेरक क्रिया कहते हैं। आन, आनो तथा ए > य की सहायता से प्रेरक क्रिया बनती है— हास् + आन + हासान, हास् = आनो > हासानो; हास + ए > हासाय।

अंगिका तथा बंगला दोनों में संयुक्त क्रियाओं की भरमार है—

अंगिका—फेंकि देलअ, जायल चाहत बा, वांचल करैला, लिहले जो, वजल चाहे छै, उगल चाहे रहै।

बंगला—वसेपड़ो, खेतेलागलो, बुझेनिस्, फेलेदिये, चलेगालो।

इसी तरह से दोनों भाषाओं में नाम धातु के प्रयोग भी पाये जाते हैं।

अंगिका—आकुल > आकु-लाव, गरम > गरमाओ, अंकुर > अंकुराव, लाल > ललाई, ओर > ओराई, हाथ > हथिआव, धक्का > धकिआइब्, ठेहुन > ठेहुनिआ (ना)।

बंगला—गंध > गंधानों, कातर > कातरानो, हात > हातानो, आँच > आँचाओ, आँचड़ > आँचड़ाइ, लता > लतानो, जुता > जुतानो, उत्तर > उत्तरिला।

अव्यय

अंगिका तथा बंगला में लगभग २० प्रकार के अव्यय व्यवहार में आते हैं। मुख्यतौर पर संयोग या सम्बन्ध वाचक तथा मनोभाव या अन्तर्भाव वाचक दो भागों में इन्हें रखा जा सकता है। कुछ अव्ययों के उदाहरण देखिए :—

अंगिका बंगला

कालवाचक—आज, काल्ह, तुरत, हरदम, घड़ी-घड़ी/आज, काल, संगेसंगे, हरदम, छन-छन।

स्थानवाचक—वाहिर-भीतर, एन्ने, ओन्ने, केन्ने/वाहिर-भितर, हेथा-होथा, कोथा।

परिमाणवाचक—थोड़े, टुक, तनिसन, तिलेतिल/अल्प, टुकु, एकटुखानि, तिलतिल

रीतिवाचक—एना, ओना, केना, सही, सचमुच/बाहबा, वेश, निघति, बटे।

समुच्चयवोधक—आओर, कि, चाही, मगर, भलुक/आर, आवार, तबु, वरंच, वरं, ना, हले।

विस्मय सूचक—वाह-वाह, खूब, हाय, रेहे, अरे/वाः वाः; खुब, बेड़े, छि छि इस, उः, आहा।

बंगला तथा अंगिका भाषाओं के अन्तर को अनदेखी कर, साम्य को उभारने का भरसक संकेत भर किया गया है इस नन्हें-से लेख में। इन दोनों भाषाओं में भाषिक—अंचल, भाषिक संख्या, चर्चा, आरोह, अवरोह की ऐतिहासिकता, साहित्यिक प्रयोग तथा उत्कर्ष के विवेचन से काफी अन्तर है। भाषा तथा उपभाषा होने के नाते अन्तर और भी गहरा हो उठा है। गतिशील भाषा होने के नाते ऐतिह्यानुकुल उद्दिष्ट मार्ग पर चलने, अन्यान्य भाषाओं के संस्पर्श में आकर कुछ लेने तथा देने का

अवसर पाकर बंगला जीवित रह कर फूलती-फलती आई है। रवीन्द्रनाथ आदि महान कवि-साहित्यकारों के लेखनी-स्पर्श से समृद्ध तथा धन्य होकर विश्व के दरबार में पहुँचने में सक्षम हुई है। पर अंगिका ऐसे अवसरों से वंचित रह गई है। अब हमारा ध्यान अंगिका जैसी जनपदीय भाषाओं की ओर भी जा रहा है। यह बड़े आनन्द तथा आशा की बात है। कारण बंगला और अंगिका की प्रवृत्तियों, व्यावहारिकता, युगोपयोगी बन उठने की मानस्विता में काफी साम्य है। अतः हार्दिक प्रयास से अंगिका की उन्नति तथा ससम्मान-स्वीकृति असंभव नहीं है। साथ ही अन्य जनपदीय भाषाओं की उन्नति भी परम आवश्यक है। कारण आपसी देन-लेन और मेल-मिलाप से ही जनपदीय भाषाओं में उत्कर्ष आएगा और उसी उत्कर्ष की नींव पर भारतीय भाषाओं की उन्नति टिक सकती है। नीरव अबाध चर्चा, प्रयोग, साहित्य-सृजन, अन्य भाषाओं से उच्चस्तरीय साहित्य कृतियों का अनुवाद आदि के जरिये जनपदीय भाषायें समृद्ध हो उठेंगी—इसमें कोई शक नहीं। जनपदीय भाषा-जननी एक हृदय हो।

* * *

ग्राम-जीवन के चितेरे कथाकार-निबन्धकार

डा० विवेकी राय का जनपदीय अवदान

—डॉ० भगवान सहाय चौधरी

'डॉ० विवेकी राय हिन्दी के आधुनिक प्रेम चन्द हैं' एक साहित्यकार मित्र ने कहा।

'प्रेमचन्द नहीं, वे उनसे और आगे हैं' पास बैठे हुए दूसरे एक विद्वान डॉक्टर ने जोड़ा।

और इस प्रकार पूर्वांचल,के साहित्यकार-मण्डल के सम्बन्ध में एक सरस परिचर्चा अनौपचारिक रूप में चल पड़ी! राही मासूम रजा, कुबेर नाथ राय, केदार नाथ सिंह, आचार्य कुलदीप नारायण झड़प, डॉ० अनिल कुमार आंजनेय, डॉ० शिव प्रसाद सिंह, डॉ० रामदरश मिश्र आदि रचनाधर्मी प्रतिभाओं के इर्द-गिर्द वार्ताला घूमता रहा।

मुझे सुखद आश्चर्य यह सोचकर हो रहा था कि आज के हिन्दी के प्रख्यात लेखकों के बारे में बढ़-चढ़ कर सूचना देने वाले माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षक औ प्रधानाचार्य थे। हमारे मथुरा-अलीगढ़ की तरफ तो शिक्षक लोग अपने लेखकों वारे में मौन रहना ही पसन्द करते हैं। सुख इस कारण भी मिल रहा था कि गाजी पुर की 'पोस्टिंग' इस नाते अच्छी ही रही कि यहाँ के लोग साहित्यक रूप से जाग्र हैं, कुछ देखने-सीखने को मिलेगा।

पी० जी० कालेज के प्राचार्य डॉ० तिवारी एक समस्या लेकर आये। सहयोग-सन्धानार्थ उनको साथ लेकर कालेज चल दिया। कालेज की परिक्रमा की वहाँ का विशाल पुस्तकालय देखकर बड़ा सन्तोष मिला।

चलने लगा तो हिन्दी विभाग की दिशा में पैर मुड़ गये। डॉ० विवेकी रा तीर्थ की दर्शनेच्छा ने जोर मारा। भारी भरकम प्रथुल काया होगी, सूटेड बूट होंगे, आँखों पर चश्मा भी होगा, काफी कुछ आधुनिक चाक-चिक्य-पूर्ण व्यक्ति होगा। मानसिक रूप से ऐसा एक रूप-बिम्ब डॉ० राय का बना था मेरे कल्पना लोक में।

हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० जितेन्द्रनाथ पाठक से ज्ञात हुआ कि उनके समी ही विराजमान जो सौम्य, भद्र सज्जन हैं, वे ही डॉ० विवेकी राय हैं—'फिर बैतल डाल पर,' 'गँवई गन्ध गुलाब', 'जुलूस रुका है', 'श्वेतपत्र', 'गूँगा जहाज,' 'नयी कोयल 'लोकऋण' 'सोनामाटी' आदि के प्रख्यात रचयिता। मेरे मन में कुछ पूर्व बना कल्पि चेहरा उस सौम्य सस्मित चेहरे में कहीं खो गया और मैं बातें करने लगा सर्वथा ए नये संवेदनशील भारतीय लेखक से। यह भेंट काफी संक्षिप्त रही, पर काफी कुछ दे गई

विवेकीराय जी से मिलना सचमुच सुरसरि-स्नान का सुख देता रहा है। अनवरत होने वाली साहित्य-गोष्ठियों, अनौपचारिक भेंटवार्ताओं में उनका व्यक्ति तो खुलता था, लेखक नहीं। लेखक को उनकी संवेदनशील आँखों में खोजा जा सकता था। गोष्ठियों में रहते हुए भी वह लेखक अपनी मेज पर रहता है, ऐसा मुझे लगा है। (लेखकीय आसन चौकी कहें, मेज नहीं। डॉ० विवेकी राय कुर्सी मेज का प्रयोग नहीं करते। उनकी साधना का लेखकीय आसन है चौकी—सम्पादक)

'साहित्यकार के दायित्व' पर, 'साहित्य और राजनीति' पर उनके विचार दो गोष्ठियों में सुनने को मिले। यहाँ उनका विचारक लेखक की मुद्रा में देखा जाता है। वे सर्वत्र सहज रहते हैं—कॉलेज में भी, मंच पर भी, सम्मेलनों में भी, आयोजनों में भी। आदरणीय हृदयेश जी का अभिनन्दन समारोह हुआ। उसके आयोजक विवेकी राय जी थे। 'पूर्वा' का प्रयोगधर्मी मंचन हुआ। वे सहज मुद्रा में रहते हैं। मेरे साथ करंडा कॉलेज में नामिका निरीक्षण किया। सहजता उनका आत्मिक गुण है।

मकान बनाने में सौ पचड़े होते हैं। वे मकान बनवाते समय कहते रहे कि बड़ी परेशानी में हूँ—राजमजदूर तंग करते हैं आदि। परन्तु उद्वेग देखने को नहीं मिला उनमें।

मैं उनकी सहजता को इस नाते रेखांकित करना चाहता हूँ कि भावुक लेखकों में वह विरल रूप में ही मिलती है। मैं सोचता हूँ, प्रेमचन्द शायद इतने ही सहज रहे होंगे अपने संघर्षशील जीवन में।

लम्बा कद, पतली छरहरी काया, गन्दुमी गोराई, जिज्ञासा और अनुसन्धित्सु दीप्ति से चमत्कृत नेत्र, प्रशस्त ललाट, सरल सहज मुसकराहट भरा सौम्य चेहरा, मधुर भोजपुरी वाणी, श्वेत खद्दर की धोती, ढीला कुरता, करीने से काढ़े गये सिर के बाल, पैरों में जलसा जूता, कभी-कभार चप्पल—कुल मिला कर एक सुदर्शन व्यक्तित्व पाया है विवेकी राय जी ने। बोलने या भाषण देने में संकोची स्वभाव, परन्तु जमकर लिखने वाला यह कथाकार-निबन्धकार एकदम गम्भीर और एकान्त प्रेमी दार्शनिक-सा है। वैष्णव सम्प्रदायी परिवार में जन्मे डॉ० विवेकी राय शांकर मत में दीक्षित हैं और उनकी अरविन्द-दर्शन में पूर्ण आस्था है। आचार्य रजनीश के तर्कों को वे स्वीकारते हैं। साहित्य में कबीर और प्रेमचन्द इनको प्रिय हैं। निबन्ध-लेखन में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी उनके प्रेरणास्रोत हैं। गाँव, गाँव के लोग, पुरातन संस्कृति, आधुनिक कथित प्रगति, गाँव की माटी, उसकी प्रकृति-सुषमा, ईतियों-भीतियों में डूबता-उतराता किसान, गाँवों की समस्यायें और उसके उपजीव्य डॉ० विवेकी राय की निष्ठायें हैं।

डॉ० विवेकीराय साठ के हो गये हैं, परन्तु मैं सोचता हूँ कि उनका 'मनबोध मास्टर' अभी चालीस का ही है। उनके साठोत्तर होने पर मैं उनको एक सौ आठोत्तर बधाइयाँ भेजता हूँ। वे शतायु हों।

डॉ० विवेकी राय ने ग्राम-जीवन पर पाँच सहस्र से अधिक पृष्ठ लिखे हैं, और आगे भी वे रचनारत हैं। ग्राम पर इतना पुष्कल, इतना समृद्ध और इतना प्रामाणिक साहित्य शायद ही किसी भाषा में लिखा गया हो। लगभग एक हजार भोजपुरी के आंचलिक शब्दों की मधुरिमामयी गन्ध से हिन्दी साहित्य को सुवासित किया है इस आधुनिक प्रेमचन्द ने। नाना वाहन-नाना वेश वाले अनेकानेक भूतपूर्व, और वर्त्तमान साहित्य शिविरों के साहित्यिक अधिवक्ताओं में एकमेव भारतीय धरती और उसके गाँवों की व्यथा-कथा की अधिवक्तृता करने वालों की जब कभी खोज होगी, तब कदाचित् विवेकी राय का ही नाम प्रथम होगा, यह विश्वास हैं।

डॉ० जितेन्द्र नाथ पाठक ने 'फिर बैतलवा डाल पर' की भूमिका में सटीक ही लिखा है कि विवेकीराय जी की शैली उनकी अपनी है और भंगिमा भी उनकी अपनी। मेरा अपना निश्चित मत है कि शिल्प भी बहुत कुछ उनका अपना है और भाषा तो उनकी अपनी है ही। डॉ० विवेकी राय के कृतित्व पर गम्भीरता पूर्वक शोधकार्य होना अपेक्षित है ही, उनकी भाषा-शैली और शिल्प सर्वाधिक ध्यान आकर्षित करते हैं। उसमें भी भाषा की छटा निराली है। रेखांकनीय यह है कि जो कुछ और जितना उन्होंने लिखा है—कहानी, उपन्यास, निबन्ध, रेखाचित्र, रिपोर्ताज आदि— उस सबकी विषय-वस्तु है—ग्राम और ग्राम-जीवन। उनकी बहुसंख्यक ग्रामभित्तिक रचनाओं में से प्रायः एक दर्जन पुस्तकों के अवलोकन करने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। उन सभी की भाषाभिव्यक्ति ने मुझे इतना प्रभावापन्न किया कि मैं सोचने लगा कि हिन्दी जगत् में क्या कोई दूसरा शिल्पी ऐसा मिलेगा, जिसकी हिन्दी आंचलिकता-जनपदीयता के सुविशाल धराक्षेत्र में शुभ्र-स्वच्छ अभिव्यक्ति के जनपदीय आभूषणों से अलंकृत, जनपदीय परिवेश के परिधानों में भारत के खेतों-खलिहानों, सीमान्त-सीवानों, बाग-बगीचों, नद-नदी-कछारों, सर-सरोवर-कूलों, वन-वीरूथ-फूलों, गली-गलियारों, वसन्त-पतझारों, सूखा और अतिवृष्टि की मारों तथा ग्रामों पर कहर गुजारने वाली ईतियों-भीतियों की हुंकारों में भी निर्द्वन्द्व-निष्कम्प छम-छमाछम नाचती-कूदती, फुदकती-कुदकती पूर्वांचलीय जनजीवन के पिछड़े परिवेश की दर्दीली कहानी से भारतीय बौद्धिकता को झकझोर-झकझोर कर रख देती हो ? विकेकी राय अपनी कथाओं में लोक कथाओं के विराट् रास का आयोजन करते हैं, तो पता नही ग्रामीण संस्कृति के कितने-कितने सुदूर-समीप जनपदीय कोनों से लघु-कथाओं के त्यौहार कतार बाँधे चले आते हैं।

रेखाचित्र खींचते हैं, रिपोर्ताज रचते हैं, तो अचानक ही उनकी पैनी अनुभूतियाँ, पता नहीं कब और कैसे, किन-किन भाषाओं के शब्दों के घर निमंत्रण दे आती हैं और पलभर में बिम्ब-चित्रों में अपने-अपने रंग भरने और रेखायें उकेरने के लिये पौरी-पौरी, पनघट-पनघट, हाट-बाट-घाट, डगर-डगर से शब्दों की दौड़ और जमघट का एक अभियान-सा छिड़ जाता है। शब्द अपने ठीक-ठिकाने 'फिट' बैठे—यथावसर, यथा बिम्ब। चित्रांकन मोहक-आकर्षक और धाँसू बनकर तैयार। फिर शास्त्रीयता दूर एक किनारे हाथ मलती खड़ी रह जाती है। विवेकी राय जी ने अपनी निजी शैली की ईजाद करके रामवृक्ष बेनीपुरी की स्वतंत्र-स्वतंत्रता संग्रामी रेखाचित्र-रिपोर्ताज-शैली को भी शायद ठेंगा दिखाकर यह कहने का सामयिक साहस किया है कि आज इसी शैली और इसी भाषाशिल्प की हिन्दी-पाठक को आवश्यकता है और इसी की सराहना वह करता भी है। कम से कम मैं तो विवेकी राय जी की कलम का कायल हूँ, जिसे एक समीक्षक ने 'विवेकीराय की जादुई कलम' कहकर मेरे मुँह की बात छीन ली है।

प्रिय डॉ० आंजनेय ! मित्र, कृपया क्षमा करें, बात जनपदीय अवदान की कहनी है, स्वाभाविक ही है कि विवेकी राय जी के व्यक्तित्व और उनकी भाव.-भिव्यक्ति की आरती का दीपक बालना बहुत जरूरी था। विवेकीय राय जी के विपुल रचना-संसार से जनपदीय भाषा के अवदान का आकलन-मूल्यांकन एक लेख में समेटना अकल्पनीय होगा। उन्होंने अपनी रचनाओं में सहस्रों जनपदीय और देशज शब्दों का प्रयोग करके हिन्दी का शब्द भंडार समृद्ध किया है। यहाँ उनकी एक रचना पुस्तक 'जुलूस रुका है' से से कुछेक शब्द देना पर्याप्त होगा।

दँवरी-ओसावन, गँजे, भइँसवट, साइति, उकाँव, सगरे, ओखल, जाँत, जँतसार, सोस्ती श्री सर्व उपमाजोग, नेवता, नेग-जोग, ईस्सर पइसे, दलिद्दर निकसे, झोरा-झाँपी, सावा, कोदो, भाई-भयवद्दी, मठिया, महंथ, गमछा, खाटी, चउरा, ताहालरी, मरकीलौना, पूता, सहरे-सहरे, चाकरी, अँटना, घूर कतवार, बँसवारि, बँड़ेरी, घेरौना, हलवाह, जुआठ, बुढ़ऊ, मनसायन, दुवार, मरजाद, बबुआ, बचवा, नयकवा, चिहाना, नचनिया, छूँछ, झोंटा, कौआबोलान, गँवई, कपार, जत्रार, भकुआ, हुल्ला-हड़कम्प, झुल्ली-फतुली, कोल्लड़, चहेटना, लिहो-लिहो, उपनेवास, सोराज, लुंगी, जोगाड़, अगराकर, दँवरी, कोड़ना, दू-दू जना, सीवान, फुटमत, चियार, सुरुवा, चुनौटी, दुरमिस, पंगत, करमठ, भकसावन, अचके में, बियामारू, छेंकना; हेलना, कुटकुर, पनही; कसरिया, तवाठी, आवाँ, तरना, हरहे बराना, टोंट, कोई, खेझड़ा, सेवार, झाँव-झाँव झावर, हींढ़ना, माठा-झावर, हाड़ क-बाड़ुक, बुड़ुआ, रिगानी, डब्भ, छिछियाना, उघटापुरान, तेलउँस,

क रेखा, मयगर, झुलनियाँ; मींजना, फींचना, फच्च-फच्च, बीहड़, सुखार, उपरवँ जियरा, लुलुआना, अउँजाना, अँवासना, गज्जी, कचारना, निनिया, झुलुहवा, किरौना, सोझारू, लजारू, बहुरिया, फेंकरना, झंखन, समहुत, माहुर, बोहना, बिछलना, पागुर, माठना, अददी, खेह, भटना, कबाहटि, सीकमभर, कक्कन, सहोथ, कोंढ़ी, लुरिगर, कमासुत, रगरा-झगरा, पहर, अँखमुछा, भठ्युग, नीसठ, पलरा, अरार, टूअर, सुरसत्ती, गंगिया, काँकर, बरखा, वेहरी-भेजा, लोर, चउरठ, अँजोरिया, चउंआ-चाँगर, हँकड़ना, लेहना-पताई, अगाही, चूहानी, मुआर, बदं, ओरी, सरेहि, भम्ह, छुलकी, पलिहर, बरिस, नेनुआ, बभनइया, दोनवार, जिउतिया, अनतवा, खधोर, सेरवाना, पनियारी, बहुरा, चउथि, सतिमि, लतरी, मंठा, सुतार; कांख, धरहर, ढाठा, खाँची, भुसहुड़, सावढ़, परानी, ढमिलाना, कजरौटा, खदरना, चाँचर, बित्ता, बनिहार, धधाना, सिरनी, बिछली, मोआर, बेरह, बरिआई, धरान उजरुआ, पलानी, धरन, भुरकुस; मल्लू, नैहर, साँसत, बगोला, गोंयड़, लुकाड़ बगदना, घुंडी, हँसुली, उतरना, बान्हना, गोड़, बहुअरि, भंगटी, भुंडी, अड़िया सिकड़ी, कंगना, फुरुहरी, चुंथना, धिया; छुछिया, बद्धी, कंठा, जई-चपकल्ली चाँपना, सट्टा, बहरखूटा, बिजायठ, झबुली, पछुआ, पछेलिया, बँगुरी, ककनी, ह सीकर, डँड़कस, गोडहरा, घुघुर, पइरी, पउआपलानी, पोरिया, अँचरी-मनोरि झुल्नी, घघरी, फुफुती, झब्बा, गलसिल्ली, गहनापा, सरबसोन, अठान-बिठान झाऊ, चामक-चूमक, मलावट, राँड़, जिनगी, लुगरी-लेवा, भगई, घँघरी, गाँ पढ़ुई, अतवार, दोलरिया, तिलरिया, लरिका, लरिकौरी, कनिया, जुठारना गोन्ही, कठौती-डोकी, खाप, पुतरी, झाँझर, मँड़वा, सुरुजदेव, कइनि, आन्ह कोहबर, गाँजना, टुनुकना, थपरी, बिलोबाँट, हंडमंड, टिकुली, बदरवा, कजरवा फगुनवा, सगुनवा, रोधना, मुनरी, गोरिया, पनवा, हिन्नू, अधवा, लचखा, निठल्ल बँसखट, सिरहाने, भोंपा, गोंट-मोट, भाँजना, टिप्पस, ढेंकली, लुटिया, देवकुर, खेव सूदमूर, कपारकौरेटी, जाँगर, ठेठाना, लुगरी, गहिथिनी, माठा पातर, मटक तजिया, मुइयाँ, मौसियाउत, बझउझा, गोंइठा, मटिही, धूलिया-धपधपिया छव धाँगना, झबर-झबर, बढ़निहा, अकिल, बउराना, बरमलूक, हराइयां, सरेहि रिरिकार, मरियल, कौआलुकान, डीभी, झींसफुस, छेंकना, गुदरी, किकुरी, नेवा सोनगाँछ, डँडार, तीसी, झब्बे, गोई, छिपिर-छिपिर, बूता, इक्के दुक्के, निहुरे-निहु पुवाल, बनिहार, हेंड़ा, ढेकुल-ढेकना, भद्दगी, मघौटी, करसकमाई, धाहना, बिलटन तुमड़ी, खेतहा, अंटा, फगुनहट, गोजई, दूधा, रेंड़ा, झंखन, पिल्ले, धुआंसा, भदवा पाँक, कच्छा, पुरवइया, पछुआ, पनारी, जलहाव, पुरबा, उकांव, गड़गड़ग बदरछाँही, जिआन, आंजन, करकना, कुरौनियां, दँव[illegible] पोढ़, अँकवार, मनिया

हूँफना, टेंट, उकास, डांटी, अहबाढ़ी, गुमसाइन, करकट, अउँजाहट, गोचना, चइती, डांडमेंड़, कटिया, बोलीवानी, सालमाथ, उज्जर, कोड़री-कमाची, डोरी-मुनरी, उड़सना, अगोरना, गोहरे, खटिया, फगुआ, अजगुत, वूकना, पतरकी, उखमंज, तिजहरिया, घिवही, करमट, पोखरा, गड़ही, सरपट्ट, बाभन, कवार, बरोह-डोरे, घसियारा, पुरनिया, डीह, सायर, अंजारी-बेरामी, करंत, उकठे, पाड़ा-पाड़ी, रेजपाई, निहंगड़े, माकना, हँकड़ना, घूरा-गन्हउरा, डीह-डावर, बबुआ-बबुनी, बैला बछिया, सकोरे, दियरी, मचिया, सरधा, छाड़ी, भेंकर, थापा, ओद, कुकुरोंछी, घुमरी-परीआ, वरध, एड़ी, दोड़ी, तिड़िया, चौडी, चम्पा, गुल्ली उड़ाई, झांड़ा-पतुक्का, धवरा, बंतू, चांड़; लपचा, नाधना, डाँकना, अकरे की, आँवक, छिउंकी, चूची; कौहद, सोनारा, किसिमा, छरियाना, आजी, बिलारी, धवरी, सनिया, काँख, बिरुज, जांगर, छवर, चिउड़ा-पटउरा, डग्गा, अगवार-पिछवारे, डढ़िया, छरकना आदि ।

दिवेकी राय जी का रचनाकार भाषाओं का जादूगर है । शत-शत ध्वनि-मूलक शब्दों की कतार-दर-कतारों, शब्द-युग्मों की झालरों, जनपदीय लोकोक्तियों और मुहावरों की गहगही रंगीन कनातों, ग्रामोक्तियों की झलर-मलर कन्दीलों, भावोद्भावनाओं और भावोद्‌गारों के हाई वोल्टेज के चकाचौंधी ज्योतिष्कपुंज बल्बों की जगर-मगर और कटाक्षों-व्यंग्यों और मीठी-मीठी चुटकी भरे सहज कथनों से विवेकी राय जी के कृतित्व-व्यक्तित्व का पंडाल ग्रामभित्तिक रचनाकार जगत् में शीर्षस्थ प्रतिष्ठित है । शुभं भूयात् ।

*

‘वसुदेवहिण्डी’ में अंकित लोकजीवन और लोकाख्यान के तत्त्व

□ डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

आचार्य संघदासगणी (अनुमानतः ईसा की तृतीय-चतुर्थ शती) द्वारा प्राचीन, अर्थात् आर्ष प्राकृत-भाषा में निबद्ध ‘वसुदेवहिण्डी’ का प्राच्य कथा-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। प्राच्यविद्या के पांक्तेय मनीषियों की धारणा है कि ‘वसुदेवहिण्डी’ गुणाढ्य की पैशाची-निबद्ध नामशेष ‘वृहत्कथा’ का प्राकृत जैन रूपान्तर है, जो ब्राह्मण-परम्परा में प्राप्त रूपान्तरों की अपेक्षा मूल ‘वृहत्कथा’ के अधिक निकट है। इसमें कृष्ण के पिता वसुदेव ने अपने हिण्डन (भारत-भ्रमण) का वृत्तान्त, आत्मकथा शैली में, अपने वेटों-पोतों को सुनाया है।

यह ‘वसुदेवहिण्डी’ प्राचीन भारतीय लोकचित्रों का विशाल संग्रह है, जिसमें तत्कालीन लोकजीवन की अनेक मोहक छवियाँ अपनी विविधता और विचित्रता के साथ प्रतिविम्बित हैं। इन लोकचित्रों में संघदासगणी ने उस युग के भारतीय समाज के सत् और असत् पक्षों का अतिशय समुज्जवलता और समीचीनता के साथ उद्भावन किया है। उन्होंने समाज की उन वुराइयों का भी परदाफाश किया है, जिन्हें पढ़कर पाठकों की नाक-भौंह सिकुड़ने लगती हैं और अच्छाइयों के भी ऐसे उत्कृष्ट चित्र प्रस्तुत किये हैं, जिनसे भारतीय समाज की महनीयता पर हृदय गर्वोद्ग्रीव हो उठता है। कुल मिलाकर, ‘वसुदेवहिण्डी’ में जन-जीवन के वहुरंगे आयामों का भव्य निरूपण करने वाली असीम सामग्री समाहित है।

संघदासगणी ने लोकजीवन या सामाजिक जन-जीवन के चित्रण में समाज की सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानसिक संरचना का ध्यान रखा है। इसलिए, ‘वसुदेवहिण्डी’ में मानव-विकास की उस आरम्भिक दशा का प्रदीप्त चित्रण मिलता है, जो नृतत्त्व-शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय का प्रस्थान बिन्दु है। कथाकार द्वारा प्रतिपादित आदिम समाज के उल्लेख से यह धारणा रूपायित होती है कि साधारण जनमानस या लोकचेतना परवर्त्ती बौद्धिक समाज की तुलना में अधिक उर्वर थी। इसलिए, ‘वसुदेवहिण्डी’ में तत्कालीन मानव-समाज की सर्जनात्मक प्रतिभा का अनायास ही उद्रिक्त और अकृत्रिम रूप उपलब्ध होता है। निस्सन्देह, इस महार्घ कथाकृति में परवर्ती सामाजिक चेतना के विकास की सभी प्रवृत्तियाँ बीज रूप में विद्यमान हैं तथा

आधुनिक समाज की अनेक विशिष्टताएँ इसमें पूर्वाशित हैं। संघदासगणी ने अपने युग की भावभूमि और चेतना के अनुरूप सामाजिक भावनाओं या लोकचेतनाओं के मूल्यवान् पक्षों को उभार कर सामने ले आने का प्रशंसनीय सारस्वत प्रयास किया है, साथ ही उसे अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि और अपूर्व कथा-कौशल द्वारा गहन मार्मिक भावों से मण्डित कर सर्वथा एक नये परिवेश में प्रतिष्ठित कर दिया है।

आगमोत्तर प्राकृत-कथा के महान् प्रवर्त्तक संघदासगणी न लोकजीवन या मानव-समाज के चित्रण को रूढ़ियों या मिथकों या रोमांस-रंजित तथ्यों के अलावा सामाजिक मनोविज्ञान और काममनोविज्ञान के सिद्धान्तों से भी संवलित किया है। इस प्रकार, कथाकार ने समाजगत आर्थिक और धार्मिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में काम-कथा का अद्भुत कायाकल्प किया है। स्वच्छन्द और उद्दाम शृंगारिकता को वैराग्य के उत्कर्षण में पर्यवसित करने की कला के द्वारा कथाकार ने धर्म और समाज को मानव-अभ्युदय के कारण-घटक के रूप में उपन्यस्त किया है। इसलिए, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में लिखी गई 'वसुदेवहिण्डी' की समग्र कथाओं की धर्मभावना कामभोग की अकृत्रिम अथवा सहज प्रतिक्रिया का रसमय प्रतीक बन गई है।

संघदासगणी ने ऐतिहासिक परिवेश में समुज्जृम्भित लोकचेतना के सन्दर्भों का सामाजिक तथा सांस्कृतिक सार्थकता के साथ परीक्षण किया है, साथ ही सामाजिक जीवन के उचित मूल्यांकन के लिए व्यक्ति के साथ युग की पृष्ठभूमि पर भी विचार किया है। इसलिए, 'वसुदेवहिण्डी' में सामाजिकों की अस्मितायुक्त व्यक्ति-चेतना का आस्फालन भी यत्र-तत्र दृष्टिगत होता है। कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' में, लोकजीवन के सन्दर्भ में उस काल की जन-संस्कृति और सामाजिक अवधारणाओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। इस सन्दर्भ में कथाकार ने कहीं-कहीं मनुष्य के गुणात्मक उन्नयन की चरम परिणति का प्रदर्शन किया है, तो कहीं-कहीं उसके गुणापचय की पराकाष्ठा भी दिखलाई है। सामाजिक मनुष्य के गुणात्मक उन्नयन में नैसर्गिक मांगल्य-शक्ति की प्रतिष्ठा कथाकार का चरम लक्ष्य है, इसलिए उद्दाम शृंगार या कामोष्ण भाषा में व्यक्त शृंगार भी कथा के कल्याणमूलक फलक पर चित्रित हो जाने के बाद सामाजिक वैभव के रुप में उन्मीलित हो जाता है। सामाजिक जीवन में चित्रित पुरुषार्थचतुष्टय की साधना और स्नैहिक अनुबन्ध या प्रणय के गाढाभिनिवेश का इतिहास एवं उन्नत तथा लोकसत्य को मण्डित करनेवाला रूप 'वसुदेवहिण्डी' में पदे-पदे परिलक्षित होता है।

कल्पना के कुवेर संघदासगणी ने लोकचित्रों को प्रस्तुत करने के क्रम में सामाजिक मनुष्य के विचारात्मक और भावात्मक परिवेश को बदलकर एक नई मनुष्यता की

प्रतिमा गढ़ी है। महान् कथाकार संघदासगणी की सबसे बड़ी शैल्पिक विशेषता इस अर्थ में है कि वह अपनी कथा-रचना के पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध में पूर्वव्यक्त तथ्यों की आवृत्ति नहीं करते, अपितु अपनी 'भासा'[1], अर्थात् विशिष्ट प्रतिभा के द्वारा तथ्याभिव्यक्ति या वाग्वैकल्प्य की अनन्तता की सृष्टि करते हैं। इसलिए, उनके द्वारा परिकल्पित प्रत्येक लोकचित्र अनुक्रमशः रमणीय और नवीन प्रतीत होता है। डॉ० कुमार विमल के शब्दों में, "ऐसे कलाकार आस्तिकों के लिए ईश्वर की तरह होते हैं। ईश्वर की रचना-प्रक्रिया सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होती है। इसलिए, ईश्वर की सृष्टि में पुनरावृत्ति नहीं होती। 'बेबीबूम' के इस युग में इतने बच्चे पैदा हो रहे हैं, लेकिन किन्हीं के दो चेहरे एक-से नहीं लगते।"[2] इसी प्रकार, कहना न होगा कि संघदासगणी की कलात्मक कथासृष्टि में परात्पर नवीनता का माधुर्य निरन्तर बना रहता है और उसकी रमणीयता कभी घटती नहीं है। अतएव, 'वसुदेवहिण्डी' के सामाजिक चित्रण सहृदयों के लिए सतत श्लाघ्य बने रहते हैं, जिनसे सत्याभिव्यक्ति की दीप्ति निरन्तर समुद्भासित होती रहती है। कथा की रमणीयता का यह नैरन्तर्य उसमें न्यस्त चित्रणगत औचित्य पर निर्भर करता है। इसीलिए, क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवित सर्वस्व कहा है।[3]

संघदासगणी सामाजिक परम्परित जीवन-मूल्यों के निजी बोध को उत्तरोत्त समृद्ध करनेवाले कथाकारों में पांक्तेय स्थान के अधिकारी हैं। क्योंकि, उन्होंने अपनी उत्कृष्ट रचना शैली को कलात्मक आत्मनिष्ठता या वस्तुनिष्ठता पर निर्भर न करके उसे अपनी अन्तःप्रज्ञा द्वारा विकसित वस्तुग्रहण की शक्ति से संवलित किया है। इसलिए, उनकी कथारचना में केवल रुमानियत या भावुकता ही नहीं है, अपितु सामाजिक परिवेश के उपस्थापन-दायित्व के प्रति कलाकारोचित ईमानदारी भी बनी हुई है। इस प्रकार, उन्होंने कल्पनागत सत्य और वस्तुगत सत्य का समन्वय करके कलानुभूति और जीवनानुभूति का एक साथ उदात्त और परिष्कृत चित्र उपस्थि किया है। वस्तुतः, यथार्थ और कल्पना का पुंखानुपुंख सामंजस्य महान् कथाकृ की अपनी विशेषता होती है। इसीलिए, डॉ० कुमार विमल के शब्दों में, 'महा कलाकृति में अंकित यथार्थ 'मेटा-फिजिकल' होता है,[4] और यही उसकी शाश्वत प्रतिष्ठा का रहस्य है।

---

[1] 'भासा च नाम प्रतिभा महती सर्वगर्भिणी'—महार्थमंजरी।

[2] कला-विवेचन, प्राक्कथन, पृ० ६।

[3] 'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।'—औचित्य विचार-चर्
कारिका ५।

[4] कला-विवेचन, प्राक्कथन, पृ० ८।

इस प्रकार, लोकजीवन के तत्त्वों से संवलित 'वसुदेवहिण्डी' अभिजात कथाओं के गुणधर्म की प्रचुरता के कारण उत्तम लोकाख्यानों में मूर्द्धन्य है। 'वसुदेवहिण्डी' की कथा मूलतः कामकथा है, जो अन्त में धर्मकथा के रूप में परिणत होती है। प्राचीन रूढ़ कथा होने के वावजूद इसकी अद्यतनता या चिरनवीनता इस अर्थ में है कि इसमें आधुनिक युगचेतना या युगबोध का प्रतिनिधित्व करने वाले विश्वासों, प्रथाओं, परम्पराओं तथा सामाजिक अवधारणाओं का सम्पूर्ण विनियोग विद्यमान हैं, जो समाज के शिक्षित, अल्पशिक्षित और अशिक्षित जनों के बीच आज भी प्रचलित हैं। मनोरंजन, अनिश्चयता ('सस्पेन्स') और रोमांस को एक साथ उपस्थित करनेवाली 'वसुदेवहिण्डी' की रूढ़ कथाओं की परिधि में बौद्धिक चमत्कार, लोकानुश्रुतियाँ, पुराणगाथाएँ, अन्धविश्वास, लोकविश्वास, उत्सव, रीतियाँ, कला-कौशल, लोकनृत्य-नाट्य आदि समस्त तत्त्व सम्मिलित हैं। डॉ० सत्येन्द्र ने इसी प्रकार की कथा को 'लोकवार्त्ता' कहा है।[1]

रूढ़ कथा में लोककथा के तत्त्वों का अन्तर्मिश्रण सहज भाव से रहता है। इसीलिए, 'वसुदेवहिण्डी' की मूलकथा और उपकथाओं में लोकमानस की सहज अभिव्यक्ति हुई है, जिसमें लोक-संस्कृति के वास्तविक प्रतिविम्ब का बड़ा ही तीव्र उभार है। 'वसुदेवहिण्डी' की रुढ़ कथाओं की सर्वोपरि विशेषता यह है कि इनमें लोकचेतना की अन्तरंगता लोकमानस से गृहीत होकर भी इनका ऊपरी ढाँचा साहित्य की शास्त्रीय मार्मिकताओं पर आश्रित है। इनमें सार्वभौम स्तर पर समान रूढ़ियों और अभिप्रायों का उपयोग हुआ है। फलतः, लौकिक सौन्दर्य-बोध; लोकचिन्ता की एकरूपता और सर्वसाधारण अभिव्यंजना-प्रणाली की दृष्टि से 'वसुदेवहिण्डी' की कथाएँ विश्व की लोककथाओं से भावसाम्य रखती हैं।

रूढ़ कथाओं में वार-वार व्यवहृत होनेवाली एक जैसी घटनाओं अथवा एक जैसे विचारों को कथारूढ़ि या कथानक-रूढ़ि की संज्ञा दी जाती है। कथानक के निर्माण और विकास में योग देनेवाली, भूयोभूयता के साथ आवृत्त, उक्त प्रकार की घटनाओं या विचारों की सुदीर्घ परम्परा होती है। उदाहरणार्थ, 'वसुदेवहिण्डी' के कथानायक वसुदेव को विद्याधारियों द्वारा आकाश में उड़ा ले जाना, अन्तरिक्ष में ही; वसुदेव को पति बनाने के लिए विद्याधरियों का आपस में लड़ना और वसुदेव का उनके चंगुल से छूटकर कभी किसी बड़ी झील या कभी किसी पुआल की टाल पर आ गिरना एक घटना है। किन्तु, इस प्रकार की, कथानायक को या किसी राजकुमार को परियों द्वारा आकाश में उड़ा ले जाने की घटना 'वसुदेवहिण्डी' की ही नहीं है, अपितु

---

१. व्रजलोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ४।

यह 'बृहत्कथा' की परम्परा से गृहीत है और यही घटना परम्परा-क्रम से अनेक कथाओं में, विभिन्न उद्देश्यों की पूर्त्ति के निमित्त, एकाधिक बार प्रयुक्त होकर लोकप्रिय कथानक-रूढ़ि में परिणत हो जाती है।

विषय की दृष्टि से कथानक-रूढ़ियाँ दो प्रकार की होती हैं : घटना-प्रधान और विचार-विश्वासप्रधान। 'वसुदेवहिण्डी' की रूढ़ कथाओं में इन दोनों प्रकार की कथानक-रूढ़ियों का प्राचुर्य है। 'वसुदेवहिण्डी' की रूढ़ कथाओं में प्राप्य इन दोनों प्रकार की कथानक-रूढ़ियों की तीन शाखाएँ स्पष्ट हैं : धार्मिक रूढ़ियाँ, प्रेम-सम्वन्धी रूढ़ियाँ और युद्ध-सम्वन्धी रूढ़ियाँ। हालाँकि, 'वसुदेवहिण्डी' की समस्त कथारूढ़ियों का समाहार मुख्यतः लौकिक और अलौकिक इन दो वर्गों में हो जाता है। और इस दृष्टि से, 'वसुदेवहिण्डी' में लौकिक और अलौकिक कथारूढ़ियों का अद्भुत समन्वय उपस्थित हुआ है। रूढ़ियों के संघट्ट से कथा में चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति संघदासगणी की निजी विशेषता है।

ज्ञातव्य है कि सभी कथारूढ़ियाँ निरर्थक नहीं होतीं। कुछ ऐसी भी रूढ़ियाँ हैं, जिन्हें विलकुल असत्य नहीं कहा जा सकता। इनमें कुछ तथ्यांश भी अवश्य ही रहता है। अर्थात्, ये यथार्थ से भी सम्बद्ध रहती हैं। कथारूढ़ियों के विश्लेषण से कथाओं के उपकरणों और तत्त्वों पर भी प्रकाश पड़ता है। किसी राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए सात समुद्र पार जानेवाला राजकुमार सामान्य दृष्टि से भले ही असत्य हो सकता है, किन्तु कथातत्त्व की दृष्टि से वह अयथार्थ नहीं है। 'वसुदेवहिण्डी' जैसे शिष्ट या अभिजात कोटि के कथा-साहित्य में उपलभ्य कथानक-रूढ़ियाँ मूलतः लोक-साहित्य या लोक-कथाओं की देन हैं। परम्परा-ग्रथित लोककथाओं से असम्बद्ध रूढ़ियाँ प्रायोविरल हैं। कथानक-रूढ़ियों के मूल उत्स के रूप में अनेक प्रकार के लोकाचारों, लोकविश्वासों और लोकचिन्ताओं द्वारा उत्पन्न आश्चर्य से अभिभूत करनेवाली कल्पनाओं को स्वीकार किया जा सकता है। इन सबका उपयोग लौकिक एवं निजन्धरी कथाओं में निरन्तर होता रहा है।

* * *

गाँव का मन

—डॉ० विद्या निवास मिश्र

कभी-कभी अपने भीतर से एक प्रश्न का उत्तर पाना चाहता हूँ-काहे रे नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी, तुम्हें मुरझाने का कोई अधिकार नहीं है। खाने-पीने-रहने की औसत से कहीं अधिक सुविधा प्राप्त है। पद-प्रतिष्ठा भी प्राप्त है, जीवन को गति देने के लिए मित्र-शत्रु भी प्रचुर मात्रा में तुम्हें मिले हैं, बड़े-छोटों का वात्सल्य स्नेह भी मिला है, कर्म का उत्साह नहीं घटा है, पर कोई उत्तर नहीं मिलता। कुछ धटनायें यकायक याद आ जाती हैं और मैं भीतर से और घबड़ा उठता हूँ। लगता है, मैं उसी तरह फिर फँस गया हूँ।

एक घटना हांगकांग की है, दो दिनों के लिए वहाँ रुका था। होटल से घूमने निकला, सोचा कुछ देर घुमाया न जाकर खुद घूमूँ। एक रौनक वाली गली में मुड़ा, वहाँ समूचे पशु-पक्षी-साँप और तरह-तरह के प्राणी **खलिया** कर लटकाये गये थे। इस कसाई गंज से एकदम बगटुट भागा तो अचानक एक पूसरी गली में मुड़ा और मुड़ते ही मुझे अहसास हुआ कि चारों ओर जो आवाजें आ रहीं हैं, वे शराब से भर्रायी हुई हैं, जो चेहरे दिख रहे है उन पर अजीव वाजारू निठुरता है, ऐसी हँसी सुनायी पड़ रही है, जिसमें जहर फेनिल होकर बुदबुदा रहा है, दूर देश में अकेले इस लाल बत्ती वाले इलाके में ऐसा लगा कि अभी मेरी खाल उतार ली जायेगी। जो अनेक बुलावे आ रहे हैं, वे सभी खाल खींचने वाले बुलावे हैं। समझ में नहीं आ रहा था, क्या करूँ पर मैं चुपचाप विना वहुत भागने का भाव दिखाये वढ़ता गया। कहीं न कहीं तो सफेद बत्ती का इलाका आ मिलेगा, गली कहीं तो सड़क में मिलेगी। बाहर निकला तो एक सरदार जी चौराहे पर खड़े मुझे दिखायी पड़े, देखते ही मुस्कराने लगे पता नहीं मुझे परेशान देखकर या मुझे उस गली से निकला देखकर। जो हो उनका चेहरा मेरे लिए उस समय एक अंजोर था। कुल छः-सात मिनट शायद उस अनुभव से गुजरा हूँगा। मुझे लगा कि कितनी आशंकाओं के भीतर से गुजर चुका हूँ। कोई पासपोर्ट छीन ले, मुझे एकदम व्यक्तित्वहीन बेशिनाख्तं बना दे, सब पैसे रखवा ले। कोई पुलिस में रपट कर दे, कोई जबर्दस्ती कहीं धकेल कर-ले जाय और फिर मेरा शरीर प्रशान्त महासागर को समर्पित हो जाय।

दूसरी घटना अपने ही देश की है, नगर का नाम नहीं लूगाँ। हवाई जहाज से उतरा, जिनको सन्देश दिया था वे हवाई अड्डे नहीं पहुँचे। मैं रेलवे स्टेशन आया। सोचा, रात की गाड़ी से रिजर्वेशन करा लूँ तब किसी मित्र के यहाँ चलूँ। संयोग से जिस मित्र के घर चला उनका मकान नम्बर ठीक-ठीक याद नहीं रहा और रिक्शा किया, इतने में बुखार चढ़ने लगा, शरीर काँपने लगा। मित्र का वर काफीं दूर था और रिक्शे पर उस बुखार और कंपकंपी में तो लगता था पृथ्वी के दूसरे छोर पर है। सामान कुछ खास नहीं। हवाई जहाज पर साथ रखने वाला हैंड बैग था पर बुखार में वह काफी वजनी हो गया था। जैसे-तैसे मित्र के घर का पता चला, पर वे तीसरी मंजिल पर था। चढ़चे-चढ़ते मैं पसीने से एकदम तर हो गया और दरवाजे पर पहुँचते-पहुँचते गले में शब्द सूख गये थे। दरवाजा खुला, बड़ी इच्छाशक्ति बटोरी तो मित्र का नाम लेकर पूछा। पता चला वे नहीं है। दरवाजा फिर बन्द हो जाता है। मैंने कहा, मुझे प्यास लगी है, मित्र के परिवार के लोग शायद टेलीविजन या शायद रेडियो पर जमे थे। कोई भी आगन्तुक अनचाहा होता और जिन्हें वे लोग जानते नहीं वह तो एकदम अप्रिय ही होता। मैं उपचार से एकदम अकुला उठता हूँ। पानी पीकर नीचे उतरा, फिर स्टेशन लौटा। बुखार की तपन इस बीच कुछ कम हुई। मन में हुआ कि मान लो इ सीढ़ियों पर तुम लुढ़क पड़ते, मान लो तुम्हें एक गिलास पानी भी न मिलता मान लो, रिक्शे से ही बुखार में गिर पड़ते। बड़े शहर में कोई था जो तुम्हार तरफ कोई ध्यान देता। इतने में स्टेशन आ गया और एक रिश्तेदार भी मिल गये। वे घर ले जाना वाहते थे, पर स्वयं सपरिवार यात्रा पर जा रहे थे। मैंने कहा कि मुझे ट्रेन पर चढ़ा दें बस।

घटनायें और भी हैं, पर बड़े शहर में अचानक अकेले और अदृश्य भय से आक्रान्त होने की ये दो घटनायें मन में अंकित हैं। यही मेरे सवाल का उत्त है। प्यारे तुम्हारा मन गंवार है। सोचते हो जिधर जाओगें, उधर लोक हुलस उठेंगे-बड़का बाबू कहिया उछलें (बड़े बाबू कब आये)। सोचते हो कि जंगल में शे को मामा कहोगे और वह तुमसे कुशल क्षेम पूछने लगेंगा। सोचते हो; मि मित्र की तरह लेगा; शत्रु शत्रु की तरह। तुम नहीं कुम्हलाओंगे तो कौ कुम्हलायेगा। बुद्धि समझाती है, किस गाँव की बात कर रहे हो। वह गाँ पंचायत के महारुद्रयाग में हवि बन गया है। उस हवि से धुआँ निकल रहा है हिंसा का, प्रतिहिंसा का, ईर्ष्या का, आसुरी दर्प का। अब तुलसीफूल, रामकेशर ठाकुरभोग ये नाम धानों के नहीं रहे। धानों के नाम अब बीजगणित बन गये गाँव में अब आठ वर्षों में दर्जा दो पास फेंकूँ पाण्डे के सपूत पेटेंट दवाइयों के

प्रताप से डाक्टर हो गये। अब गिलोय की जड़, हरसिंगार की पत्ती और लसीड़े के फल से ज्वर कोई नहीं उतारता। बुद्धि से हार मानता हूँ। पर जाने क्यों एक हूक उठती है। सुख-सुविधाओं और सम्मान-प्रतिष्ठाओं के बीच तुम तो प्यारे पंक में, कीचड़ में, खिले थे। इतना पानी लेकर क्या करोगे !

मैंने गाँव में कुछ दिन आजकल की भाषा में समाज सेवा भी की और गाँव में नाले साफ करने से लेकर, गलियों-सड़कों को चौरस बनाने का काम भी किया है। प्लेग में दवा बाँटी है। प्लेग में मुर्दों को जलाने की व्यवस्था करायी है। पर मैं जानता हूँ; मैंने ये तथाकथित अच्छे काम गाँव के लिए नहीं किये। गाँव का आदमी होकर मैंने ये काम नहीं किये। गाँव का आदमी होकर मैंने निराई रोपनी के मधुर गीत भी नहीं सुने। आज हूक इसी बात की उठती है कि तुम गाँव में रहते हुए गाँव के नहीं हुए। तुम्हारे ऊपर नशा चढ़ा हुआ था कि तुम ग्राम उद्धारक हो। अपने देश के उन्नायक हो। सुनहरे भविष्य हो। काश ! तब सोचा होता सेवा का यह दम्भ कितना थोथा है। असली काम था अपने गाँव वालों को बतलाना कि तुम्हारी हुदूमत तुम्हारी हुकूमत होनी चाहिए। चपरासी बाबू तुम्हारे हाकिम नहीं हैं। चौकीदार दीवान दरोगा तुम्हारी दया के भिखारी हैं। कोई सुधार के काम न करता। केवल कागज-कलम वाले कोमल हाथों से शक्ति छीनकर हल, कुदाल छेनी, बसुली, हथौड़ी वाले खुरदरे हाथों में सौंपने के लिए आवाज उठा सकता। विश्वास दिला सकता कि तुम्हारे भीतर एक महाशक्ति सोयी हुई है।

'का चुप साधि रहा बलवाना'।

आज गाँव का मन जब इस तरह अकुला उठा है तब गाँव केवल चौहद्दी भर रह गया है। हूक इस बात की होती है कि तकनीकी विकास का यह महाव्याल जहरीली उसाँस छोड़ रहा है; पत्तियों की हरियाली, फूलों का रंग, आदमी की साँस सब निगलता जा रहा है। फसलों को कीड़ों से बचाने के लिए आदमी इस महाव्याल की आराधना कर रहा है। गाँव से उखड़कर दो कौर अन्न के लिए खुले आकाश की छत छोड़कर महाव्याल के मुंह में जाने को तैयार झुग्गी की साया लेने को लाचार है। वह आदमी झुग्गियों का मालिकाना हक पा चुका है। खुद बिलबिलाने वाला कीड़ा बन गया है। इस दारुण बिडम्बना की बात केवल जायका बदलने का एक मसाला है। पर कुछ कह नहीं सकता, जो कुछ कहूँगा वह भी मसाला हो जायेगा। कुछ कम जायकेदार पर स्वाद तो बदलेगा ही। कुछ लोग पेड़ों से चिपक रहे हैं पर हवा में पानी में जहर घुल रहा है। इनसे कैसे

चिपकें। प्रगति और जमाखोरी की दोनों की मिली-जुली साजिश के खिलाफ कैसे खड़े हों। कैसे कण्ठ खुले कि हम अपनी जरूरतें कम करें। हम गैर जरूरी चीजें घर से वाहर फेंक दें। गाँव का मन शहर में वहुत सहम-सहम कर रहता है।

गाँवों में जाने का मौका वहुत कम मिलता है। मकड़ी की तरह अपने जाले का पुल विस्तार कर लिया है। पिछले वर्ष गर्मियों में वारात लेकर गया। मेरे धेवती और मेरी भतीजी दोनों गयीं। मेरी धेवती गुपुल वस्ती शहर में पैदा हुयी, बनारस, आगरे में पली। दिल्ली में पढ़ रही है। उसने कहा-'नाना कमल का फूल मुझे दिखलाओ'। संयोग से एकाध पोखर में अभी कमल उस गाँव के पास खिलते हैं। कमल आ गया। तब उसने कहा—नाना कमल कहाँ खिलते हैं? दिखला दो'। ताल देखने गयी। ढेर सारे कमल लायी। घर ले चलेंगे। नानी को देंगे। अपनी देवी दुर्गा को चढ़ायेगी। कमल के फूल से पूरा छत्र तन जायेगा। देवी जी के सम्पुट के ऊपर। कुल चार दिन उस गाँव में रहा। गर्मियों के दिन खुले में सोना, खुले में नहाना और खुले चौवारे में चूल्हे की आग की लपटों की लहर लेते हुए भोजन बनाना, विठलाना और तव पाना, समधी के घर के परिजनों की खुली हँसी-दिल्लगी झेलना, सपने जैसे अनुभव थे और इन अनुभवों की रील में वार-वार जव कट होता था तो क्लोज अप में गुपुल हाथ में कमल का फूल लिए आ जाती। उसकी आँख, उसका हाथ, उसका चेहरा सव कमल वना हुआ। इतने ढेर सारे कमल। वारात शहर लौटी तो कमल नहीं रह गये थे और गुपुल रो पड़ी थी।

मैं नहीं रो सका। मेरी तो पूरी रील एक दूसरे पर चढ़ गयी। कमल के ऊपर जीप की हैंडिल आ गयी। खुले आकाश वाली उस वस्ती के ऊपर जीप आ गयी और जीप के ऊपर धूल का वंवडर आ गया। सपनों के लिए कोई रोता है!

कोई नहीं रोता, रोना भी नहीं चाहिए। पर वाणभट्ट, श्री हर्षदेव के दरवारी कवि क्यों रो पड़े? उन्हीं के आश्रयदाता की सेना कूच कर रही है, रास्ते में गाँव पड़ते हैं। गाँव वालों की सेना की रिहाइश का इन्तजाम करना पड़ता है। वे मन ही मन कोसते हैं। पर वच्चे पेड़ों पर चढ़कर मुँह वनाते हैं। हाथ में कुश और समिधा लेकर वन से घर लौटता हुआ पाठशाला का पण्डित तन कर खड़ा हो जाता है—कैसा राजा, किसका राजा जो इस तरह हरी-भरी फसलों को वरवाद करता चला जा रहा है। वाण तमक कर रुकते नहीं परिदृश्य को आगे ले जाते हैं। कुछ खरगोश झाड़ियों से निकालते हैं। मात्र नगाड़ों की गड़गड़ाहट से उत्सुक होकर कि क्या घटित हो रहा है और सैनिक टूट पड़ते हैं भालों से लाठियों से इन

मासूम प्राणियों का वध करने के लिए। खरगोश प्राण छोड़ कर भागते हैं। कुछ पैरों के बीच से निकल तो जाते हैं पर फिर फौजी कीलदार जूतों से उनकी चिन्दी-चिन्दी उड़ जाती है।

बाण क्यों खरगोश वन जाते हैं यही प्रश्न मेरे मन में उठा था जब गुपुल कमलों के मुरझाने पर रो पड़ी थी और यही प्रश्न पिर उठ रहा है :—

काहे रे नलिनी तू कुम्हिलानी !

ऐसा गाँव का मन और शहर का सुख विलास, ऐसी अनढकी सचाई की झलक और अपने अत्यन्त आत्मियों के बीच झूठ के बिना काम न चलने को लाचारी, ऐसी जीवन की पीड़ा और ऐसी मृत्यु के हादसे के बारे में केवल कुतूहल का भाव। यह द्वन्द्व मुझे कहीं रहने नहीं देता, जीवन के लिए हरी धरती के लिये, खुले आकाश के लिए तरसाता रहता है, लाल बत्तियों से धरवाता रहता है और डर दिखाता रहता है-तुम्हारी खाल उतार ली जायेगी बराबर जीवताप ऊँची सीढ़ियों पर चढ़ता-उतरता रहता है, एक गिलास पानी के लिए तरसाता रहता है।

◆

जनपदीय आन्दोलन-जनकल्याणी योजना

—महेशचन्द्र गर्ग

निसन्देह जनपदीय आन्दोलन जन सामान्य के कल्याण की एक महान् और महत्त्वपूर्ण योजना है। इससे राष्ट्रीय एकता, अखण्डता, भाषा के विकास में कोई व्यतिरेक उत्पन्न न होगा अपितु उसका मार्ग सरल होगा। व्यक्ति से समूह-समाज-राष्ट्र और फिर विश्व सम्वन्धित है। हम जनपदीय भाषाओं के विकास को पीछे करके राष्ट्र का विकास नहीं कर सकते। 'वसुधैव कुटुम्बकं' की उदात्त भावना यदि अपने अन्दर लानी है तो जनपदीय आन्दोलन को सक्रिय करना होगा। मानव जाति आज तक ज्ञान के आधार पर जीवित है। विस्तृत ज्ञान-दर्शन-विज्ञान को प्राप्त करने के लिये और उसे उपयोगी बनाने के लिये भाषा के माध्यम की आवश्यकता होती है। कोई भी व्यक्ति अपने क्षेत्र में बोली जाने वाली अपनी मातृभाषा में अत्यन्त सुगमता से ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जबकि उसे अन्य भाषा के माध्यम के आश्रय के लिये पर्याप्त धन-श्रम व्यय करना होगा। मातृभाषाओं को ज्ञान का माध्यम बनाने में शिक्षा की प्रगति बहुत तेजी से हो सकती है।

मातृभाषा और उसका व्याकरण बच्चा माँ के दूध के साथ सीखता है। अतः मातृभाषा वही है जिसे अनपढ़-से-अनपढ़ व्यक्ति और बच्चे भी शुद्धता पूर्वक बोल सकें। जनपदीय भाषाओं के विकास से ही हम आगे चलकर एकता के सूत्र में बँधकर शिक्षा का विकास भी कर सकेंगे। हमारे ग्रामीण अंचल में अब भी अशिक्षित या अनपढ़ व्यक्ति मिल जायेंगे। उसका कारण यही है कि हमने जनपदीय भाषाओं को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान नहीं किया। ग्रामीण बोलियों का सुन्दर साहित्य सदैव अमर रहेगा लेकिन इसके लिये उन्हें प्रयोग की भाषा बनाने पर ही यह संभव है न कि उनमें से कुछ एक सामग्री का संग्रह कर उसे कहीं संग्रहालय में सुरक्षित कर देने से।

जनपदीय आन्दोलन को प्रगति देने के लिये हमें क्या करना है इस सम्बन्ध में कतिपय सुझाव यहाँ प्रस्तुत हैं :—

(१) प्रत्येक जनपद में ऐसी हिन्दी साहित्य सेवी संस्थाओं की स्थापना की जाय जो जनता की रूचि साहित्य की ओर आकर्षित करें। शिक्षा समाप्ति के बाद पठन-पाठन छोड़ देने से जो संस्कार रहित हो जाते हैं उन्हें साहित्य की ओर आकर्षित

किया जाय। इस हेतु गाँव-गाँव छोटे-छोटे पुस्तकालय स्थापित किये जायें। निबन्ध, कविता, नाटक, अभिनय; वाद-विवाद प्रतियोगिताएँ स्थानीय स्तर पर आयोजित की जायें।

(२) पत्र-पत्रिकायें भले ही अखिल भारतीय स्तर की क्यों न हों, किन्तु वे जिस स्थान से प्रकाशित होती हैं उनमें स्थानीय पाठकों की रूचि की सामग्री अवश्य प्रकाशित हो, जिससे पाठकों में उनके लिये उत्साह उत्पन्न हो। स्थानीय भाषाओं की कहानियाँ, कवितायें प्रकाशित करने के लिये एक-दो पृष्ठ सुरक्षित किये जा सकते हैं।

(३) अपना देश वहुत विशाल है। लेखकों को अपने ही देश के विभिन्न भागों का ठीक-ठीक चित्रण करना चाहिये। कहानी और उपन्यास द्वारा समाज की अन्तः प्रेरणा जगानी चाहिये जैसा कहानीसम्राट् मुन्शी प्रेमचन्द ने जीवन भर किया।

(४) राष्ट्रीय जागृति हेतु जीवन के हर अंग को लिया जाय। यह साहित्य की समृद्धि से ही संभव है। अतः सम्पादकों को उदार दृष्टि से शिक्षितों के लेखों को सुधारने का दृष्टिकोण अपना कर उनका उत्साहवर्द्धन करना चाहिये।

(५) कवि सम्मेलन साहित्य प्रचार के साधन के साथ-साथ सांस्कृतिक प्रगति और सुरुचिपूर्ण मनोविनोद के भी साधन हैं। उनका ध्येय केवल स्वर्णकालीन हिन्दी कविता के साहित्य का प्रदर्शन मात्र न हो अपितु स्थानीय भाषा की कविताओं को भी महत्त्व दिया जाय।

(६) संसार की सभी भाषाओं में अनेक स्थानीय भाषायें पायी जाती हैं। स्थानीय भाषाओं की ओर अधिक सहानुभूति रखी जाय। साहित्यिक मर्यादा और सुरुचि की रक्षा तभी हो सकती है जब स्थानीय भाषाओं में काव्यों और नाटकों को प्रोत्साहन दिया जाय।

(७) जनपदीय भाषायें ग्रामीण विद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा का माध्यम बनें तभी भाषायें घर की मालिक बन सकती हैं। ग्रामीण बोलियों में भी कितने ही सुन्दर गीत, कहानियाँ, मुहावरे आदि पाये जाते हैं जिन्हें देश के करोड़ों नर-नारी बोलते हैं। अतः उसकी उपेक्षा न की जाय।

(८) वैज्ञानिक खेती और देश का बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण तभी हो सकता है जबकि विज्ञान और शिक्षा सार्वजनिक हो। जनबोलियों में वैज्ञानिक और दूसरे ाहित्य तैयार किये जायँ। अपरिचित भाषा सिखला कर ज्ञान नहीं दिया जा सकता। नभाषाओं के अतिरिक्त ज्ञान देने का दूसरा विकल्प नहीं हो सकता। अतः मातृ-ाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया जाय।

(९) देश को दरिद्रता के गर्त्त से निकाल कर समृद्ध वनाने के लिये मातृ-भाषाओं की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि भारत के करोड़ों हाथों और मस्तिष्क की।

(१०) जनपदीय भाषाओं के विकास से हिन्दी को कोई हानि न होगी। वह सम्पूर्ण भारत संघ की अनिवार्य राष्ट्रभाषा है ही।

आज जनपदीय आन्दोलन की ओर भारतीय विद्वानों की कम रुचि है। भारतीय विद्वान् अपनी खोजों को अंग्रेजी भाषा में छपाना चाहते हैं विदेशियों को प्रसन्न करने के लिये अथवा वाहरी देशों में नाम पैदा करने के लिये, किन्तु वे यह नहीं सोचते कि अपने देशवासियों की भारी संख्या उनके अनुसन्धानों से वंचित रह जाती है।

यदि वास्तव में हम हिन्दी और भारत की समृद्धि के हितचिन्तक हैं तो हमें यह सोचना होगा कि यदि स्थानीय भाषाओं में साक्षर जनता के उपयोग का कृषि विज्ञान, ग्राम उद्योग, और अन्य उपयोगी सुगम साहित्य नहीं होगा तो साक्षरता से उनकी उन्नति कैसे होगी? भाषा की उन्नति का अर्थ है जाति की उन्नति। साक्षरता जीवन के लिये आवश्यक है और उसके लिए आवश्यक है स्थानीय साहित्य की अभिवृद्धि, जनपदीय भाषाओं की समृद्धि। जनपदीय भाषायें केवल साहित्यिक समृद्धि के लिए ही आवश्यक नहीं हैं; वरन् वे आर्थिक, औद्योगिक एवं सांस्कृतिक उत्थान के लिए भी अनिवार्य हैं। जन-सहयोग के विना विकास नहीं हो सकता। विकास में तेजी लाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति उसमें अपनी भागेदारी समझे और अपने स्तर से उसमें सम्मिलित हो। यह समझदारी और भागेदारी की भावना जनता में पैदा हो इसके लिए भी जनपदीय भाषाओं का उत्थान और उनका आदर आवश्यक है। जनता की भाषा में ही उसे समझा कर विकास की योजनाओं को सफल वनाया जा सकता है न कि जनपदीय भाषाओं की उपेक्षा कर। अतएव जन-भाषाओं को समृद्धि प्रदान करना-कराना वर्त्तमान युग का एक पुनीत कर्त्तव्य-कर्म है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

❖

जनपदीय आन्दोलन की नई भूमिका

—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

भारतीय जीवन की एक प्रमुख विशेषता के रूप में हम "एकता में अनेकता और अनेकता में एकता" की चर्चा करते समय वहुधा भूल जाया करते हैं कि यह प्रयोग आकस्मिक नहीं है । इस अनुभव-सिद्ध उक्ति के पीछे मुख्यत: मौर्यपूर्व कालीन भारत में प्रचलित राजतंत्रीय तथा गण-तंत्रीय प्रणालियों के संघर्ष द्वारा उत्पन्न स्थिति के परिणाम-स्वरूप हमारी नई अनुभूतियाँ प्रेरणा-स्रोत का काम करती रही । यह कोरी कल्पना की उपज या उड़ान नहीं है। राजतंत्र में जहां प्रजा वर्ग क निर्धारित सीमा के भीतर फूलता-फलता रहा है वहाँ गणतंत्र में जन समुदाय कसी एक ही सीमा में आबद्ध होकर रहने के लिए प्रतिवद्ध कभी नहीं रहे हैं । च्छंद जीवन यापन करने के वे अभ्यासी रहे हैं । ये दोनों ही प्रणालियाँ हमारी नपदीय व्यवस्था के अंग रूप में प्रचलित रही हैं जो न केवल हमारी चिन्ताधारा था जीवन-पद्धति को ही प्रेरणा प्रदान करती रहीं अपितु हमारे सामाजिक गटन क को प्रभावित करती आई और तदनुसार हमारा आर्थिक जीवन भी स्थापित ता रहा । तत्कालीन अर्थव्यवस्था जितना अस्थिर रही, उतना ही जन-जीवन भी ान्त तथा अव्यवस्थित बना रहा ।

वास्तव में राजतंत्र की सीमा-रेखायें जहाँ किसी प्राकृतिक अथवा भौगोलिक ति तक सीमावद्ध रहीं, वहाँ गणतंत्र की घुमक्कड़ जन-जातियों की गतिविधियाँ -विशेष तक ही सीमित न रह सकीं । वे क्षेत्रीय होकर भी उन्मुक्त-सी रहीं । स्वरूप जनपदीय जीवन काल में पड़ोसियों से परस्पर संघर्ष तथा टकराव का रहना अवश्यंभावी और अनिवार्य-सा वना रहा । परन्तु सब समय संघर्ष का रहना संभव नहीं होता, कभी न कभी परिस्थिति के प्रभाव अथवा सौमनस्य प्रेरणा से समन्वय एवं सामंजस्य के परिणाम उभर ही आते हैं । ऐसी ही स्थिति "एकता में अनेकता और अनेकता में एकता" जैसी सिद्ध-वाणी प्रस्फुटित हो पाती जनपदीय प्रश्नों एवं समस्याओं पर सम्यक प्रकार से विचार करते समय हमें र इसे ध्यान में रखना चाहिये । इस बुनियादी विन्दु की अनदेखी कर कोई चित समाधान निकाल पाना संभव नहीं है ।

मनुष्य ने ध्यान, धारणा तथा समाधि द्वारा तत्वज्ञान अर्जित किया है और ा, मनन एवं निदिध्यासन के सहारे वस्तु-बोध का विस्तार किया है । गतिशील ा के माध्यम से उसने जीव को शिव के पद पर प्रतिष्ठित कर उसे ब्रह्ममय

घोषित कर दिया है। ब्रह्म की स्वीकृति उसका अद्वितीय आविष्कार है। यह मत या मान्यता भी किसी के लिये विवादास्पद हो सकती है। जो हो, उसके अनुभव क्षेत्र में पृथिवी का जो स्थान एवं महत्व मिला है वह अन्य किसी के लिये सुलभ नहीं है। धरती को माता मानकर ही उसे सन्तोष नहीं मिला है, इसलिये अपने को उसका पुत्र बतलाना भी उसने आवश्यक समझा है—माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः (अथर्व १२/१/१२) यही आत्मीय सम्बन्ध उसके निकट उसे सर्वोपरि लगा है। काश, यही हमारे राष्ट्रीय जीवन का "बीज मंत्र" बन गया रहता तो आज हम उस धरती माता को खंडित करने की कल्पना तक से सिहर उठते।

"जनपद" शब्द एकक न होकर यौगिक है जिसका संयोजन दो भिन्न अर्थों शब्दों (जन । पद) के योग द्वारा सम्पन्न हुआ है। स्मरणीय है कि जन और जनपद शब्दों के प्रयोग, अर्थविकास या विपर्यय सन्दर्भ के अनुरूप बदलते रहे हैं। "जनपद" शब्द का प्रथम प्रयोग उत्तर वैदिक कालीन "ऐतरेय ब्राह्मण" (८/१४/४/४) में उपलब्ध है। "शब्द कल्पद्रुम" के अनुसार 'जनस्य लोकस्य पदं आश्रय स्थलं यत्र' वह जनपद है। "महाभारत" आश्रमवासिक पर्व (९/१८ आदि) में पौर जान पदाजनाः का उल्लेख आया है। परन्तु यास्क वर्ण विशेष के लिये इसे प्रयुक्त मानते हैं और इसके लिये "पंचजन" का आधार लेते हैं जिसके अन्तर्गत चार वर्णों के अतिरिक्त निषाद अथवा गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षसों की गणना की जाती है (निरुक्त ३/२/७)। इस प्रकार दिक संहिता के अनुसार "जन" शब्द का प्रयोग वंशानुक्रम से सामाजिक महत्व का है। "शतपथ ब्राह्मण" (१३/४/२/१७) में भी प्राप्त है। परन्तु ऋग्वेद (७/१ आदि) में जन का प्रयोग युद्ध काल में उसी अर्थ में न होकर भिन्न सत्ता के निमित्त हुआ है। जनपद का प्रचुर प्रयोग पुराणों तथा महाकाव्यों—मत्स्य (११४/३४/५६), मारकंडेय (५८/६-५३), वामन (१३/३६-५८ आदि), वायु (४६/१०९-३६) ब्रह्माण्ड (१६/४०-६७) और रामायण, किष्किंधा (४०/४३) महाभारत के भीष्म पर्व (१७/३६-६८ आदि) में बिखरे पड़ें हैं। जैन ग्रंथ "भगवती सूत्र" और बौद्ध कृति "अंगुत्तर निकाय" भी प्रस्तुत सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। अष्टाध्यायी, मनुस्मृति, शुक नीतिसार, काशिका और पतंजलि महाभाष्य भी उपयोगी हैं। जनपद का विकास जन, कुल और जनपदी से हुआ है।

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय से लेकर महाकाव्यों की रचना तक में जनपदीय राज्य व्यवस्था के अनेक प्रमाण बिखरे पडे हैं। श्रमण साहित्य से लेकर धर्मशास्त्र तक में इसके कई उदाहरण उपलब्ध हैं। यास्क, पाणिनि तथा पतंजलि के अतिरिक्त मनु, शुक और कौटिल्य के उल्लेखों की उपेक्षा हम कदापि नहीं कर सकते। उक्त लंबी अवधि में छोटे-मोटे ऐसे कई जनपद रहे हैं। परन्तु बौद्ध परंपरा में इनकी संख्या जहां सोलह ही है वहां जैन परिपाटी उसे अठारह तक पहुँचा देती है। उनके निवासियों के रंग-रूप ही नहीं, उनकी बोली (भाषा), वेश-भूषा, खान-पान, रहन

सहन, रीति-रिवाज, धार्मिक आस्था और समाज-व्यवस्था आदि आर्यों की विचार-धारा तथा जीवन-पद्धति से भिन्न एवं पृथक रही। राजनीतिक दृष्टि से संघ, पौर और जनपद में परस्पर भेद रहा। कालान्तर में ये एक दूसरे को परस्पर प्रभावित किये बिना न रह सके। फिर भी जनपदों की राजतंत्रीय व्यवस्था के उत्थान से जहाँ स्वेच्छाचारी शासन एवं साम्राज्यवादी उत्कर्ष को प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला, वहाँ गणतंत्रीय व्यवस्था के पतन से जनजीवन के बहुमुखी विकास का ह्रास हुआ। फलतः हमारा राष्ट्रीय चरित्र विनाश की गर्त में गिरकर दीर्घकाल तक उबरने से वंचित रहा।

आज जब स्वातंत्र्य चेतना विश्व भर में प्रबल होकर आत्म-निर्णय के अधिकार और प्रजातंत्र की पुकार को प्रश्रय दे रही है, जन-जागरण के सिंहनाद की ऊँची आवाज जोरदार होकर शिखर तक पहुँच चुकी है। इसलिए हमारे लिए यह स्वाभाविक हो गया है कि हम ऐसे सभी सूत्रों को सहेज-संभाल कर उनकी जाँच-पड़ताल आरंभ कर दें जो हमारे जीवंत उद्देश्य की पूर्ति में सहायक बन सकते हैं। वस्तुतः हमारा यह पुनीत प्रयास किसी महान् अभियान का प्रतिद्वन्दी नहीं पूरक बनेगा। इस दृष्टि से निश्चय ही जनपदीय आन्दोलन का नया मोड़ हमारे लिए एक ऐसा सुदृढ़ आधार प्रस्तुत कर सकेगा जो नितान्त प्रामाणिक एवं विश्वसनीय ठहरेगा।

किसी-किसी क्षेत्र में अकारण फैली यह धारणा निर्मूल एवं निराधार है कि इससे हमारी राष्ट्रीयता तथा विश्वसनीयता को ठेस अथवा क्षति पहुँचेगी। परन्तु आज तक कभी और कहीं ऐसा देखा नहीं गया कि किसी अंग विशेष के पुष्ट होने से शरीर का शेष भाग निर्बल अथवा अशक्त पड़ गया हो। इसके विपरीत शेष सभी अंगों पर भी इसका अनुकूल प्रभाव पड़ते पाया गया है और पूरा का पूरा शरीर अपने को अपेक्षाकृत अधिक बलवान अनुभव करने लगता है। ऐसी निराधार आशंका को तभी बल और बढ़ावा मिल सकता है जब हम अंग विशेष को ही पूरा शरीर मान लेने की भूल कर बैठें। इस प्रकार की बेतुकी बातें वे ही लोग करते पाये जाते हैं जो या तो आत्म-विश्वास गवाँ बैठे रहते हैं या यथास्थिति बनाये रखने में ही आत्म-कल्याण का बीज सुरक्षित देख पाते हैं। किसी परिवर्तन के नाम पर उनकी साँसें उलटी चलने लगती हैं। उन्हें इस बात का भान या आभास तक नहीं रहता कि अभीष्ट परिवर्तन ही पंचशील तथा सह-अस्तित्व जैसे सपनों को साकार बनाने में सक्षम सिद्ध हो सकेगा। इस प्रकार शोषण एवं भेदभाव से रहित जन-जीवन का पथ प्रशस्त कर उमंग, उल्लास और विकास की प्रेरणा का भाव भर सकेगा; सुख-समृद्धि की अभिवृद्धि के साथ-साथ जीवन को शान्त, सरस एवं सहज बना सकेगा। ऐसी ही अनुकूल अवस्था में ही हम अपनी चिरवांछित सांस्कृतिक धरोहर को न केवल संचित एवं सुरक्षित रख सकेंगे अपितु उसे उन्नत, उर्वर, उपयोगी तथा उजागर बनाने का गौरव भी प्राप्त कर सकेंगे। लक्ष्य-सिद्धि का यही उपयुक्त उपाय और उपक्रम होगा।

★

गाजीपुर की जनपदीय साहित्यिक चेतना का विका

—डॉ० विवेकी रा

बात को पहले अपने से ही शुरू करुँ। मेरे लेखन में गाजीपुर, (उ० प्र का जनपदीय रसगंध कितना है, कैसे है, यह तो मेरे पाठक और आलोचक क सकते हैं, मैं स्वयं इतना अवश्य कहने की स्थिति में हूँ कि वह जितना और जै है सब इसी जनपद का है। मेरी दृष्टि में यह जनपद ही नहीं, इसकी इकाई रूप में जो मेरा गाँव है वह सम्पूर्ण भारत का विम्ब है। मेरी कविताओं में, कहानि में, मेरे उपन्यासों में, निवन्धों में विशेषकर ललित निवन्धों में, रेखाचित्रों, रिपोर्ता और मेरी डायरियों में, समीक्षाओं में; सर्वत्र वही तो है जो प्रभाव के रूप में ग्र होता है और प्रभावित के रूप में प्रस्तुत होता है। विविध विषयों की तीन द से ऊपर रचनाओं को हिन्दी जगत् को सौंपकर भी मेरा साहित्यकार निश्चिंत न है। उसके चिन्तन में अभी रचनाओं के नये-नये प्रेरक उग रहे हैं। ये समस्याल प्रेरक सीधे, समाज से आ रहे हैं। वहुत संघर्ष करना पड़ रहा है। उसे प्रसन्न है कि इस संघर्ष में वह अकेले नहीं है। संप्रति गम्भीर और सार्थक लेखनवा सर्जकों का एक पूरा समुदाय है जो इस जनपद की मिट्टी से उठा है। यह पू समुदाय निश्चित रूप से वहुत यशस्वी है और साथ ही इसने गाजीपुर की जनपद चेतना को अपने रस से सींचकर वाहर-भीतर से पुष्ट किया है। ऐसे सर्जकों में यदि कुछ का झट से नाम लेना होगा तो शीर्ष स्थान पर आयेगा डॉ० भोलान तिवारी; कुवेरनाथ राय, मासूम रजा राही, डॉ० जितेन्द्र नाथ पाठक और श्रीकृ राय 'हृदयेश' का नाम।

डॉ० भोलानाथ तिवारी के सुपुत्र आयुष्मान् राजीव का विवाह दिसम् सन् १९८४ में सम्पन्न हुआ। प्रीतिभोज १३ दिसम्बर को था। उसके लिए निमंत्रण-पत्र आया उसे पढ़कर हमें वहुत आश्चर्य हुआ। वह 'सोस्ती श्री स उपमा जोग लिखीं' से शुरू होकर शुद्ध भोजपुरी में था और इस अन्तर्राष्ट्री ख्याति प्राप्त भाषाविद् के चित्त की सात्विक जनपदीय सांस्कृतिक सहजता सौ-सौ मुखों से बखान कर रहा था। इस सहजता से पूर्ण डॉ० तिवारी मूल

कवि हैं। कविता, कहानी, उपन्यास, गद्यकाव्य, निबन्ध और समालोचना सम्बन्धी ढेर से प्रकाशित ग्रन्थ एक ओर तथा दूसरी ओर आपकी सम्पूर्ण उपलब्धि मूलक पहचान के रूप में भाषाविज्ञान, ध्वनिविज्ञान, कोषविज्ञान, शैलीविज्ञान, अभिव्यक्तिविज्ञान, अनुवादविज्ञान, शब्दविज्ञान, भाषाशिक्षण-विज्ञान और अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान आदि विषयों के ग्रन्थ दूसरी ओर। कुल ग्रन्थों की संख्या एक सौ से ऊपर है। हिन्दी भाषा और भाषा-विज्ञान पर एक-एक दर्जन पुस्तकें हैं। आपके कोषग्रन्थों की संख्या डेढ़ दर्जन है। सन् १९६२ में जबकि आप ताशकंद में हिन्दी के विजिटिंग प्रोफेसर थे, सोवियत संघ में आपने ताजुज्वेकी नामक हिन्दी की एक भूली विसरी वोली को खोज निकाला। 'पर हार नहीं मानी' नामक आपके आत्मकथात्मक ललित निवन्धों के संकलन में आपके साथ-साथ एक जनपद के तत्कालीन जीवनधारा के प्रेरक छींटे बिखरे हैं। देश के कुछ थोड़े से उँगलियों पर गिने जाने लायक भाषाविद् लोगों की पंक्ति में मानक स्थान वाले डॉ० तिवारी पर गाजीपुर जनपद को गर्व है।

गाजीपुर की जनपदीय संस्कृति की सम्पूर्ण पहचान कुवेरनाथ राय के ललित निवन्धों में वहुत विस्तार और गहराई के साथ उभरी है। एक दर्जन से ऊपर प्रकाशित अपने ललित निवन्ध संकलनों के परिप्रेक्ष्य में कुवेरनाथ राय ने ललित निवन्धों के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। उनकी प्रथमकृति 'प्रिया नीलकंठी' में जनपद का जो सांस्कृतिक स्पर्श उभरा वह 'निषाद बाँसुरी' में चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। यह कृति अपने भीतर गाजीपुर जनपद के सांस्कृतिक इतिहास को पचाकर भिन्न-भिन्न धर्मों, उपासना प्रक्रियाओं, जातियों के उत्कर्ष-अपकर्ष और धर्मसाधनाओं आदि की चित्रलिपि बन गयी हैं। काव्य, इतिहास, पुराण, दर्शन, धर्मशास्त्र और सांस्कृतिक साहित्य आदि के गंभीर अध्ययन की छाप छोड़ते कुवेरनाथ राय के निबन्ध हिन्दी साहित्य की निधि हैं।

कुवेरनाथ राय ने जहाँ जनपदीय चेतना को व्यापक राष्ट्रीय स्वर देकर अपने ललित निबन्धों में अभिव्यक्ति दी वहीं राही मासूम रजा ने उसे नयी रंगत के साथ कथारस में ढालकर प्रस्तुत किया। हिन्दी कथा-साहित्य में आंचलिकता का सघन प्रयोग करते हुए आपने एक साहसपूर्ण सृजनात्मक कदम उठाया और गाजीपुर जिले के अपने ही गाँव गंगौली के शत-प्रतिशत सत्य इतिहास-भूगोल को अपनी कृति 'आधा गाँव' की पृष्ठभूमि में डाल दिया। स्वतंत्रता के साथ आयी निराशाजनक सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक गिरावट को बहुत क्षोभ के साथ लेखक ने प्रस्तुत किया है। उनकी अन्य कृतियों जैसे 'टोपीशुल्क' और 'ओस की बूँद' आदि में भी गाजीपुर जनपद की गमक जहाँ-तहाँ मिल जाती है।

डॉ० जितेन्द्र नाथ पाठक का क्षेत्र काव्य और समीक्षा है। और इस क्षेत्र की ढेर सारी मानक पुस्तकों के प्रकाशन से आपने हिन्दी साहित्य को ऐतिहासिक समृद्धि प्रदान की है। प्रमुख रूप से आपने मुक्तक काव्य पर कार्य किया है और वह गंभीर, विस्तृत, शोधपरक विश्लेषण कई भागों में प्रकाशित हुआ है। जनपदीय चेतना और लोकजीवन के स्वर मुख्यत: कवि की उन कविताओं में मुखरित होते हैं जिनमें वह हिन्दी काव्य की आधुनिक धाराओं से गहराई के साथ जुड़ा होता है। वास्तव में काव्य सृजन की परम्परा ही यहाँ की समृद्ध परम्परा है। इस परम्परा में 'सत्यासत्य' जैसा महाकाव्य इस आपाधापी भरे व्यस्त युग में कवि श्रीकृष्ण राय 'हृदयेश' के द्वारा प्रस्तुत हो गया। युगीन स्थितियों को देखते हुए यह सन्तोषजनक स्थिति लगती है कि इस महाकाव्य में वैचारिक संघातों की ही प्रधानता है। इस महाकाव्य से पूर्व 'युवक', 'हिमांशु' और 'पथदीप' नामक संकलन की कविताओं द्वारा आपने लोकजीवन की आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति दी है। आपने एक 'लोकसेवक' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन भी किया और एक सम्पूर्ण पीढ़ी का प्रतिनिधित्व कर उसे प्रेरित और अनुप्राणित किया।

इन सर्जकों के अतिरिक्त जिन समर्पित साहित्यकारों ने अपनी परिनिष्ठित सेवाओं से जनपद को गौरवान्वित किया है उनमें डॉ० नित्यानंद तिवारी, हृषीकेश, उमाशंकर तिवारी, अनिरुद्ध पाण्डेय, माधुरी वर्मा, डॉ० रामजीत, गोवर्धन राय शर्मा, उमाशंकर, डॉ० सर्वजीत राय, इन्द्रजीत राय, डॉ० मान्धाता राय, डॉ० अवधेश प्रधान, डॉ० नर्मदेश्वर राय, रंगनाथ त्रिपाठी 'राकेश' प्रमुख हैं। भोलानाथ गहमरी ने भोजपुरी साहित्य को दीप्ति दी है। आपकी रचनाओं में से 'बयार पुरवइया' जैसे ढाई दशक पूर्व भोजपुरी गीतकाव्य के क्षेत्र में बेजोड़ थी वैसे ही कवि की नवप्रकाशित पुस्तक 'अँजुरी भर मोती' समसामयिक भोजपुरी कविता का शृंगार बन गयी है। वास्तव में जनपदीय चेतना और लोकमानस को जिस गहराई से भोलानाथ गहमरी ने स्पर्श किया है वह अपने-आपमें एक अद्वितीय इतिहास है। भोजपुरी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना इस दृष्टि से कवि के हक में पड़ा है। गाजीपुर जिले में भोजपुरी के दूसरे मौलिक सर्जक हैं रामवृक्ष राय 'विधुर' जिन्होंने अपनी आधे दर्जन से ऊपर रचनाओं के द्वारा भोजपुरी साहित्य को समृद्ध किया है। 'विधुर जी' ने काव्य के अतिरिक्त गद्य साहित्य की भी मार्मिक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। किन्तु भोजपुरी गद्य के सन्दर्भ में विन्ध्याचल राय 'अचल' के नाम को रेखांकित करना उचित होगा। आपकी पुस्तक 'सुन्नर काका' जनपदीय जीवन का सांस्कृतिक कोष बन गयी है।

प्रकाशित सृजनात्मक साहित्य के रूप में अपने साथ ठोस सामग्री न छोड़

पाने पर भी इस जनपद में साहित्यकारों की ऐसी आदरास्पद गंभीर पीढ़ी है जिसका स्मरण जनपद का इतिहास करेगा। ऐसे लोगों में पंडित रामदत्त राय शर्मा, प्रो० रामदास राय शर्मा, संजीवन राय, लोटू सिंह गौतम, पंडित बटुक देव नारायण शर्मा, शिवपूजन राय विशारद और वीरेश्वरनाथ राय आदि का नाम उल्लेखनीय है। कामता प्रसाद सरावगी, वाराणसी प्रसाद त्रिवेदी, लक्ष्मीनारायण पाण्डेय, रामवृक्ष सिंह सरोजेश, कृष्णानन्द राय और उदयनारायण राय आदि की सेवायें भी स्मरणीय हैं। इन साहित्यसेवियों के बीच कमलापति प्रधान ने प्रभूत साहित्य की रचना की है। यदि प्रकाशित होता तो श्रीनाथ मिश्र का मूल्यवान काव्य-साहित्य भी मात्रा में किसी से कम नहीं होता। कवि राजी अहमद 'वेखुद' प्रकाशन के प्रति उदासीन रहे। विजयशंकर त्रिपाठी, रामजी राय, डॉ०अवधविहारी राय; राम व्यास पाण्डेय, शहाव हसनैन कादल, उदय, गौरीशंकर चौवे, प्रेमशंकर चौवे, सोमेश्वरनाथ मुफलिस, नरेन्द्र श्रीवास्तव, हरिनारायण श्रीवास्तव, मनोज मनुज, गुमनाम ज्वाला, सतीश ववण्डर, अमरनाथ और परमानंद शुक्ल के संकलन भी अप्रकाशित हैं। लगता है, जनपद की प्रतिभाएँ प्रचार से कतराती हैं। हास्य-व्यंग्य के कवि श्रीराम सिंह गहलौत की कविताओं का संकलन उपलब्ध होना प्रसन्नता की बात है। गंभीर महाकाव्य और खंडकाव्यों के प्रणेता मुख्तार सिंह दीक्षित सृजन और प्रकाशन के संतुलन को वनाये हुए हैं। श्री सिंहासन राय सिद्धेश और पं० रामसिंहासन शास्त्री की पुस्तकें भी उपलब्ध हैं। रामवदन राय काव्य और कथासाहित्य दोनों की एक साथ साधना करते हैं। गिरिजाशंकर 'गिरिजेश' का एक भोजपुरी कहानी-संग्रह प्रकाशित है और ब्रह्मानंद सिंह का एक खण्ड-काव्य। जनपदीय साहित्यिक चेतना निरन्तर जगी है। कमी नाट्य साहित्य की थी। उसकी पूर्ति डॉ० शिवमूरत सिंह कर रहे हैं। नाटककार के साथ आप नाट्य-निर्देशक भी हैं।

किन्तु नये दौर की इन उपलब्धियों को संकेतित करने के साथ हमें अतीत की गहराई में जाकर मूल परम्पराओं की परतों में भी झाँकना चाहिए। तभी इस जनपदीय साहित्यिक चेतना के विकास का सर्वेक्षण पूर्ण होगा।

गाधि, जमदग्नि, विश्वामित्र और परशुराम की तपोभूमि गाजीपुर जनपद की अपनी एक विशिष्ट साहित्यिक परम्परा है। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल से ही गाजीपुर जिला भारती के पुनीत मंदिर में आत्मदान करता आया है।

चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक यहाँ के सन्तों की जो वाणियाँ गुंजित हुईं वे न केवल हिंदी साहित्य के इतिहास में

अपितु सहृदयों के कण्ठ में आज भी बसी हुई हैं। भुड़कुड़ा का प्रसिद्ध मठ इन निर्गुणवादी सन्तों का केन्द्र रहा है। प्रयाग के वेलवेडियर प्रेस ने इन सन्तों की वाणियों को प्रकाशित किया है। इन सन्तों में यारी साहब (संवत् १७२५-१७८०), इनके शिष्य बुल्ला साहब अथवा बुलाकी (संवत् १७५०-१८२५), इनके शिष्य गुलाल साहब (संवत् १७५०-१८१६), और गुलाल साहब के शिष्य भीखा साहब (सं० १७७० से १८२०) प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त गोविन्द साहब, पुरी साहब, जगजीवन साहब और पलटू साहब की वाणियों का विकास भी यहीं से हुआ। बावरी सम्प्रदाय की प्रवर्तिका बावरी साहिबा के गुरु मायानन्द इसी जिले के पटना ग्राम के निवासी थे। सुप्रसिद्ध स्वामी रामानन्द के ये प्रशिष्य थे।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में इस जिले के प्रसिद्ध सन्त बूला साहब की रचना 'शब्दसागर' प्रकाश में आयी। अपनी रचना में आपने जीव-जगत् के गूढ़ दार्शनिक विवेचन के साथ जीवन की परिमितता, पवित्रता और संयमितता का प्रभावशाली ढंग से समर्थन किया है। वसहर तालुका के सन्त गुलाल साहब की सरस रचनाएँ आज 'कहत गुलाल चरण बलिहारी' से अन्त होती हुई पूर्वी जिलों के प्रायः सभी गाँवों में होली के अवसर पर ग्रामीणों द्वारा झूम-झूमकर गायी जाती हैं। एक विचित्र बात है कि ग्रामीणों के जीवन में सन्तों की वाणियों के गायन का एकमात्र समय होली का अवसर है। कितनी मस्ती से उस समय वे गुलाल, भीखा और बुलाकी की रचनाएँ गाते हैं। प्रसिद्ध शिवनारायणी सम्प्रदाय के प्रवर्त शिवनारायण इसी जिले के थे। इनकी दर्जनों रचनाएँ उपलब्ध हैं। 'सुदामा चरित्र' के लेखक कवि हलधरा का जन्मस्थान पचोतर नामक किसी गांव में बताया जाता है। 'सुदामाचरित्र' की हस्तलिखित प्रतियाँ गाजीपुर जिले में अनेक गाँवों में पायी गयी हैं। इन कवियों और सन्तों ने भोजपुरी का मान बढ़ाया और ऐसी अभिव्यक्तियों का मार्ग प्रशस्त किया जो जनता के हृदय को सीधे स्पर्श करने की सहज सामर्थ्य रखती हैं।

प्राचीन साहित्कारों में लाल कवि का नाम आदर के साथ लिया जाता है। इन्होंने श्रीमद्भागवत का उल्था किया है। गाजीपुर मुसलिम काल में बहुत ख्याति और समृद्धि का स्थान रहा है। अनेक सूफी कवियों ने यहाँ प्रेम की साधना की। इन कवियों में उसमान का नाम हिंदी साहित्य के इतिहास में अमर है। इनक उपनाम 'मान' था। ये जहाँगीर के समय में वर्त्तमान थे। इनकी प्रसिद्ध रचना 'चित्रावली' सन् १६१३ ई० में प्रकाशित हुई। इसके प्रारम्भिक अध्यायों में गाजीपुर नगर का बहुत ही आकर्षक वर्णन है। उसमान के अतिरिक्त प्रसिद्ध सूफी कवि जायसी का जन्मस्थान भी गाजीपुर को ही बताया जाता है। डॉक्टर हजारी

प्रसाद द्विवेद्वी ने लिखा है कि ये कहीं वाहर से आकर 'जायस' में रहते थे और इसी धर्मस्थान को अपना निवासस्थान वना लिया।' कवि ने भी लिखा है—

'जायस नगर धरम अस्थानू।
तहाँ आइ कवि कीन्ह वखानू ॥'

इनके जन्मस्थान के विषय में इतिहासकार ठीक उत्तर नहीं दे पाते। गाजीपुर में इनके वंशज अव तक परम्परा से बताये जाते हैं। जायसी की भाषा भी वताती है कि गाजीपुर से इनका अधिक निकट सम्बन्ध रहा है। इनकी पद्‌मावत की हस्तलिखित प्रतियाँ इस जिले के कोने-कोने में मुसलमान रईसों के घर मिलती हैं। जायसी शेरशाह के समकालीन थे। सन् १५२१ ई० में इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक पद्‌मावत की रचना प्रारम्भ की। हीरामन सुग्गे और रानी पद्‌मिनी की कहानी को घरों के भीतर से निकालकर जायसी ने 'पद्‌मावत' के मन्दिर में आकर्षक साहित्यिक सज्जा के साथ प्रतिष्ठित कर दिया। उसमान ने 'चित्रावली' में चित्र-दर्शन द्वारा प्रेम की कहानी लिखी है। सूफी कवियों में आसी भी गाजीपुर के रहनेवाले थे!

भारतीय ज्ञान परम्परा को पुनरावर्तित करनेवाले सन्त कवियों ने हिन्दी साहित्य की नींव दी। ये निर्गुण सम्प्रदाय के थे। इस सम्प्रदाय के प्रेमगीत लिखनेवाले लोकप्रिय कवियों ने सूफी साधक-साहित्य को जनप्रिय बनाने के लिए घरों की कहानियाँ घरेलू बोली में प्रस्तुत कीं। दोनों ही धाराओं ने गाजीपुर का सिंचन किया और यहाँ के साहित्योद्यान को पल्लवित-पुष्पित किया। रीतिकाल का विलास-वासित वायुमण्डल इस जिले की मनःस्थिति के अनुकूल न था। अतः रीतिकालीन दरवारी साहित्य की कोई सारणी नहीं परिलक्षित होती। भारतेन्दु काल में पुनः गाजीपुर जनपद ने अंगड़ाई ली और श्री गोवर्धन मिश्र के सवैयों की धूम मच गयी। इनके सवैयों का एक संग्रह प्रकाशित भी हुआ। इसी समय हरिआनन्द नाम के एक कवि ने काफी ख्याति अर्जित की। इस समय तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी साहित्य में एक नया मोड़ उपस्थित कर दिया था। प्रत्येक क्षेत्र में नवीन कला, नवीन भावना और नवीन दृष्टिकोण के दर्शन हुए। भारतेन्दु (सन् १८५० ई० से १८८३ ई० तक) ने हिन्दी साहित्य को जो प्रगति दी, उसके प्रभाव से गाजीपुर अछूता न रहा।

इसी समय गाजीपुर के प्रसिद्ध साहित्यकार और कवियों के कद्रदां मुंशी उदितनारायण लाल का प्रसिद्ध उपन्यास 'दीप निर्वाण' प्रकाशित हुआ। कहने की

आवश्यकता नहीं कि इस कृति का महत्त्व नींव के पत्थर 'के समान है। हिन्दी में गद्य की परम्परा की महत्त्वपूर्ण कड़ी बाबू गोपाल राम गहमरी से प्रारम्भ होती है। गहमरीजी में साहित्य के सभी जीवन्त तत्त्व निहित थे। साहित्य की नयी दिशा के आप सफल सारथीं थे।

बाबू गोपाल राम गहमरी ने न केवल जासूसी उपन्यासों का ढेर लगा दिया अपितु सामाजिक उपन्यास, अनुवाद, कहानी, नाटक और पत्रकारिता आदि विविध दिशाओं में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सर्वप्रथम हम उन्हें नाटककार के रूप में जानते हैं। इनका 'देशदशा' नामक नाटक १८९२ में प्रकाशित हुआ। वंग साहित्य के प्रसिद्ध नाटकों का इन्होंने सफल अनुवाद किया। टैगोर के 'चित्रांगदा' और 'बनबीर' आदि नाटकों का अनुवाद सफल रहा। दूसरे, गहमरीजी को एक निवन्धकार और पत्रकार के रूप में जानते हैं। इनका पत्र 'जासूस' प्रसिद्ध है। आपका सबसे चटकीला साहित्यिक रूप उपन्यासों में उभरकर आया। इनके दो प्रसिद्ध उपन्यास 'बड़ा भाई' और 'सास-पतोहू' का रचनाकाल सन् १८९८ ई० है। मौलिक और अनूदित कुल मिलाकर आपने ७० पुस्तकें लिखीं। कृतियों में प्रधानता जासूसी उपन्यासों की है। इसीलिए एक इतिहासकार के शब्दों में आप हिन्दी साहित्य के 'रावर्ट ब्लेक' हैं। जासूसी उपन्यासों के अतिरिक्त आपने सामाजिक उपन्यास भी कई लिखे हैं। इनमें गृहस्थ जीवन की मधुर झाँकी देखने को मिलती है।

श्री गोपाल राम गहमरी के छोटे भाई श्री महावीर प्रसाद गहमरी भी अनुभवी पत्रकार एवं सुलेखक थे। आजीवन 'आज' की सेवा करने के अतिरिक्त आपने स्वतंत्र दैनिक भी निकाले थे। आपने दर्जनों पुस्तकें लिखी हैं, अनुवाद कार्य भी काफी किया है। जीवनभर अपने आदर्शों एवं सिद्धांतों पर अटल रहे। गहमर के होते हुए आपका कार्यक्षेत्र काशी ही रहा।

गद्य साहित्य के प्रसार में, इसके द्वितीय उत्थानकाल में गहमरीजी ने जो योगदान किया उसके लिए वे हिन्दी साहित्य में आदर के साथ स्मरण किये जाते हैं। स्वर्गीय गहमरीजी का वर्त्तमान परिवार भी साहित्यिक परिवार है। श्री माता प्रसाद गहमरी सफल लेखक हैं। आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और श्री देवता प्रसाद गहमरी पत्रकार हैं।

खड़ी बोली के कवियों में रामचरित उपाध्याय का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। आपका जन्म सन् १८७२ में गाजीपुर जिले में हुआ। आपका कविताकाल भारतेन्दु काल के अन्त और द्विवेदी काल के आरम्भ में पड़ता है। प्रारम्भ में आपकी रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होती रहीं। आपने खड़ी बोली

में कविता लिखने का पथ प्रशस्त किया। खड़ी बोली ब्रजभाषा की व्यापकता के बीच अपना रास्ता बना रही थी। उसे उपाध्यायजी जैसे भक्त-भावुक कवि की लेखनी का वरदान मिला। संस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान् होते हुए भी अपनी कविता को आपने मोहक सारल्य के साँचे में ढालकर सुबोध और सरस कर दिया है। 'ब्रज सतसई', 'रामचरित चन्द्रिका' और 'रामचरित चिंतामणि' आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। एक और नाम आदर के साथ लिया जाने योग्य है, वह हैं 'विक्रमादित्य' तथा 'नूरजहाँ' जैसे सफल महाकाव्यों के प्रणेता कविकर गुरुभक्त सिंह 'भक्त'। आप गाजीपुर जनपद स्थित जमानियाँ के निवासी थे।

आधुनिक काल में कविता, अध्यात्म, निवन्ध, इतिहास और पत्रकारिता के क्षेत्र में काम करनेवाले अनेक विद्वान् गाजीपुर में पैदा हुए। स्वर्गीय स्वामी सहजानन्द सरस्वती, श्री भागवत मिश्र, वावू बीरेन्द्रनाथ राय वकील और पण्डित रामगोविन्द शास्त्री अपने युग के चार महारथी गाजीपुर की ख्याति के आधार स्तम्भ थे।

श्री भागवत मिश्र गाजीपुर के सरकारी वकील थे। वकालत के साथ उच्च कोटि के कवित्व का मिलाप मिश्रजी में अद्‌भुत रूप में दिखाई पड़ता है। वास्तव में आप आधुनिक काल में इस जिले की साहित्यिक प्रगति के अग्रणी थे। संस्कृत भाषा का आपने गम्भीर अध्ययन किया था जो आपके द्वारा किये गये उपनिषदों के अनुवाद से स्पष्ट है। आपकी दर्जनों काव्य पुस्तकों में 'वापू', 'वरदान' और 'द्रौपदी क्षमा' आदि प्रसिद्ध हैं। आपके गीत सुन्दर वन पाये हैं।

भारतवर्ष के प्रसिद्ध किसान नेता, लेखक, वक्ता और दार्शनिक विद्वान् स्वामी सहजानन्द सरस्वती को पैदा करने का श्रेय भी गाजीपुर को ही है। स्वामीजी का जन्मस्थान देवा है। आपकी गहन विद्वत्ता और सुलझी हुई तथ्यनिरूपण की शैली का लोहा सभी मान चुके हैं। यों तो आपने 'कर्मकलाप' आदि कई छोटे-मोटे ग्रंथों का प्रणयन किया, परन्तु आपकी अमर और अद्वितीय कृति 'गीता हृदय' है। 'गीता हृदय' गीता पर वृहत् भाष्य है और किताव महल से प्रकाशित है। अव तक गीता पर जितने भी भाष्य हुए सबमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्राधान्य रहा। स्वामी जी ने इस ग्रन्थ में मार्क्सवाद से गीतादर्शन का समन्वयकर भौतिकवाद की एक सुन्दर युगोपयोगी पृष्ठभूमि दी है। यह सब हुआ है निरा खींचतानकर नहीं, अपितु साधार, सानुवन्ध और सुसंस्कृत विवेचन के द्वारा। स्वामीजी ने गीतामृत को आकाशमण्डल से उतारकर धरती पर लाने का प्रयत्न किया है। जिज्ञासुओं में पुस्तक पर्याप्त समादृत हुई है। 'गीता-हृदय' स्वामीजी की महान् देन है।

श्री वीरेश्वरनाथ राय गाजीपुर के एक सफल वकील थे, परन्तु आपमें एक महान् साहित्यिक व्यक्तित्व निहित था। आपने 'उत्तर रामचरित' और 'रघुवंश' का सफल अनुवाद मनोहर छंदों में किया है। इतिहास में आपकी विशेष रूचि थी और इस विषय के अनेक निवन्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। अशोक पर आपका अध्ययन बहुत विशाल था। आपकी कई छोटी-मोटी रचनाएँ अप्रकाशित हैं।

....और इस प्रकार गाजीपुर की सनातन जनपदीय चेतना साहित्य सृजन के विविध आयामों में ढलती सम्यक् विकासमान है।

*

मातृभूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्यां

—डॉ० जर्नादन उपाध्याय

दिव्य दम्पत्ती का प्रणय-बिम्ब : पिता आकाश, माता पृथ्वी :

धरती माता की कल्पना आर्यावर्त्त के मनीषियों के भाव संवलित हृदय से सम्भूत अन्तर के औदात्य का स्फटिक धवल रूप है। वैदिक ऋषि आकाश और पृथ्वी के रागात्मक समन्वय से जिस दिव्ध-दम्पत्ती का सर्जन करता है, वह अपने में अप्रतिम है। एक तरफ रागात्मक सम्बन्धों के प्रणय-विम्ब की सर्जना है तो दूसरी तरफ माता-पिता के सनातन सम्वन्ध से सृष्टि के अमरत्व की परम्परा को सर्जन अर्थात् सृष्टि द्वारा कायम रखा है। सृष्टि सनातन नदी हैं। उसका प्रवाह अक्षुण है, जल के नये कणों का पुराने स्थान पर आना और आगे नयी ऊर्जा से उर्मि बनकर वह चलना गत्वरता के विम्ब का सर्जन है। सो वन्धु नीलकंठ ! सृष्टि की अमरता दिव्य दम्पत्ती की क्रियाशीलता, सक्रियता और ऊर्जा का प्रतिफलन है। माता पृथ्वी है, पिता आकाश ! कितना विराट् पुरुष और कितनी विराट् नारी। इसी नारी-पुरुष के आकर्षण एवं समालिगन से सम्पूर्ण सृष्टि का सर्जन हुआ है। वेद में पृथ्वी माता रूप में वर्णित है, देवतारूप में वर्णित है। माता देवता तो हैं ही। इसी से तो "मातृदेवोभव" का उद्बोधन है। प्राक्तन द्योतमान देव दो हैं। प्रथम प्रकाशवान् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैला आकाश और दूसरा है समस्त पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मानव, दानव, वृक्ष, लता, गुल्मादि को आश्रय देने वाली पृथ्वी। इन दोनों को क्रमशः, पिता और माता रूप में स्वीकार कर स्तवन है। माता-पिता का यह युगनद्ध बिम्ब या युग्म कल्पना "द्यौष्पितर" और "पृथ्वी" के रूप में वैदिक मंत्रों में उपलब्ध है। इस कल्पना को प्रथमतः ऋग्वेद के मंत्रो में देखा जा सकता हैं :

(क) **द्यौ मे पिता जनिता।** [ऋग्वेद १/१६४/३३]
(ख) **द्यौर्नः पिता जनिता।** [अर्थवं ९/१०/१२]
(ग) **द्यौर्मे पिता पृथ्वी मे माता।** [काष्क संहिता ३७/१५/१६]
(घ) **यं मे नाभिरिह मे सधस्थम्।** [ऋग्वेद १०/६१/१९]

स्पष्ट रूप से यहाँ आकाश को पिता और पृथ्वी को माता स्वीकारा गया हैं।

कहते हैं, आर्यों ने मध्य एशिया से पूर्वी अफगानिस्तान के रास्ते आर्यावर्त्त की भूमि पर पदार्पण किया। निश्चित ही वे वहाँ की रेगिस्तानी भूमि के विपरीत यहाँ

की शास्य-श्यामला भूमि को देखकर आह्लादित हो उठे। पृथ्वीसूक्त का ऋषि आनन्दविह्वल होकर गाता है; "मातृभूमि पुत्रोऽहम् पृथिव्याः"। धरती सबकुछ देती है अन्न, सोना, मिट्टी। मनुष्य जन्म लेता है धरती पर, पनपता है, फलता-फूलता है और अन्त में इसी में समा जाता है। **"सीता धरती में गई समाइ, कुछौ नाहीं बोलिनी।'** पृथ्वी-पुत्री सीता, पृथ्वी से जन्म लेकर पुनः उसी में समा गयीं और बोलें क्या? पति-परित्यक्ता आसन्न-प्रसवा सीता के दारूण दुःख को कौन सह सकता है? माता के बिना उसे कौन सम्मान दे सकता है? परित्यक्ता को अपनी गोद में बैठाती है तो माँ धरित्री, "माता बिनु आदर के करी"। मिट्टी का पुतला मनुष्य इसी पर बन कर इसी में मिल जाता हैं: डस्टदाउ आर्ट, डस्ट टु रिटर्न"।

न जाने कितने रत्न छिपे हैं, इसके अन्तस्तल में; और न जाने कितना वसु इसमें है। इसी से तो इसका नाम "वसुन्धरा" है! वसुन्धरा ही क्यों, "धरित्री" भी तो यही है। क्योंकि धारण जो करती हैं। क्या-क्या नहीं धारण करती! धारण करना और पोषण करना इसकी प्रकृति है। यह माता का सहज धर्म है। माता पुत्र को धारण करती है और उसका पोषण भी करती है। वैदिक वाङ्गमय का पृथ्वी-सूक्त पृथ्वी-माता के स्वरूप का काव्यमय वर्णन प्रस्तुत करता है। अथर्वण ऋषि ने ६२ मंत्रों में मातृरूपिणी पृथ्वी को समस्त पदार्थों की जननी और पोषिका के रूप में देखा है।

(क) "यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः॥
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः॥"

माता पर पुत्र का कितना अगाध विश्वास है। उसकी कामना है कि माँ पृथ्वी उसके सब शत्रुओं को मार डालेगी और उसे शत्रु विहीन कर देगी:

"यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलवाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां नदति दुन्दुभिः॥
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नान्
असपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥"

अदभुत् है मातृ-तत्व लीला प्रिये नीलकंठी! जो समझा सो डूबा जो डूबा तो फिर यलीन हो गया। हो भी क्यों नहीं ऋतम्भरे! यह समस्त सचराचर जगत् आदि-क्ति मातृ रूप का ही तो प्रतिफलन है। मातृरूप में ही समर्पण, सेवा, उत्सर्ग व है। माता केवल देना चाहती है। उसका धर्म है उत्सर्ग; उसका स्वभाव है मर्पण, उसका कर्म है सेवा और उसकी प्रकृति है निषेध। इसी निषेध में उसका

परम तत्त्व सन्निहित हैं। माता और छलना (Mother & Temptress) दो रूप नारी के हैं। ये दोनों व्यवहार एवं उपलब्धि के स्तर पर भिन्न-भिन्न बिन्दुओं की ओर ले जाती हैं। तन के सम्बन्ध से लेकर मन के सम्बन्ध तक एकदम भिन्न। व्यक्ति एक के तन से निकलता है, जन्म लेता है और दूसरे के तन में प्रविष्ट करता है। एक उत्सर्ग करती है, दूसरी प्रतिदान में व्यक्ति को अपने में समाहित कर लेना चाहती है। माता बिना प्रतिदान की आशा में सब स्नेह उड़ेल देती है। कहते हैं माता अँतड़ी टटोलती हैं, जबकि स्त्री गठरी टटोलती है। सो मातृत्व बड़ा ही मार्मिक तत्त्व है बन्धु !

पुरातात्त्विक साक्ष्यों के वातायन से झाँकती धरती माता :

मातृ-देवी और भारत माता की परिकल्पना का उत्स क्या है ? क्या आदिम संस्कृति में इसके चिह्न हैं ? पुरातात्विक अन्वेषणों एवं प्राचीन संस्कृतियों के चिन्तन ज्ञात होता है कि मातृ देवी की पूजा जो धरती माता की ही पर्याय थी, आदिम काल से है। सर जान मार्शल ने वैदिक काल में मातृ देवी की पूजा को गौन माना है। पर इतना स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक अदिति पृथ्वी, आदि शब्द मातृ देवी को ही सूचित करते हैं। मोहेन्जोदड़ो तथा हड़प्पा की मृण्मयीमूर्तियाँ संकेतित करती हैं कि प्राग्वैदिक काल में मातृदेवी की पूजा होती थी। बलूचिस्तान में मातृदेवी की कुछ मृण्मयी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। विद्वानों के अनुसार ये मूर्तियाँ माता प्रकृति की हैं जो धरती माता की ही प्रतीक हैं। मातृदेवी की पूजा की उत्पत्ति धरती माता की पूजा से होती है। समूची प्रकृति मानव का पालन-पोषण करती हैं। मेसोपोटानिया की कुछ प्राचीन पुस्तकों में प्रकृति को पृथ्वी की रानी कहा गया हैं। जे. जी. फ्रेजर ने ग्रीस, रोम, चीन, अफ्रिका, अमेरिका आदि की प्राचीन संस्कृतियों में धरती पूजा के प्रचार की कथाओं का उल्लेख किया है (दे० The worship of Nature, P. 6—11) वेरियार एलविन ने बैगा जाति में धरती पूजा का संकेत किया है। बैगा जाति धरती को माता मानती है। वह उसकी मातृदेवी रूप में पूजा करती है तथा उस पर हल चलाना पाप मानती है। वे लोग शराब सेवन के समय धरती पर कुछ बूंद शराब की चढ़ाकर ही सेवन करते हैं। (दे० द बैगा, पृ० ५८-५९)

उर्वरक सम्प्रदाय (फरटीलिटी कल्ट) के अनुसार उर्वरक-देवी का पूजन प्रचलित है। बेबीलोन की मुद्राओं पर अंकित अनाज के बाल के डंठल पर अंकित मातृदेवी का चित्र है। यह निश्चय ही पृथ्वी माता की उर्वरता की उपासना है। (दे० कलकत्ता रिव्यू; जिल्द ३९, १९३१, पृ० २३०—२३१) सिन्धु प्रान्त में भी इसी दृष्टिकोण से मातृदेवी की पूजा होती थी। मूलत: अनाज के डंठल पर अंकित

देवी धरती माता ही है। फरात, टिगरिज, नील एवं सिन्धु के तट पर रहने वालों के लिए खेती आवश्यक थी। अत: पोषण करने वाली कृषि की देवी धरती को माता मानकर पूजा करना सहज था। उपज की देवी का चित्रण भारतीय कला में है। साँची के स्तूप के एक परिचक्र पर उपज की देवी का चित्र है। सर जान मार्शल ने इसे उपज की देवी या लक्ष्मी का चित्रण माना है, जो वस्तुत: धरती माता को ही व्यंजित करता है। (दे० सर जान मार्शल : ए गाइड टु साँची पृ० १४०) ऋग्वेद में मातृदेवी के लिए अदिति, प्रकृति एवं पृथ्वी शब्द आया है :

"अदिति द्यौंरदितिन्तरि क्षमदिर्ति माता सपिता स पुत्रः ।।
विश्वेदेवा अदिति पञ्चजना अदिति जांतमदितिर्जनित्वम् ।।"

[ऋग्वेद : १-८९-१०]

अदिति का रूपक और गुण मातृदेवी सदृश है :

नमो मात्रे, पृथिव्यै, नमो मात्रे पृथिव्यै

[यजुर्वेद ९१२२]

इयम् पृथ्वी वै माता"

[तैतिरीय संहिता ३१-८-९-१]

लगता है प्राचीन वद्धमूल लोक विश्वासों में प्रकृति देवी और पृथ्वी माता पर्याय बन गयी थीं। प्रकृति को माता मानना धरती को ही माता मान कर पूजना था। हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर प्रकृति देवी का चित्र है। विवरण इस प्रकार है। इसमें एक स्त्री के गर्भ से एक वृक्ष निकल रहा है। बाँई ओर ६ अक्षरों का लेख है, फिर दो पशु हैं पुनः मुद्रा की दूसरी ओर वही लेख तथा बाँई ओर एक स्त्री और एक पुरुष का चित्र जिसमें स्त्री दोनों हाथों को ऊपर उठाकर बैठी है। पुरुष के दाँये हाथ में हँसिया सदृश कोई वस्तु है। सम्भवत: वह स्त्री को देवी के लिए बलि चढ़ाना चाहता है। (दे० सर जान मार्शल : मोहेंजोदड़ों ऐंड इंडस सिविलाइजेशन, जिल्द ३, पृ० ९०]

उक्त पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर दो बातें स्पष्ट होती हैं :

(क) प्रकृति देवी की मातृ रूप में कल्पना और उसकी धरती माता के पर्याय रूप में स्वीकृति।

(ख) उर्वरता की देवी की मातृ रूप में कल्पना तथा इसे धरती माता का प्रतीक मानकर पूजना।

निश्चय ही आदिम मानव की जीविका कृषि आश्रित रही। धरती पर ही कृषि सम्भव है, क्योंकि वही उपज देती है। वही उपज की देवी है। वही हिरण्यमयी है। इसी से वैदिक ऋषि उसके हिरण्यमय संदर्शन का प्रार्थी है :

"सानों भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव संदृशि ।।"

अबोधपूर्वा स्मृति और मातृ-बिम्ब :

कालिदास ने "अबोधपूर्वा स्मृति" की कल्पना की है। यह अबोधपूर्वा स्मृति जन्म जन्मान्तर के संस्कारों का पुनर्जागरण है। युग ने एक सामूहिक अचेतन मानस की कल्पना की है। इसमें अनेक जन्मों के संस्कार पड़े रहते हैं। वे ही संस्कार तत् तत् परिस्थितियों-घटनाओं के अनुरूप उदबुद्ध होकर चेतन मानस में व्यक्त होते रहते हैं। आदिम काल से जनमानस में न जाने कितने संस्कार पड़े हैं। मातृ-रूप के प्रति राग और माता-पिता के प्रणय बिम्ब का संस्कार उसके सामूहिक अचेतन मानस में है। उसी को वह आज अनेक कथा बन्ध के रूप में व्यक्त करता है। आदिम मानव के मिथ—सर्जन की प्रकृति ने मानवीय सम्वन्धों को कथात्मक रूप में बाँधा है और आकाश-पृथ्वी में माता-पिता की कल्पना की है। जायसी ने लिखा है "**होंतहि बिरवा भये दुइ पाता, पिता सरग और धरती माता।**" सरग > स्वर्ग > आकाश है और माता धरती है। वस्तुतः यह सामूहिक अचेतन मानस के बिम्ब का सर्जन है जो आकाश पिता और पृथ्वी माता के बिम्ब के रूप में प्रकट होता है। वैदिक ऋषि अपनी कल्पना में "द्यौ मे पिता जनिता" कहता है और पुनः वह कहता है "**द्यौ मे पिता पृथ्वी मे माता**"। आकाश को पिता और पृथ्वी को माता कहा गया है और इस प्रकार आकाश-पृथ्वी के प्रणय मिथ को प्रकट किया गया है। सृष्टि-सर्जन के इतिहास की व्याख्या सभी संस्कृतियों में मिलती है। क्रिश्चियन विश्वास में सृष्टि सर्जन ईश्वर से हुआ जिसे ओल्ड टेस्टामेन्ट (Old-Testament) क्रिटीओ एक्स डीओ (Createo-ex Deo) कहता है। यह "डिवाइन फादर" है। यह दिव्य पिता परम पुरुष हैं जो शक्तिमान एवं क्रियाशील हैं। इसके विपरीत स्त्री है जो पैसिव है और पृथ्वी की भाँति है। स्त्री के प्रति द्विअर्थक भाव है। उसे एक तरफ सकल बुराइयों का केन्द्र बिन्दु माना है जैसे पनडोरा, सीविल, और इव। ये मानव को काम-चेतना में आवेष्टित कर उसकी सम्पूर्ण शक्ति का हरण करती हैं तथा अन्त में अपनी तृप्ति कर उसे फेंक देती हैं। ग्रीक मिथ में सृष्टि सर्जन क्रम में एक कला है। सृष्टि की आदि जननी यूरीनोम वासना-नृत्यरत है। महासागर की उत्ताल तरंगों पर मुक्तकेश नग्न देह देवी नृत्य करती है। उसके अंग-प्रत्यंग से वासना का संचार हो रहा है सहसा अनन्त जलराशि से भयंकर सर्प का उदय होता है। वह देवी की जाँघों और कटिभाग में लिपट गया। परिणामतः सृष्टि आरम्भ होती है और अतिदानव (टाइटन) का आविर्भाव होता है। यह नारी के भैरवी चक्र का व्यूह है जिसमें फँसता है पुरुष। वह कभी रिक्त नहीं होती। पुरुष व्यक्तित्व सर्प की भाँति भोग में लिप्त होता है और वह उसी प्रकार नारी द्वारा फेंक दिया जाता है जैसे यूरीनोम ने अपनी तृप्ति पर महा घोर सर्प को फेंक दिया था। इस मिथकीय चेतना में नारी के छलना

(Temptress) रूप की व्यंजना हैं। दूसरा वात्सल्यमयी माँ का है, इसे क्रिश्चियन संस्कार वर्जिन मेरी में पाता है और भारतीय संस्कार जननी में पाता है। ठीक इसी प्रकार पृथ्वी के दो रूप हैं एक भयावह माता (Terrible Mother) और दूसरा पृथ्वी माता (Earth Mother)। पृथ्वी का जो भी भयावह रूप है, जो भी लालसा से आकृष्ट सौन्दर्य है, वह संहारात्मक हैं भयावह है। एक टेरीवुल मदर के बिम्ब को उभाग्ता है। पर ममतामयी पृथ्वी माता का रूप वह है जो सीता जैसी दुखिया को अपने अंक में समाहित कर लेती है और सृष्टि के सभी जीव को स्नेह से पालकर संवर्द्धन करती हैं। कैलीफोर्निया की पुराण कथा के अनुसार "टमिवायट" (Tamaiawot) जिसे पृथ्वी (EARTH) कहा गया है, एक औरत थी और इसी से सृष्टि का सर्जन हुआ। सर्जनकर्त्ता होने और पालन पोषण करने से पृथ्वी माता के रूप में परिकल्पित हो गयी।

"मातृभूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्यां" की भावना का उत्तरोत्तर विकास होता गया है। मूलतः उर्वरक सम्प्रदाय के बद्धमूल विश्वासों में यह मातृ-तत्त्व धरित्री की उर्वरता का प्रतीक हैं। यही उर्वरता सृष्टि को सर्जित करती है। प्रजनन शक्ति, उर्वरता की क्षमता के कारण, यह पृथ्वी माता EARTH-MOTHER के बिम्ब का व्यंजक है। चूँकि मातृ नारी तत्त्व है, अतः संहारात्मक एवं सर्जनात्मक दोनों रूपों में है। पृथ्वी माता के रूप की कल्पना सभी संस्कृतियों में हैं, क्योंकि समूची सृष्टि का सर्जन इसी से हुआ है। चाहे क्लाजिकल मिथ हो या ग्रीस माइथालाजी, अथवा वैदिक पुराकृलृप्त, सभी में किसी न किसी प्रकार आकाश-पृथ्वी के माता-पिता के प्रणय मिथ की व्यंजना है। दोनों का प्रणय सृष्टि का जनक है। आकाश नभं है और नभस श्रावण मास! श्रावण में मेघ वर्षण से धरित्री अंकुरित होती है। मेघ का वरसना पृथ्वी का अंकुरित होना, आकाश (मेघ) और पृथ्वी के मिलन का समूचा बिम्ब एक प्रणय व्यापार का व्यंजक हैं जो पिता-माता के प्रणय मिथ को व्यक्त करता है। उपनिषद् कहता है कि आकाश से वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी वनी है और इसके बाद सृष्टि सर्जन सम्भव हुआ है : आकाश वदन कर वना मही; आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी का क्रमिक विकास हैं। जल तत्त्व ऋत तत्त्व है। कहा गया है—"ऋतं च सत्यं च"।। जो ऋत है, वहीं सत्य है। यह सत्य ही परम पुरुष या डिवाइन फादर है जिससे समूची सृष्टि वनती है और वनता है पिता आकाश, माता पृथ्वी के सनातन रागात्मक सम्बन्ध का विम्ब :

द्यौ मे पिता जनिताः (ऋग् ९/१६४/३३)

द्यौर्मे पिता पृथ्वी मे माताः (काष्क संहिता ३७/१५/१६)

पृथ्वी का गन्धमादन बिम्ब :

भारतीय विचारकों ने गन्धवती पृथ्वी कहा है। पृथ्वी का अणु अणु गन्धम हैं। औपनिषद्दिक चिन्ता के अनुसार आकाश से पृथ्वी की उत्पत्ति की गाथा सूक्ष्म स्थूल की ओर प्रयाण गाथा है। कहा गया है : **आकाशात् वायुः वायुर्अग्ने अग्नेर आपश्यः पृथ्वी।**" यह क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल की ओर की यात्रा हैं। शब्द, स्पर्श, रू रस, गन्ध क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी के गुण है। इनका सम्वन्ध क्रमश पंचेन्द्रियों से हैं, जो इस प्रकार है :

(क) आकाश = शव्द = शव्द ग्राही इन्द्रिय
(कान)

(ख) वायु = स्पर्श = स्पर्शेन्द्रिय
(त्वचा)

(ग) अग्नि = रूप = रूपग्राही इन्द्रिय
(चक्षु)

(घ) जल = रस = रसेन्द्रिय
(जिह्वा)

(ङ) पृथ्वी = गन्ध = घ्राणेन्द्रिय
(नासिका)

सूक्ष्म से स्थूल की यात्रा में गन्ध सबसे स्थूल है। बाकी अन्य सूक्ष्म से सूक्ष्मत होते गये हैं। शब्द सबसे अधिक सूक्ष्म है। यह आकाश का गुण है। पृथ्वी का ग गन्ध है। इसी से शास्त्रकारों ने गन्धवती पृथ्वी कहा है। पृथ्वी में गन्ध है। क हैं सबसे पहले घ्राण विम्व का ही प्रत्यक्षीकरण हुआ था। भारतीय आचार्यों ने ग को सबसे स्थूल माना है। पृथ्वी का समूचा आकर्षण इस गन्ध के कारण है। गन्ध मोहक हैं, शामक है और चित्त में आह्लाद को स्फुरित करता है। सम्पू ब्रह्माण्ड में जहाँ भी गन्ध हैं, वहाँ पृथ्वी माता का अनुपमेय प्रसार है।

* * *

जनपदीय आन्दोलन का भविष्य

— डॉ० किरन मराली

जनपदों और जनपदीय आन्दोलनों की चर्चा एक बार फिर चल पड़ी है। इसका क्षेत्र सांप्रदायिकता तथा प्रान्तीयता के नारे से भिन्न स्तर का है। इसकी इकाई राष्ट्रीय चेतना को खंडित न कर उसे महिमा मंडित बनाने वाली है। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ-साथ जो जनपदीय भावना स्फुरित हुई थी वह धीरे-धीरे अन्तर्राष्ट्रीय भंवर में चक्कर लगाती खो चली। जनपदीयता की कौन कहे राष्ट्रीयता की लहर तक मन्द और मलिन पड़ती जान पड़ने लगी। पैर तले की मिट्टी खिसकती दिखाई देने लगी। ऐसा लगने लगा कि हम अन्तरिक्ष में उड़ने लगे। धरती से हमारा नाता टूटने लगा। यथार्थ से कट कर वायवीय सपने संजोने लगे। हमारे राष्ट्रीय जीवन में यह एक नया मोड़ था। जिस किसी ने मोड़ के बिन्दु तक ही अपनी दृष्टि सीमित रखी उसका दुष्परिणाम जो होना था वही हुआ और धीरे-धीरे हम अपनी अस्मिता से ही दूर जा पड़े। देश में आज जो विश्रृंखलता और बिखराव दिखाई देने लगा है उसका एक बुनियादी कारण उपर्युक्त भावना का अभाव भी है।

हमारे देश में जनपदों का बहुत बड़ा महत्व था और वहाँ से जन-मानस रणा ग्रहण किया करता था। हमारे सांस्कृतिक जीवन में जो हलचल और तिविधियाँ पायी जाती रही हैं उनका मूल स्रोत ये जनपद ही रहे हैं। वहाँ के निवासियों की यद्यपि अपनी-अपनी बोली और वेश-भूषा, खान-पान, तथा मान्यता ही है तथापि सबकी प्राणधारा में समान सांस्कृतिक चेतना प्रवाहित रही है। इसका रिचय और परिचालन आज भी हमें उनके मेलों, व्रतों तथा त्योहारों द्वारा प्राप्त ते हैं। वहाँ सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता अपनी-अपनी सीमा का उल्लंघन कर ष्ट्रीयता का रूप ग्रहण करती चलती है। ऐसे अवसरों पर किसी और से भी थकतावादी प्रमाण का मिल जाना यदि असंभव नहीं तो पर्याप्त कठिन अवश्य है। सके विपरीत ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं जिनसे सामूहिक जीवन की धुर झांकी या झलक अवश्य मिल जाती है और भेद-भाव भूल-भुला कर अपनेपन बोध होने लगता है। इस प्रक्रिया में कोई भेद-भाव आड़े नहीं आता है। बोलियाँ र वेश-भूषा तक के अन्तर किसी प्रकार की कोई बाधा या व्यवधान उपस्थित नहीं र पाते हैं। एक ऐसी मानसिकता का उदय एवं स्फुरण होने लगता है जिसमें

विलगाव को विस्मृत कर मिलन की मधुर प्रेरणा स्थान ग्रहण कर लेती है। प्रकार हम जनपदीयता को सहसा संकीर्ण नहीं ठहरा सकते। यदि कभी और ऐसे लक्षण या संकेत पाये जाते हैं तो उसमें जनपदीयता का नहीं जड़-प्रियता प्रभाव मुखर रहता है।

क्षेत्रीय बोलियाँ ही किसी राष्ट्र-भाषा का मूल स्रोत हुआ करती हैं। जीवंत तत्व ही राष्ट्र-भाषा के विधायक तत्व बनते हैं। इसलिए यह कहना सही है कि बोलियों की उन्नति किसी राष्ट्र-भाषा के विकास में बाधक बनती है। विपरीत वह उसे समृद्ध एवं शक्तिशाली बनाने में योगदान करती है। प्राणवत्ता के ही सहारे वह भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो जाती है। फिर धीरे- उसके सीमा-क्षेत्र का विस्तार होने लग जाता है और लोग उसे अनायास ही अपना पचाने लग जाते हैं। इस प्रकार बोलियां किसी भाषा के विकास में प्रेरक नहीं, पूरक भी बन जाती है। ऐसी दशा में उनके प्रति शंकालु होकर उन्हें प्रति समझना न तो उचित है, न न्याय-संगत ही।

फिर भी लिखे-पढ़े लोगों तक में बोलियों के प्रति तिरस्कार एवं बहि की भावना कुरेदती पायी जाती है। एक ओर ऐसे लोग जहाँ विदेशी तथा विजा शब्दों को ग्रहण करने में अतिरिक्त उत्साह का प्रदर्शन करते हैं वहाँ दूसरी बोलियों के सटीक प्रयोग पाकर भी नाक-भौंह चढ़ाने लग जाते हैं। यह प्र उनकी हीन भावना की ही द्योतक कहला सकती है। ऐसे बुद्धिजीवी वर्ग की सूझ पर न केवल प्रश्न-चिन्ह लग जाता है अपितु उनके प्रति अनास्था का भी भाव होने लगता है। सच बात तो यह है कि बोलियों के माध्यम से न केवल राष्ट्र- का भण्डार समृद्ध होता है अपितु विभिन्न शब्दों के विविध प्रयोगों के नये-नये सू हाथ लगते हैं। इन बोलियों में प्रयुक्त अनगिनत लोकोक्तियों और मुहावरों से व्यंजना-शैली की नई-नई दिशाओं का उद्घाटन होता दिखाई देता है। इससे वि तथा विजातीय शब्दों को अन्धाधुन्ध ग्रहण करने की हमारी विवशता और निर्भरता भी नियंत्रित हो जाती है। अनर्गल बातें ऐसे लोगों की ओर से बनायी हैं जो घर की संचित मूल्यवान राशि की उपेक्षा एवं अनादर कर बाहर की कौड़ी का महत्व देते नहीं अघाते और स्वाभिमान को तिलांजलि देने तक में सं न कर गर्व एवं गौरव का अनुभव करते हैं। जिन लोगों में स्वाभिमान नहीं, राष्ट्राभिमान की आशा रखना बालू से तेल निकालने जैसा है।

परन्तु हमें हताश या निराश होने की आवश्यकता नहीं है। हमारे बीच पीढ़ी के ऐसे युवक-युवतियाँ मौजूद हैं और उनकी संख्या दिनों दिन बढ़ने ही

है जिनके लिए राष्ट्रीय चेतना के विकास में जनपदीय भावना प्रबल सहायक है। इसी धारणा से प्रेरणा प्राप्त करके जनपदीय बोलियों को यथोचित महत्व देते हुए उन्हें ग्रहण करने में संकोच का अनुभव नहीं करते। फलतः उन्हें ग्लानि की अपेक्षा गर्व का बोध होने लगा है।

जनपदीय जागरण का यह नया मोड़ उत्साहवर्धक एवं आशाप्रद प्रतीत होता है। इस शुभ तथा श्रेयस्कर पहल से आशा की एक नई ज्योति जगमगा उठी है जिससे जनपदीय आन्दोलन का भविष्य उज्ज्वल एव मंगलमय भासने लगा है। इससे जनपदीय भावना के साथ-साथ राष्ट्रीय चेतना भी सुदृढ़ होगी और एक दिन ऐसा आयेगा कि जनपदीय आन्दोलन के प्रति हमारी आशंक़ाएं निर्मूल एवं निराधार सिद्ध होंगी और हम उसके पक्षधर तथा समर्थक बन जायेंगे। ऐसी दशा में ही हम अपनी प्रकृति एवं पुरुषार्थ का सदुपयोग कर अपना सही परिचय दे पायेगें और अबाध गति से अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर हो पायेंगे। राहुल सांकृत्यायन, पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी, राजर्षि पुरुषोतमदास टंडन, आचार्य नरेन्द्र देव, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल आदि मनीषियों ने जो ज्योति जगायी है उसके सच्चे उत्तराधिकारी के रूप में ज्योति-वाहक का पुनीत कर्त्तव्य-पालन करेंगे और एक दिन हमारे जनपद जन-जागरण के स्रोत बन जायेंगे।

★

जनपदीय अध्ययन का उद्देश्य-मनुष्य को पहचानना

— रामनारायण उपाध्याय

लोक क्या है ? यह जो गांवों और नगरों में, खेतों और कारखानों में, गिरि कन्दराओं और मैदानों में, नदियों के मुहाने से लेकर पर्वत-शिखरों तक मधुमक्खी के छत्ते की तरह, असंख्य जनता फैली है, वेदव्यास ने जिसके बारे में कहा था कि मैं तुम्हें अत्यन्त गुप्त रहस्य की वात बताता हूँ, इस दुनिया में सबसे बड़ा मनुष्य है, उससे बड़ा कोई नहीं । चंडीदास ने जिसके बारे में गाया – शुनो-शुनो हे मानुष भाई, सबार ऊपर मानुष सत्य ताहार ऊपर नाइँ । "हे भाई सुनो, मनुष्य से बड़ा और कोई सत्य नहीं है" और अभी-अभी डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जिसके बारे में कह गये कि हमारे समस्त विचारों और कार्यों के मूल में जनता प्रतिष्ठित है। पृथ्वी हमारी माता है, और हम उसके पत्र हैं । सो उस लोक को जानने-पहचानने और जाग्रत करने का प्रयास ही, जनपदीय अध्ययन का उद्देश्य है ।

लोक संस्कृति क्या है ? जाने क्यों संस्कृति शब्द अपनी दुरुहता के लिए प्रसिद्ध रहा है; लेकिन हिन्दी साहित्य में जो शब्द अपनी दुरुहता के लिए प्रसिद्ध रहा है, वही लोक साहित्य में, किसी बात को सहज सरल ढंग से समझाने के लिए व्यवहृत होता आया है । जब कोई व्यक्ति, विशेष प्रकार से रहने या काम करने का अभ्यस्त हो जाता है और लाख कठिनाइयाँ आने पर भी अपने मार्ग से विचलित नहीं हो पाता तो कहते हैं, 'अरे उसके तो संस्कार पड़ गये हैं, वह नहीं वदलेगा ।' सो व्यक्ति विशेष के कार्य जहाँ संस्कार कहलाते हैं, वे ही जब समष्टिगत स्वरूप ले लेते हैं तो उसे संस्कृति कहते हैं । एक शब्द में कहें तो अच्छी कृति से कीर्ति, कीर्ति से निरन्तर अच्छी कृति याने संस्कृति में से, संस्कृति का जन्म होता है । गाँवों को यदि लोक संस्कृति का मूर्त स्वरूप कहें तो भी अत्युक्ति नहीं । गाँवों का आदमी निरक्षर भले हो, लेकिन सुसंस्कृत रहा है । वह विश्वास पर बिक जाता है, धर्म पर झुक जाता है, सबको सहता है, पर शिकायत नहीं करता, सबकी सुनता है, पर अपनी ओर से कुछ नहीं कहता । वह कभी थक कर नहीं बैठता, झुक कर नहीं चलता, और त्याग में से प्राप्ति तथा परिश्रम में से आनन्द पाता आया है । दुःख का पहाड़ आ जाये या सुख की क्षीण रेखा— वह सदा मुस्कराता है और

अकेले रह जाने पर भी अपनी राह चलना नहीं छोड़ता। विभिन्न जातियों, मतों और वर्गों में बंटे होने पर भी वह समूचे गाँव को एक परिवार मानता आया है। और अपरिचित से भी, आत्मीयता निभाना उसका स्वभाव बन चुका है। हल की नोक से जमीन की छाती पर उभरे हुए ढेलों की तरह, जिसके चेहरे पर सदियों के दुःख दर्द को आसानी से पढ़ा जा सकता है, लेकिन जिस तरह कठोर पर्वत अपने हृदय में सरिता के उद्‌गम को छिपाये रहते हैं, वैसे ही ऊपर से कठोर दीखने वाले, ये जानपद जन अपने हृदय में लोक साहित्य की अक्षय परम्परा को जिन्दा रखे हुए हैं। इनके पास सभा के नहीं, श्रम के गीत हैं, जिनकी अंगुली पकड़ कर, उसने शताब्दी की दूरियों को लांघा और अतीत से प्रेरणा ग्रहण कर भविष्य के लिए मार्ग दर्शन पाया है। उनके पास कमरे के नहीं, वरन् खुले मंच पर खेलने योग्य लोकनाट्य हैं जिनके माध्यम से उसने वर्त्तमान को देखने, समझने और संवारने की दृष्टि पाई है। उसके पास पुस्तक की नहीं वरन् जीवन की ऐसी रंगीन लोक कथायें हैं, जिन्होंने उसे वर्त्तमान के दुःख-दर्द को भुलाकर, कल्पना के पंखों पर बैठा अज्ञात अनन्त को सैर करायी है और उसके पास पैनी सूझ और समझ से युक्त, ऐसी लोक कहावते हैं जिनमें बड़ी से बड़ी कठिनाइयों में से भी आगे ले जाने की अपूर्व क्षमता है।

गाँवों का आदमी जाने कब से, बाट जोह रहा है, कि कोई आये और उससे भी कुछ ले जाये। उसका समग्र जीवन, एक अनपढ़ी खुली पुस्तक की तरह, सामने बिछा है, उसका रहन-सहन, खान-पान, वस्त्राभूषण, आचार-विचार, रीति-रिवाज, धर्म और आस्था, विश्वास और मान्यताएँ, पर्व और उत्सव, मेले और तमाशे, गीत और कथायें, नृत्य संगीत और कलायें, और भाषा तथा बोलियों के प्रत्येक शब्द हमें कुछ न कुछ देने की क्षमता रखते हैं।

जनपदीय बोली के मैदान में, किलोल करने वाले अनेक शब्द हमारी बाट जोह रहे हैं। गेहूँ का एक नन्हा सा दाना हमें अनेक शब्द देने की क्षमता रखता है। उसका कहना है कि आप मेरे सिर्फ उसी रूप से परिचित हैं; जिसे आपने कन्ट्रोल की दुकान से खरीदा है। वास्तव में जब मुझे एक से अनेक होने के लिए धरती में बोया गया तब मेरे ऊपर आने के लिए व्याकुल नव अंकुरित नन्हें से रूप का नाम है "डिसूर"। जब मैं जमीन से ऊपर होकर लहराया तब मेरा नाम है "जवारा"। जिस डंठल से होकर मैंने रूप ग्रहण किया उसका नाम है "सुकला"। जिस छिलके मेरी वस्त्रों की तरह रक्षा की, उसका नाम है "कुसी" और जिस गुच्छे में मैं मस्ती से रहकर झूमा, उसका नाम है "हुम्बी"। इस तरह अनेक रूपों से गुजरते

हुए मेरा जो स्वरूप आपके सामने आया, सिर्फ उसे ही आप "गेहूँ" के रूप मे पहचानते हैं ।

लोक-भाषा के इसी अक्षय शब्द भण्डार तथा लोक जीवन के विविध रू की खोज-शोध और अध्ययन करना, हमारा पवित्र दायित्व है । आज लोक संस्कृति के समक्ष जितनी चुनौतियाँ खड़ी हैं, उतनी इतिहास में दूर-दूर तक देख को नहीं मिलतीं । जिन गाँवों की संस्कृति में लोक का जन्म हुआ, जिसने लोक जीवन्त रसधारा को, अपने हृदय में सुरक्षित रखा वे ही गाँव आज टूटते जा र हैं । गाँव की वह पुरानी पीढ़ी भी समाप्त होती जा रही है जिसका सम्पूर्ण जीव श्वास-प्रश्वास की तरह गीतों के ताने-वानों पर आधारित था । गाँव में अगर कि के यहाँ बच्चे का जन्म होता तो धरती पर एक नये इन्सान के आने की तरह गी से उसका स्वागत किया जाता । अगर किसी के यहाँ लड़की का ब्याह रचाया जात तो गीत की कड़ियों से हर सुहावने प्रभात और संध्या का स्वागत किया जाता किसी गीत की ही अंगुली पकड़ कर गणेश जी, घर पूछते-पूछते विवाह घर आते अ एक बुजुर्ग की तरह, सारे कामों को निर्विघ्न सम्पन्न करा जाते । गीत की पंक्ति के साथ ही मण्डप तैयार होता और उस मण्डप पर हरी टहनियों के साथ ही स गीत की कुछ कड़ियों को भी छा दिया जाता था । गीत की सहस्र धाराओं से व वधू को स्नान कराया जाता । मांगलिक तिलक लगाया जाता और वैदिक मन्त्रों तरह उनके लिए सुख और समृद्धि को न्यौता जाता था । जब कन्या की विद होती तो गीत की कुछ पंक्तियाँ उसे दूर तक पहुँचाने में साथ निभाती थीं । लड़ की बिदाई पर पिता के रोने से गंगा में बाढ़ आती, माँ के रोने से आकाश में अं छा जाता और भाई के रोने से उसकी धोती पाँवों तक भींग जाती थी । इन गी में मानसरोवर की तरह पिता, भरे-पूरे भण्डार की तरह श्वसुर, बहती गंगा तरह माँ, भरी पूरी वावड़ी की तरह सास, गुलाब के फूल की तरह बच्चे, उगते सूर्य की तरह स्वामी के रूप में ऐसी उदात्त कल्पनायें संजोई हैं; जिन लेकर, हमारा पारिवारिक जीवन समृद्धि होता आया है ।

लोक साहित्य का कार्य महज लोकगीत, लोककथाओं एवं लोक-कहा के संकलन का कार्य नहीं है । वरन् यह जो अनादिकाल से अनन्त काल तक मा की जीवन यात्रा प्रवहमान है उसमें वह कहाँ उठा, कहाँ गिरा और कहाँ आगे इन सबकी खोज, शोध और अध्ययन ही वास्तविक कार्य है ।

★

लोकगीत : स्वरूप विवेचन

— डॉ० रामस्वरूप आर्य

लोकगीत अँग्रेजी के Folk Song (फोक सांग) का पर्याय है। 'फोक' का अर्थ है—लोक, राष्ट्र, जाति, सर्वसाधारण या वर्ग विशेष। डॉ० वाकर के अनुसार इस शब्द से सभ्यता से दूर रहनेवाली किसी पूरी जाति का बोध होता है। किन्तु इसका प्रयोग सर्वसाधारण के लिए ही होता है। लोकगीतों में उन आदिम प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है जो हमें हमारे पूर्वजों से दाय रूप में प्राप्त है तथा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत अधिक बढ़ जाने पर भी जो समय-समय पर प्रकट होती रहती है। यही कारण है कि लोकगीतों में अतिमानवीयता, अंधविश्वास, रहस्य-रोमांच तथा रूढ़ियों की अभिव्यक्ति होती है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए विद्वानों ने लोकगीतों को स्वतः प्रसूत एवं असभ्य तथा अर्द्धसभ्य मानस की उपज बताया है।

श्रीकुंज बिहारीदास के अनुसार "लोकगीत उन लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मकता की अभिव्यक्ति है जो सुसंस्कृत तथा सुसभ्य प्रभावों से बाहर रहकर कम या अधिक रूप में आदिम अवस्था में निवास करते हैं।"[1]

डॉ० सदाशिव कृष्ण फड़के ने लोकगीतों को लोक-मानस के तरंगायित रूप से अद्भूत काव्य-रूप माना है—"शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोक व्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द की तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्भूत करता है, वही लोकगीत है।"[2]

डॉ० चिंतामणि उपाध्याय लोकगीतों को जनमानस की सृष्टि मानते हुए कहते हैं—"सुखदुखमयी भावावेश की अवस्था के चित्रण का माध्यम अश्रुपात, दीर्घ-विश्वास पुलक और मुस्कान आदि आनुभाविक आंगिक चेष्टाओं तक ही सीमित न रहकर हर्ष और वेदना का स्वरूप धारण कर कंठ के द्वारा साकार हो उठता है, तभी गीतों के स्वर फूट पड़ते हैं। ये गीत किसी कवि के नहीं, व्यक्ति-विशेष के नहीं अपितु सामान्य जन-मानस की अज्ञात सृष्टि हैं।"[3]

ग्रिम के अनुसार 'लोकगीत अपने आप बनते हैं।' पैरी के मत में 'लोकगीत आदि मानव का उल्लासमय संगीत है।' डॉ० सत्येन्द्र ने लोकगीत को 'लोक-मानस की अभिव्यक्ति' कहा है।[4]

---

[1] ए स्टडी आफ ओरीसन फाक लोर, पृ० १

[2] सम्मेलन पत्रिका, लोक-संस्कृति अंक, पृ० २५०

[3] लोकायन, पृ० ९७

[4] हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६८९

हिन्दी साहित्य कोश में लोकगीत शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं—

१. लोक में प्रचलित गीत
२. लोकनिर्मित गीत
३. लोकविषयक गीत

वास्तव में लोक में प्रचलित गीत ही लोकगीत हैं, इनके रचयिता का ज्ञान नहीं होता। इनमें एक व्यक्तित्व के स्थान पर लोक-व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया विद्यमान होती है। अत: लोक-मानस से इनका तादात्म्य स्वाभाविक है। लोक (जनसमूह) इसे अपनी ही रचना मानने लगता हैं। अत: वह लोक का ही गीत हो जाता है। डॉ० श्रीराम शर्मा ने इन्हीं भावों का समाहार करते हुए लोक गीत की निम्नलिखित परिभाषा निर्धारित की है—"लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित एवं लोक के लिए लिखे गए गीतों को लोकगीत कहा जा सकता है।"[1]

उक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है—

१. लोकगीतों का निर्माण लोक अर्थात् जनता द्वारा हुआ हैं।
२. लोकगीतों में लोक मानस की अभिव्यक्ति होती है।
३. लोकगीत के रचनाकाल का पता नहीं होता।
४. लोकगीत मौखिक परंपरा से प्राप्त होते हैं।
५. लोकगीतों में आदिम भावनाओं हर्ष-विषाद, सुख-दुखकी सहज अकृत्रिम अभिव्यक्ति होती है।
६. लोकगीत लयात्मक होते हैं।
७. लोकगीतों में छंदों का बंधन नहीं होता। ये तुकान्त तथा अतुकान्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं।
८. लोकगीत अलंकारों के भार से आक्रांत नहीं होते हैं। भावप्रधान होने के कारण वे अंतस्तल को गहराई से प्रभावित करते हैं।
९. लोकगीतों की भाषा सहज तथा स्वाभाविक होती हैं।
१०. कुछ लोकगीतों में प्रश्नोत्तर शैली भी अपनाई जाती है।

आज के युग में जब नागर सभ्यता छिप्र गति से बढ़ रही है, प्राचीनता का परिवेश समाप्तप्राय: होता जा रहा है; नये आदर्श, नवीन नैतिक मूल्य. नये विचार, नवीन भावनाएँ जन्म लेकर फलफूल रही हैं तब पुरानी मान्यताओं, आदर्शों एवं मूल्यों की सुरक्षा के लिए लोकगीतों के संरक्षण, अध्ययन तथा मनन की नितान्त आवश्यकता है। लोकगीतों में हमारे प्राचीन आदर्श आज भी सुरक्षित हैं। इनके आधार पर पारिवारिक संबंधों में माधुर्य का संचार हो सकता है। सामाजिक, सांस्कृतिक दृष्टि के साथ-साथ भौगोलिक ज्ञान एवं ऐतिहासिक दृष्टि से भी लोकगीतों का बड़ा महत्त्व है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी लोकगीतों की अपनी उपयोगिता है। इनमें उपलब्ध मुहावरों, कहावतों तथा विशिष्ट भाव-व्यंजक शब्दों को अपनाकर हम अपनी भाषा को समृद्ध कर सकते हैं।

---

५. लोक साहित्य सिद्धांत और प्रयोग, पृ ३९

* * *

जनपदीय आंदोलन : मार्क्सवादी दृष्टि

—डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ

प्रगतिशील लेखक संघ (संयुक्त प्रान्त) की कौंसिल के समक्ष ५ नवम्बर १९४४ को प्रस्तुत शिवदान सिंह चौहान की रिपोर्ट से स्पष्ट है कि जनपद आंदोलन को मार्क्सवादी दृष्टि से सोचने और लिखने वाले बहुत से लेखकों का खुला समर्थन प्राप्त था। राहुल जी जैसे घोषित मार्क्सवादी जनपद आंदोलन के साथ शुरू से ही थे। देवेन्द्र सत्यार्थी, वृन्दावन लाल वर्मा जैसे प्रगतिशील लेखक भी इस आंदोलन के पीछे की भावना के प्रति पर्याप्त आदर भाव रखते रहे। बनारसीदास चतुर्वेदी और वासुदेवशरण अग्रवाल जनपद आंदोलन के प्रवर्तक कहे जाते हैं। वे उस समय के कथित हिन्दी सेवियों को देखते हुए न केवल बहुत बड़े विद्वान कहे जा सकते हैं, अपितु वे समय से बहुत आगे भी थे। शिवदान सिंह चौहान ने बनारसीदास चतुर्वेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल और राहुल जी के जनपद आंदोलन संबंधी विचारों को इस आंदोलन के तीन चरण कह कर संबोधित किया है—

१. प्रथमचरण—चतुर्वेदी जी की विकेन्द्रीकरण की विचारधारा
२. द्वितीय चरण—वासुदेवशरण जी की जनपदीय योजना
३. तृतीय चरण—राहुल जी की मातृभाषाओं से सम्बद्ध विचारधारा

फरवरी '३४ में बनारसीदास चतुर्वेदी ने साहित्यिक प्रान्तों के पुनर्निर्माण की अपील की। उनके विचार में, साहित्यसेवियों की बढ़ती हुई संख्या को देखते हुए यह संभव नहीं है कि काशी या लखनऊ या अन्य किसी एक केन्द्र से साहित्य की संपूर्ण गतिविधियों का संचालन हो। इसके लिये आवश्यक है कि प्रान्तीय साहित्य सम्मेलनों को जाग्रत किया जाय। चतुर्वेदी जी के इन विचारों का परिष्कार आगे चल कर 'विकेन्द्रीकरण' की धारणा के रूप में हुआ। प्रारंभ में चतुर्वेदी जी के विचारों का पर्याप्त स्वागत हुआ। यहाँ तक कि दिल्ली साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में इस संबंध में एक प्रस्ताव भी पारित किया गया। यह प्रस्ताव इस प्रकार था —

"........सम्मेलन आवश्यक समझता है कि प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन और महत्त्वपूर्ण बोलियों के क्षेत्र में मण्डल सभाएँ स्थापित की जाएँ, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन से संबद्ध होकर व्यवस्थित रीति से निरंतर कार्य करती रहें।"

यद्यपि चतुर्वेदी जी का विकेन्द्रीकरण - साहित्य सम्मेलन का विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त व्रजसाहित्य मंडल आदि संस्थाओं के रूप में व्यावहारिक सिद्ध होने लगा लेकिन जनपदीय भाषाओं की स्वतंत्र सत्ता के प्रस्ताव पर उन्हें बहुत समर्थन नहीं मिला। शिवदान सिंह के अनुसार, ऐसा स्पष्ट विचारधारा के अभाव के कारण हुआ : "जनपदों की जनता यदि चाहे तो रीडरें बनाने को स्वतंत्र हो, नहीं तो 'सांस्कृतिक उपवन के वैचित्र्य को बनाये रखने के लिये बोलियों को पनपने दिया जाय। कैसे और क्यों, किस जनवादी सिद्धान्त; न्याय और नैतिकता के आधार पर इस 'वैचित्र्य' की रक्षा की जाय, इसका निर्देश उन्होंने नहीं किया।"

बाद में डॉ० वासुदेवशरणजी अग्रवाल की 'पंचवर्षीय जनपद कल्याणी योजना' जनपद आंदोलन को विस्तार देने में समर्थ सिद्ध हुई। इस योजना के प्रमुख संकल्प इस प्रकार थे —

वर्ष १. साहित्य, कविता, लोकगीत, कहानी आदि जनपदीय साहित्य के विविध अंगों की खोज और संग्रह। वैज्ञानिक पद्धति से उनका प्रकाशन और सम्पादन।

वर्ष २. भाषा विज्ञान की दृष्टि से जनपदीय भाषा का सांगोपांग अध्ययन—अर्थात् उच्चारण और ध्वनिविज्ञान, शब्दकोष, प्रत्यय, धातुपाठ, मुहावरे, कहाव और नाना प्रकार के पारिभाषिक शब्दों का संग्रह और आवश्यकतानुसार सचि सम्पादन।

वर्ष ३. स्थानीय भूगोल, स्थानों के नाम की व्युत्पत्ति और उनका इतिहास स्थानीय पुरातत्त्व और शिल्प का अध्ययन।

वर्ष ४. पृथ्वी के भौतिक रूप का समग्र परिचय प्राप्त करना—अर्थात् वृक्ष वनस्पति, मिट्टी, पत्थर, खनिज, पशु-पक्षी, धान्य, कृषि, उद्योगधंधों का अध्ययन।

वर्ष ५. जनपद के निवासी जनों का सम्पूर्ण परिचय—अर्थात् मनुष्यों की जातियाँ; लोक का रहन-सहन, धर्म, विश्वास और रीति रिवाज, नृत्यगीत और आमोद-प्रमोद, पर्व-उत्सव, मेले, खान-पान, स्वभाव के गुण-दोष, चरित्र की विशेषताएँ, इन सबकी बारीक छानबीन और पूरी जानकारी प्राप्त करके ग्रंथ रूप में प्रस्तुत करना।

शिवदान सिंह चौहान ने वासुदेवशरण अग्रवाल की उपर्युक्त योजना को बनारसीदास चतुर्वेदी के 'विकेन्द्रीकरण' सिद्धान्त का पूरक बताया है। श्री अग्रवाल की योजना 'विकेन्द्रीकरण' की माँग को सोद्देश्य बनाती है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि वासुदेवशरणजी 'विकेन्द्रीकरण' शब्द के प्रयोग से सहमत नहीं थे।

लगता था कि यह शब्द कुछ विशेष संस्कार लेकर साहित्य में आया है। मार्क्सवादियों को लगता है कि चतुर्वेदी जी वैचारिक स्तर पर अधिक यथार्थपरक और प्रगतिशील थे। चूँकि वासुदेवशरण अग्रवाल की योजना में हिन्दी के हित पर पूरा ध्यान है, इसलिए उनकी योजना को 'हिन्दी कल्याणीय योजना' के रूप में समझा गया। इसीलिए श्री चौहान जैसे मार्क्सवादियों ने उनकी वैचारिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाये। श्री चौहान ने कुछ व्यंगात्मक मुद्रा में लिखा—

"विचार केवल इतना है कि इन मिटती हुई जनपद संस्कृतियों की विशेषताओं का संग्रह करके हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) को भाषाओं का ऐसा म्यूजियम बनायें, जिसमें राजस्थान, पंजाब, नेपाल, विदेह और मध्य प्रान्त तक फैले हुए मध्य देश की विभिन्न भाषाओं का सत्त्व खींच कर केवल हिन्दी ही एक जीवित भाषा रह जाय और वही इन भाषाओं के म्यूजियम की क्यूरेटर भी हो।"

दरअसल श्री चौहान और राहुल जी जैसे कई विचारकों के सामने रूस का 'मॉडल' था, जहाँ तुर्कमान, उजबेक, कजाक आदि जातियों में शिक्षा की अभूतपूर्व प्रगति का मुख्य कारण यह था कि सोवियत शासन ने वहाँ मातृभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बना दिया था। हाँलाकि मार्क्सवादियों में ही रामविलास शर्मा भी थे, जो रूस का ही उदाहरण देते हुए एक वृहत्तर हिन्दुस्तानी जाति के जन्म की ओर संकेत करते रहे और हिन्दी को मातृभाषाओं के सही विकल्प के रूप में देखते रहे। राहुल जी ने ७३ भाषाओं और ७३ जातियों की सूची देते हुए जहाँ उनके उत्थान की बात की, वहीं अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप में हिन्दी को सर्वाधिक उपयुक्त माना। लेकिन राहुल जी ने अपने विचारों को जातियों पर कुछ इस तरह केन्द्रित किया था कि उन्हें पाकिस्तान की माँग भी कुछ जातियों के आत्म निर्णय के अधिकार की न्यायपूर्ण माँग लगी थी। राहुल जी के विचारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने मातृभाषा में शिक्षा देने के लाभ को भलीभाँति रेखांकित किया।

'जनपद' की अवधारणा को लेकर श्री चौहान आदि वामपंथी विचारक वासुदेवशरण अग्रवाल आदि से सहमत नहीं हैं। उन्हें लगता है कि श्री अग्रवाल की 'जनपद' संबंधी अवधारणा संदिग्ध और अनिश्चित है। इसे केवल 'ग्रामों का समूह' तक सीमित नहीं किया जा सकता। इन प्रगतिशील कहे जाने वालों के अनुसार—

" 'जनपद' एक ऐसा भूखंड है, जिस पर बसने वालों की एक ही भाषा हो, एक ऐतिहासिक परम्परा हो, एक संस्कृति हो और एक आर्थिक सामाजिक जीवन हो, रहा हो या भविष्य में भी हो सकता हो—अर्थात् वह जनसमुदाय एक विशिष्ट जाति हो।"

जनपद की इस अवधारणा को प्रस्तुत करने के साथ-साथ शिवदान सि चौहान ने जनपदीय प्रश्न पर तीन सूत्रीय प्रगतिवादी कार्यक्रम की चर्चा की है—

१. जन भाषा
२. जन शिक्षा
३. जन-साहित्य-संस्कृति

जनपदीय प्रश्न पर श्री चौहान ने जातियों के आत्म-निर्णय के अधिकार सिद्धान्त की वकालत जोर-शोर से की है। उनके अनुसार "प्रगतिवादियों के लि जनपदीय भाषाओं के प्रश्न का समाधान इस सिद्धान्त का आधार लिये बिना असं होगा। जनभाषा, जनशिक्षा और जन-साहित्य-संस्कृति का लक्ष्य उस समय त आकाश कुसुम बना रहेगा जबतक कि इस सिद्धान्त पर अमल न किया जायेगा पता नहीं, अब शिवदान सिंह चौहान के विचार इस संबंध में क्या हैं ? पिछले दि पंजाब, असम आदि में इस सिद्धान्त को प्रश्रय देने के नतीजे बहुत भयंकर रहे है वामपंथी पार्टियों ने भी आत्म निर्णय के आधार पर जन्मी अलगाववादी विचारधा का स्पष्ट विरोध किया है। इसके अतिरिक्त श्री चौहान द्वारा हिन्दी को 'भाषा का विशाल कारागार' कहना भी चिन्त्य है। सांस्कृतिक स्वाधीनता के नाम पर हि विरोध को शह देना जनपदीय आंदोलन को क्षति ही पहुँचायेगा। इस संदर्भ वासुदेवशरण अग्रवाल की दृष्टि अधिक प्रासांगिक लगती है।

श्री शिवदान सिंह चौहान की रिपोर्ट पर संयुक्त प्रान्तीय प्रगतिशील लेख संघ की कौंसिल के प्रस्ताव से स्पष्ट है कि जातियों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त लेकर प्रगतिशील लेखकों में पर्याप्त मतभेद रहे होंगे, अन्यथा प्रस्ताव में उसका स्प उल्लेख होता। इस प्रस्ताव में यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि पिछड़े हुए अंचलों जनसाहित्य के विकास पर भी दृष्टि रही है—

"इस कौंसिल का निश्चित मत है कि जनपदीय भाषाओं के स्वतंत्र विका से इन प्रदेशों की स्वतंत्र संस्कृतियों और निजी विशेषताओं का समुचित प्रस्फु होगा। इसके साथ ही साथ जनपदीय भाषाओं के विकास से जनशिक्षा के कार्य सहायता मिलेगी और देश के सबसे पिछड़े हुए, विस्मृत कोनों में भी जनसाहित्य विकास को अप्रत्याशित बल मिलेगा।"

आज प्रगतिशील लेखकों और जनवादी रचनाकारों में 'जनपदीय प्रश्न' लेकर संवाद या विवाद की कोई स्थिति नहीं दिखायी देती। एक उपेक्षा का भाव दिखायी देता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि डॉ० वासुदेवशरण अग्रवा आदि के विचारों पर फिर से बहस शुरू की जाय और उनके विचारों में यथोचि परिवर्त्तन-संशोधन किया जाय।

★

शिक्षा में जनपदीय अध्ययन का महत्त्व

—आचार्य पण्डित कुलदीप नारायण 'झड़प'

शिक्षा का अर्थ सीखना होता है। मनुष्य अच्छी बातें भी सीख सकता है, और बुरी भी, किन्तु शिक्षा एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका तात्पर्य अच्छी शिक्षा से है। जो शिक्षा मनुष्य का शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक परिष्कार कर उसे समाजोपयोगी बना सके, उसे ही शिक्षा कहेंगे। प्रसिद्ध विचारक आचार्य विनोबाभावे के अनुसार—'निर्भयता, अपने पर जब्त (आत्म संयम) और विचार की शक्ति के साथ विचार की आजादी —ये तीन चीजें जिसमें हैं, उसका नाम है, तालीम (शिक्षा)।'

शिक्षा के इस त्रिकोणात्मक तत्व को समझना चाहिए। निर्भयता का आधार आत्मवल है। आत्मवल की स्थिति आध्यात्मिक-चेतना से ही संभव है। आत्म-संयम के लिए आध्यात्मिक और नैतिक आधार की आवश्यकता है, किन्तु इसके साथ-साथ समाज तथा उससे सम्बद्ध बातों की जानकारी होनी चाहिए। विचार करने की शक्ति सामाजिक व्यवहार और विविध विषयों के ज्ञान पर ही निर्भर है। जब कोई व्यक्ति, राष्ट्र या समाज इन गुणों से युक्त होगा, तो शिक्षित कहलायगा, साक्षर होने से नहीं। शिक्षित राष्ट्र और समाज में शिक्षित पुरुषों द्वारा स्वतन्त्रता पूर्वक विचार व्यक्त करने की क्षमता होती है। श्री रामचन्द्र जी ने अयोध्यावासियों को आदेश करते हुए कहा था—

'जो अनीति कछु भाखौं भाई। तो मोहि बरजहु भय बिसराई॥'

इसी वात का स्पष्टीकरण करते हुए प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री काका कालेलकर ने कहा है—'जिन लोगों को शारदा के स्तन्य का स्पर्श हुआ है, वे अपवित्र वाणी का उच्चारण नहीं करेंगे, निर्बलता के वचन नहीं बोलेंगे, द्वेषोद्गार नहीं निकालेंगे; पाप को नहीं सजावेंगे, पौरुष का हनन नहीं करेंगे और न मुग्ध जनों को ठगेंगे।'

वे आगे कहते हैं—'शारदा के मन्दिर में सर्वोच्च कला हो, कला के नाम पर विलसती विलासिता नहीं। शारदा के भवन में प्रेम का वायु-मण्डल हो, सौन्दर्य का मोहन नहीं। शारदा के उपवन में प्राण स्फुरण हो, निराशा का निःश्वास नहीं। शारदा के लताकुंजों में विश्व-प्रेम का संगीत हो, परस्पर अनुनय का कल-कूजन नहीं। शारदा के विहार में स्वतंत्रता की धीरोदात्त गति हो उद्देश्यहीन और स्खलनशील पदक्रम नहीं। शारदा के पीठ में ब्रह्मरस का प्रवाह हो, विषय रस का उन्माद नहीं।'

सभी महान् विचारकों और शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा के सम्बन्ध में ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं। प्राचीन भारत में शिक्षा का वही उद्देश्य था जो ऊपर स्पष्ट किया गया है। ऐसी उदात्त शिक्षा के लिए शिक्षक भी उच्चस्तरीय सुविज्ञ और सदाचारी होने चाहिए। प्राचीन भारत में उच्चस्तीय चरित्रवान् गुरुओं की कमी नहीं थी। उपनिषद्; शास्त्र-पुराण, काव्य इतिहास सब कहीं उनका गुणगान किया गया है। समाज में उनकी शीर्षस्थ प्रतिष्ठा थी। वे ब्रह्मवेत्ता, बहुश्रुत, लोकाचार के ज्ञाता, अनुभवी, अपरिग्रही, समाजसेवी तथा समाज के नियामक हुआ करते थे।

आधुनिक शिक्षा का स्वरूप

आधुनिक-शिक्षा उपर्युक्त उद्देश्य से प्रेरित नहीं है, इसलिए उपद्रवकारी भी हैं। आजकल की शिक्षा का जो स्वरूप है, वह अपूर्ण और एकांगी है। आधुनिक विद्यालयों की स्थापना अंग्रेजों ने अपने कार्यालयों के लिए किरानी उत्पन्न करने के लिए की थी एवं उसके अनुरूप शिक्षा पद्धति का प्रचलन किया था। इसी से आधुनिक शिक्षा-पद्धति में मानव मन का संस्कार करने वाली, उसके हृदय में समाज के प्रति निष्ठा उत्पन्न करनेवाली, उत्तरदायित्व के प्रति कर्त्तव्य-भावना जगानेवाली; मानवता के प्रति सद्भावना, नैतिकता, प्रेम और संवेदनशीलता बढ़ाने वाली बातों का अभाव है।

उसका उद्देश्य व्यक्ति का संस्कार, सुधार और विस्तार नहीं, अपितु किसी विषय की जानकारी या प्रशिक्षण दे देना है। इस बात से उसका कोई प्रयोजन नहीं कि शिक्षा प्राप्त व्यक्ति अपनी शिक्षा का उपयोग देवत्व बढ़ाने के लिए करेगा या दानवत्व। उसकी शिक्षा संसार में सुख-शान्ति की वृद्धि करने वाली होगी या अनय-अशान्ति का सृजन। आज की शिक्षा मनुष्य को एक पराश्रयी यंत्र बना देता है। वह यंत्र जो कार्यालय में कलम चलाकर अपनी रोटी जोगा सकता है अथवा बेकारी से घुल-घुलकर समाज में सड़न पैदा कर सकता है। जिस शिक्षा स्वाधीनता की चेतना और आत्म-विश्वास का भाव नहीं, वह शिक्षा किस का की ? स्वामी विवेकानन्द का यह कथन कितना यथार्थ है कि—

'हमारे लड़के जो शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, वह भी कितना अभावात्मक (निगेटिव) है। स्कूल के लड़के तो इससे सीखते कुछ भी नहीं, अपितु जो कु अपना है, उसका विनाश हो जाता है, और इसका फल है—श्रद्धा का अभाव।'

आज की शिक्षा-पद्धति में मुख्य तीन त्रुटियाँ है—

१. प्रायः शिक्षा प्राप्त करने का उद्देश्य एक मात्र नौकरी अथवा कोई बौद्धि व्यवसाय; वकालत आदि होता है। यदि कोई नौकरी नहीं मिली या बौद्धि

व्यवसाय चल न सका तो रोग, कष्ट और चिन्ता की जननी पिशाची के समान बेकारी घेर लेती है। वह शारीरिक श्रम पूर्वक कोई स्वतंत्र-पेशा अपनाने और सुविधानुसार जीवन-पथ पर बढ़ने में असमर्थ होता है। वह प्रायः निराश समाज से घृणा करनेवाला तथा असामाजिक तत्त्वों को बढ़ावा देनेवाला बन जाता है।

२. आधुनिक शिक्षा-पद्धति में मानसिक-परिष्कार, आचार-व्यवहार में सुधार और चरित्र-गठन के लिए स्थान नहीं। यही कारण है कि प्रायः विद्यालय आजकल अशान्ति के अड्डा बने हुए हैं और वहाँ से निकले हुए छात्र घोर व्यक्तिनिष्ठता तथा संकीर्ण स्वार्थ के प्रारूप होते हैं। उनमें समाज-निष्ठा और कर्त्तव्य-भावना का सर्वथा अभाव पाया जाता है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ गीता —२/६६।
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ गीता —२/६७॥

अर्थात् हे अर्जुन, साधनहीन पुरुष के अन्तःकरण में न सद्बुद्धि होती है और न सद्भावना। इसलिए वह सदा अशांत रहता है। अशान्त को सुख कहाँ? जैसे जल में पड़ी हुई नाव वायु वेग से डूब जाती है, वैसे ही एक इन्द्रिय भी विषयासक्त पुरुष की प्रज्ञा (बुद्धि) का हरण कर लेती है।

आजकल घूसखोरी, तस्करी, अनुचित मुनाफाखोरी, उत्तरदायित्व के प्रति उपेक्षा, विलासिता, नशाखोरी, वस्तुओं में मिलावट, राहजनी, हत्या आदि जो चरित्रगत दोष देखे जाते हैं, इसका कारण आजकल की असमर्थ एकांगी शिक्षा है। शिक्षक कोई ऐसी बात नहीं बताते, जिससे छात्रों के उत्तम व्यक्तित्व और लोकोपयोगी चरित्र का निर्माण हो सके।

३. आज के विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करनेवाला विद्यार्थी संपूर्ण विश्व के भूगोल, इतिहास और समाजशास्त्र का अध्ययन करके भी यह नहीं जानता कि उसके इस अध्ययन का उसके घर, गाँव और समाज से क्या सम्बन्ध है। उसकी और उसके क्षेत्र की राष्ट्र और समाज के लिए क्या उपयोगिता है। अपनी परम्परा, अपना गाँव, अपना क्षेत्र, अपने लोग, लोकाचार, लोक-व्यवहार, लोक-साहित्य, लोक-शिल्प आदि के विषय में वह प्रायः अनभिज्ञ ही रहता है। उसमें इन बातों के लिए जिज्ञासा और रुचि भी नहीं होती। उसमें प्रायः महत्त्वाकांक्षा और मिथ्या दर्प घर कर लेते हैं। जिससे उसमें अपने लोगों के प्रति आत्मीयता, सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना अपनी संस्कृति के प्रति अनुराग और विश्व-बन्धुता के अंकुर विकसित नहीं हो पाते।

गुरु गोलवलकर जी कहते हैं—'जीवन के शुद्ध दृष्टिकोण का अभाव ही हमारी प्रमुख समस्या है, जिसके रहते शेष समस्यायें लाख यत्न करने पर भी सुलझ न पाएँगी। अतः इसी का हमें पहले विचार कर लेना चाहिए।' (वि० द० पृ० ८३)

शिक्षा की समस्या

ऊपर की बातों से स्पष्ट है कि आज की शिक्षा एक समस्या बनी हुई है। आचार्य विनोबा भावे कहते हैं कि—'तालीम और बेकारी दोनों पर्यायवाची हैं। आज की तालीम पाया हुआ लड़का न घर का न घाट का रहता है। वह न अपने घर का काम कर सकता है, न खेत का। आज की तालीम बड़ी सहूलियत के साथ दी जाती है। लड़कों को कोई तकलीफ न हो, इस बात का ध्यान रखा जाता है। 'सुखार्थिनः कुतो विद्या, विद्यार्थिनः कुतो सुखम्।' तुम विद्या चाहते हो तो सुख कैसे मिलेगा ?'

राष्ट्र के सम्मुख शिक्षा की समस्या विकट रूप से उपस्थित है, जिसका समाधान ढूँढ़ना आवश्यक है। इस शिक्षा के तीन दोषपूर्ण फल प्रत्यक्ष हैं—(क) राष्ट्रीय चरित्र का पतन, (ख) सामाजिकता का ह्रास और (ग) बेकारी। शिक्षा के द्वारा इन तीनों का उन्मूलन कैसे हो, विचारणीय प्रश्न यह है।

स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा के क्षेत्र में चरित्र-गठन को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है। सभी मनीषियों के मन से शिक्षा स्वावलम्बी और आध्यात्मिक भूमि पर खड़ी होनी चाहिए। इसके लिए शिक्षा-संस्थाओं का संगठन गुरुकुलों की पद्धति पर किया जाना उत्तम होगा, जहाँ विद्यार्थी तत्त्ववेत्ता सदाचारी गुरुओं के आश्रय में रहकर बाल्यावस्था से ही श्रम-सदाचार और समाज-निष्ठा की शिक्षा पाते थे। वे विलासी, रोगी और निकम्मा होकर समाज और राष्ट्र का अभिशाप नहीं बनते थे। इसके लिए श्रेष्ठ शिक्षकों की आवश्यकता है।

विद्यालयों के आमूल-चूल परिवर्तन करने और उपयुक्त अध्यापकों को उपलब्ध करने में कुछ समय लगेगा, किन्तु शिक्षा के भारतीयकरण हेतु कुछ ऐसे प्रयोग हैं जिन्हें तत्काल उपयोग में लाया जा सकता है। इस तरह के प्रयोगों में जनपदीय अध्ययन उपयोगी है।

जनपदीय अध्ययन का स्वरूप

मनुष्य पृथिवी-पुत्र है। गाँव की जिस धरती पर उसका जन्म हुआ है, जहाँ के अन्न-जल से वह लालित-पालित हुआ है, जहाँ की धूल में लोट-पोटकर उसने आनन्द पाया, जहाँ के वन-पर्वत, नदी-नाले और पशु-पक्षी उसके अपने थे; उस महिमामयी जन्मभूमि के प्रति उसका लगाव होना चाहिए। हम सारे संसार के इतिहास-भूगोल का ज्ञान प्राप्त करें किन्तु अपनी ही परंपरा, अपने पूर्वज, अपने

भूमि, अपने लोग, अपना आचार, अपनी समस्या और अपने जीवन के उद्देश्य का ही हमें पता न हो तो सारी शिक्षा खोखली और व्यर्थ है। हम कौन हैं? हमारी परम्परा क्या है, हमारा मार्ग, उद्देश्य और साधन क्या हैं, हमें किन समस्याओं को किस प्रकार सुलझाना होगा, आदि बातों के लिए जनपदीय अध्ययन आवश्यक है। जनपदीय अध्ययन में निम्नांकित बातें आती हैं—

१. क्षत्रीय भूगोल अर्थात् वहाँ की भूमि, नदी, नाले, पर्वत, वन, जीव-जन्तु, उपज, यातायात, व्यापार, गाँव-नगर और निवासियों का अध्ययन।

२. भिन्न-भिन्न जातियाँ, उनके देवी-देवता, पूजा-विधि, आचार-व्यवहार, धार्मिक-विश्वास, खान-पान और परम्परा का अध्ययन।

३. स्थानीय भाषा और बोली, लोक-साहित्य (लोकगीत, लोकगाथा, लोक कथा, लोकोक्ति, पहेली, महावरे, शब्द आदि) का संग्रह और तुलनात्मक अध्ययन। शब्दों की व्युत्पत्ति, विकास और यात्रा।

४. क्षेत्रीय इतिहास की खोज, घटनाओं, सामाजिक परिस्थितियों, विशिष्ट लोगों, स्थानीय निकायों, और उनके कार्यों के विषय में खोज।

५. क्षेत्रीय समस्याएँ, क्षेत्रीय विकास की संभावनाओं पर विचार, क्षेत्रीय, शिक्षा, शिल्प, उद्योग आदि का अध्ययन और प्रश्रय।

जनपदीय अध्ययन की उपयोगिता

जिस शिक्षा के द्वारा सांस्कृतिक चेतना न जगाई जा सके वह शिक्षा वैसे ही व्यर्थ है, जैसे उमड़े हुए बादल बिना बरसे व्यर्थ हो जाते हैं। संस्कृति ही किसी राष्ट्र और जाति की परम्परागत थाती है, जिसे वह युगों से जोगाती आई है और जिसके सरस सिंचन से वह प्राणवान बनी हुई है। अंग्रेजी काल में जो शिक्षा-पद्धति प्रचलित की गई थी, उसमें इस मूल तत्व का अभाव था। इसलिए राष्ट्र और समाज के विकास एवं गठन की दृष्टि से वह अनुपयोगी है। यही कारण है कि आजकल विद्यालयों में विघटनात्मक, उपद्रवी तत्त्वों को प्रोत्साहन मिलता है।

जनपपदीय अध्ययन अपनी संस्कृति, अपने राष्ट्र और अपने समाज के अध्ययन की ओर लगाता और जिज्ञासु बनाता है। हमारी संस्कृति, हमारे राष्ट्र और हमारे जीवन की जड़ें जनपदों की जीवनभूमि में घुसी हैं, उसी से रस लेकर प्राणवान बनी है, अस्तु जनपदीय अध्ययन की आवश्यकता है। जनपदीय अध्ययन विद्यार्थी का स्वत्व है। उस स्वत्व से उसे वंचित नहीं किया जाना चाहिए। जनपदीय अध्ययन के द्वारा शिक्षा-पद्धति को सरल, सुगम और आकर्षक बनाया जा सकता है तथा विद्यार्थियों की जिज्ञासा का विकास किया जा सकता है। जनपदीय अध्ययन जीवन की एक मूलभूत आवश्यकता है।

—:o:—

राष्ट्रभाषा और जनपदीय भाषा

☐ डॉ॰ युगेश्व

जनपदीय आन्दोलन की समस्याओं को ठीक-ठीक समझने के सन्दर्भ में हिन्दी क्षेत्र की स्थिति को ध्यान में रखना आवश्यक है। राजमहल से राजस्थान त के क्षेत्र को हिन्दी क्षेत्र कहते हैं। राजमहल बिहार की पूर्वी सीमा है। इस सम हिन्दी में दिल्ली समेत सात राज्य हैं— बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, हरियाणा और हिमाचलप्रदेश। इन, राज्यो में हिन्दी बोली, लिखी, समझी और पढ़ी जाती है। भाषा के थे ही चार कार्य हैं। किन्तु इस पूरे क्षेत्र हिन्दी की द्विविध स्थिति है। घरों में प्राय: लोग भिन्न भाषाएँ बोलते हैं। प्रत्ये राज्य में कई-कई जनपदीय और क्षेत्रीय बोलियाँ हैं। पश्चिमी भाषा विज्ञा इनमें से अधिकतर बोलियों और उपभाषाओं को हिन्दी से स्वतन्त्र मानते है उनके वर्गीकरण का आधार प्राकृत सम्बन्धी मान्यताएँ हैं। वे शौरसेनी प्राकृत निकली बोलियों को ही हिन्दी मानने के पक्ष में हैं। मागधी और अर्धमाग प्राकृतों से विकसित भाषाओं को हिन्दी नहीं कहना चाहते हैं। कठिनाई राजस्थान के सम्बन्ध में है। राजस्थानी शौरसेनी प्राकृत से विकसित है। फिर राजस्थान को हिन्दी मानना चाहिए। किन्तु राजस्थानी को हिन्दीतर माना जाता है। ऐ ही मगही, मैथिली और भोजपुरी में मागधी प्राकृत के शायद कोई गुण मिल सच्चाई तो यह है कि प्राकृतों की दृष्टि से कथित बिहारी भाषाएँ शौरसेनी के अधि निकट दीखती हैं। उदाहरण के लिये तीनों बिहारी बोलियों में मागधी 'श' न शौरसेनी 'स' बोलने की प्रवृत्ति है। 'ल' की अपेक्षा 'र' का प्रयोग प्रशस्त है आकारान्त कर्त्ता एकवचन में 'ए' की प्रवृत्ति नहीं के बराबर है। फिर प्राकृ के आधार पर बँटवारा होगा तो बँगला, उड़िया, असमिया इन्हें भी बिहारी ना देना होगा।

प्राकृतों के बारे में यहाँ कुछ कहने का अवसर नहीं है। प्राकृतों के बँटवा तथा स्वरूप के बारे में अनेक उलझने हैं। फिलहाल इतना ही कि हिन्दी क्षेत्र में क बोलियाँ, उपभाषाएँ या भाषाएँ हैं। जो कभी बोली-कही जाती थी आज वह भाष की दावेदार है। एक प्रवृत्ति यह भी है कि अनेक बोलियाँ हिन्दी से अलग हैं। हिन्दी तो हिन्दुस्तान है। हिन्दुस्तान एक राष्ट्र है। राष्ट्रों का समूह है। हिन्दी एक भा है। भाषाओं का समूह है। इसलिए हिन्दी की बोलियाँ हिन्दी से अलग नहीं हो सकतीं। हिन्दी क्या है? बोलियाँ ही तो हिन्दी हैं। आज ब्रजभाषा, अवधी मैथिली, राजस्थानी खड़ी के साहित्य एक साथ पढ़ाए जाते हैं। करीब-करी आधे देश का साहित्य एक है। अलगाव से यह एकता खण्डित होगी। एकता खंडित होने से स्वयं हिन्दी क्षेत्र ही एक दूसरे के लिए अपरिचित हो जाएगा

क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों ने इस अपरिचय को बढ़ाया ही है। शिक्षा के प्रसार की दृष्टि से क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों की आवश्यकता है : किन्तु भाषा इन्हें संयोजित करती है। अब अगर भाषा भी जनपदीय हो जाये तो अपरिचय की दीवार अत्यन्त मोटी हो जाएगी। सांस्कृत संरचण, परिचय और एकता के तत्व नष्ट हो जाएंगे।

हिन्दी क्षेत्र में दो अन्य प्रतियोगी भी हैं। एक है उर्दू और दूसरी है अंग्रजी। भाषा संरचना की दृष्टि से उर्दू हिन्दी ही है। किन्तु धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उसे अलग रखा जा रहा है। इस अलगाव को बनाए रखने के लिए उर्दू अरबी-फारसी लिपि में लिखी जाती है। जिस दिन उर्दू नागरी लिपि में लिखी जाएगी, उस दिन वह पूर्ण हिन्दी बन जाएगी, इसलिए कि आज की हिन्दी का पेटा अत्यन्त विस्तृत है। न केवल कि यह भारत के प्रत्येक क्षेत्र के स्वरूप को अभिव्यक्त कर रही है बल्कि विदेशों की भी अनेक भाषा-शैलियाँ इसमें अभिव्यक्ति पा रही हैं। सचमुच ही इसका एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप विकसित हो रहा है। किन्तु हिन्दी आज भी उस स्तर पर, साहित्य नहीं रखती है। उसकी दूकान तो अन्तर्राष्ट्रीय मंडी में खुल गई है किन्तु अभी दूकान खाली है। इस कमी की पूर्त्ति मुख्यतः पुराने साहित्यकार करते हैं, जिन्हें जनपदीय बोलियाँ हिन्दी से छीनने के चक्कर में हैं। इन लेखकों को छीनकर क्या मिलेगा ? लेखकों का दायरा घट जाएगा। हिन्दी का राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप क्षेत्रीय बन जाएगा। अंग्रेजी, रुसी, जर्मन और, फ्रेंच से पिटती हिन्दी और भी पिट जाएगी। अंग्रेजी वाले अपना स्थायी दावा बनाए रहेंगे। एक ओर अन्तर्राष्ट्रीयता है, दूसरी ओर राष्ट्रीयता। क्या बगल के सूबा से 'परिचय' भी समाप्त हो जाएगा ? आसाम, बंगाल, त्रिपुरा, उड़ीसा या क्षिण के राज्यों की स्थिति हो जाएगीं। आसाम और बंगाल में भाषा सम्बन्धी अपरिचय तो है ही, भयानक वैमनस्य भी है। आत्मश्लाघा जोरों पर है।

भारत जैसे देश की दुहरी स्थिति है, इसमें एक विशिष्ट प्रकार का विकेन्द्रवाद है। विशिष्ट केन्द्र भी हो। केन्द्र का अभाव भी हो। क्षेत्रीयता और आंचलिकता भी हो। क्योंकि इतनी बड़ी जनसंख्या को कोई भी केन्द्र व्यक्त नहीं कर सकता है। हिन्दी क्षेत्र को एक विशेष सुविधा है। प्रत्येक हिन्दी जनपद अपनी बोलियाँ सुरक्षित रखकर केन्द्र से जुड़ा रह सकता है। वह एक साथ ही केन्द्र का अधिकारी है। दूसरी ओर जनपद पर भी उसका कब्जा है। किन्तु देखा यह गया है कि जिन्होंने केन्द्र से सम्पर्क साधा फिर क्षेत्र के प्रति उनकी रुचि समाप्त हो जाती है। जनपदीय आन्दोलन के अनेक बड़े संचालकों ने जनपदीय भाषा में कुछ लिखना कभी पसन्द नहीं किया। एकाध ने लिखा भी तो बायें हाथ से। महत्वहीन। जनपदीय भाषाओं में एक भी रचना राष्ट्रीय प्रभाव की नहीं आ रही हैं।

इसलिये कि समर्थ व्यक्ति हिन्दी में लिखना पसन्द करते हैं। हिन्दी के नामी लेखकों ने क्षेत्रीय भाषाओं में यश नहीं लिया। इसलिये कि उन्हें इसकी जरूरत न थी। अभी तक का जनपदीय आन्दोलन विधवा या अन्तार्जातीय विवाह जैसा रहा है। जिन्हें दूसरे करें। मैं न करूँ। फिर हिन्दी क्षेत्र का व्यक्ति अगर सहज रूप राष्ट्रीय मंच का अधिकारी बन सकता है तो वह क्षेत्र तक क्यों सीमित रहे? अपनी आंचलिकता के साथ हिन्दी में उसका स्वागत है। इतना ही नहीं अपनी आंचलिकता के कारण ही वह हिन्दी में अपनी पहचान बनाए है। पुजाता है। चढ़ावा चढ़वाता है।

वोट की राजनीति तथा नकली क्रियाशीलता जनपदीय आन्दोलनों को उकसाकर हिन्दी से उसे लड़ाना चाहती है। हिन्दी क्षेत्र का राष्ट्रीय महत्व जिन्हें नहीं देखा जा रहा है वे इसे खंडित करने में लगे हैं। हिन्दी क्षेत्र में भाषायी विखण्ड की स्थिति आना चाहती है। जिन्होंने जनपदीय आन्दोलन का आरम्भ किय था उनके सामने जनपदीय भाषाओं की सम्पत्ति से हिन्दी को समृद्ध करने की योजन थी। यह काम बहुत कुछ आंचलिक कथा साहित्य ने भी किया है। कविताओं पर आंचलिकता का प्रभाव कम है। किन्तु है।

आवश्यकता इस बात की है कि लोकभाषओं की शब्द-सम्पत्ति, मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों, लोकगीतों, लोककथाओं आदि की हिन्दी की समृद्धि के लिए संग्रह किया जाय। किसी भाषा की संस्कृति और उसके साहित्य सम्बन्धी कोई विशिष्टता हो तो उसकी भी रक्षा की जाय। जो लेखक या रचनाकार खड़ी बोली की अपेक्षा लोकभाषाओं में ही लिख सकते हैं: उन्हें पूरी सहानुभूति, सुरक्षा और प्रोत्साहन दिया जाय। किन्तु उन्हें हिन्दी की एक विशिष्ट शैली और प्रकार मानना ही ठीक होगा। इससे लेखक और भाषा दोनों का लाभ होगा। यह काम मुख्यतः रचनात्मक साहित्य के स्तर पर ही होगा। विद्यापति, मीरा, तुलसी, सूर के यु में भी यही हुआ था। हिन्दी को प्रतियोगी मानना अपना ही अहित करना है। व्यक्तित्व ठीक है। व्यक्तिवाद बुरा है। उसी तरह जनपदीय शक्ति ठीक है किन्तु जनपदवाद जैसी प्रवृत्ति आत्मघाती है। हिन्दी का प्रत्येक जनपद केन्द्र है, राष्ट्र और राष्ट्रभाषा है। दूसरी ओर उसकी निजी पहिचान भी है। निजी पहिचान बनी रहे किन्तु राष्ट्र के नेतृत्व की इच्छा मर न जाय। अलगाव तपस्वी की शक्ति है किन्तु गृहस्थ की मृत्यु। बड़ा रचनाकार समाज का होकर भी उससे अलग रहता है। ऐसा न करे तो वह नेता न बन सामान्य नागरिक-सा खप जाय। जनपदीय आन्दोलन को भी यह सोचना चाहिए। जनपदीय आन्दोलन असहाय और असमर्थों के लिए न होकर शक्तिशाली के लिए होना चाहिए। प्रत्येक जनपद का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रीय स्तर पर अपनी देन को स्वीकार कराए। ऊपर से आरोपित जनपद आन्दोलन न केवल कि व्यर्थ बल्कि हानिकर भी है। हिन्दी में प्रयोगशील और

और अकविता का आन्दोलन है। भोजपुरी में भी यही चले यह घटिया अनुकरण है। खेद है यह अनुकरण हो रहा है। २३ अक्तूबर ८४ की 'जनसत्ता' में एक रपट छपी है—'राजस्थानी भाषा में बनी हिट फिल्म 'सुपात्तर बिनानी' के नायक शिरीश कुमार का मानना है कि राजस्थानी फिल्म बम्बइया फार्मूले की वजह से पिटी न कि राजस्थान सरकार के असहयोग से।' 'उन्होंने कहा कि 'सुपात्तर बिनानी' के बाद जितनी फिल्में बनीं उनमें कोई नयापन नहीं दिया गया।'

हिन्दी की कुछ जनपदीय बोलियों ने हिन्दी के विरुद्ध घोषणा कर दी है। वे हिन्दी से अलग रहना चाहती हैं। राष्ट्रीयता की धारा मन्द पड़ रही है। बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि अपने को हिन्दू नहीं कहते हैं। मैथिली, राजस्थानी आदि हिन्दी से अलग हैं। तामिलनाडु, पंजाब का सिक्ख क्षेत्र, धुर पूर्वी भारत आदि भारत से अलग होने को सोचते हैं। जनपदीय आन्दोलन को इनसे शिक्षा लेनी होगी। विदेशी ताकतों, और देश के क्षुद्रस्वार्थ राष्ट्रीय शक्ति को तोड़ना चाहते हैं; भेद बढ़ाना चाहते हैं। इससे जनपद और राष्ट्र दोनों की अपार क्षति होगी। कभी दक्षिण भारत पूरे देश का नेतृत्व करता था। शंकर, रामानुज, यामुन, वल्लभ, निम्बार्क, मध्व, राघव आदि ने पूरे भारत में भक्ति की धारा का संचालन, निर्देशन और निर्माण किया था। यह इसलिए संभव हो सका कि उन्होंने संस्कृत का सहारा लिया। राज्यभाषाओं के सहारे यह काम सम्भव न होता। राज्यभाषा और क्षेत्रवाद पर अधिक जोर ने एक तरफ दक्षिण का सार्वदेशिक नेतृत्व खतम कर दिया है; दूसरी ओर पूरे दक्षिण का नेतृत्व अभिनेताओं के हाथ में जा रहा है। क्षेत्रीयता के इस अभिनय के प्रति सजगता आवश्यक है।

राजशेखर ने संस्कृत को परुष और प्राकृत को कोमल कहा था। इसका मतलब इतना ही है कि प्राकृतें लोक के अधिक निकट होती हैं। अकृत्रिम होती हैं। यह बात प्राकृत भाषाओं के बारे में शायद सच न हो। किन्तु जनपदीय भाषाओं का तो महत्व ही यही है। जनपदीय भाषाओं में स्थानीय भावुकता, कोमलता और प्राकृत रंग होते हैं। यह प्रायः बाहरी मेल से मुक्त, स्वच्छ और पवित्र होती हैं। गाँव की अमराई, तालाब, हरियाली, पक्षियों के कलरव के समान सहजात आकर्षण के केन्द्र होती हैं। माँ के दूध जैसे वात्सल्यपूर्ण, सुस्वादिष्ट और सहज। राष्ट्रभाषा राजभाषा या शिष्टभाषा में बौद्धिकता, रुक्षता और दूरी आ जाती है। जनपदीय भाषायें हृदय की अभिव्यक्ति हैं। सही अर्थों में मातृभाषा हैं। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि हिन्दी पितृभाषा है और जनपदी बोलियाँ मातृभाषाएँ हैं। यह अन्तर रहेगा। इसलिये जनपदीय भाषाओं का महत्व भी रहेगा। संस्कृत और कभी प्राकृत दोनों की जरूरत है। प्राकृत रस देती है। संस्कृत ज्ञान। इनमें कौन छोटा है? रस या ज्ञान? हिन्दी नगरों की ओर उन्मुख है। किन्तु उसके सूखने का भय उत्पन्न हो गया है। जनपदीय भाषाओं की रसता इसे सूखने से रोकेगी। राष्ट्रभाषा और जनपदीय में विरोध पिता-माता में चुनाव करना जसा है। कौन भला होगा जो घर में झगड़ा लगाए रहेगा? न आप शान्त, न पड़ोसी को शान्ति।

—◆—

राष्ट्रभाषा हिन्दी और महात्मा गाँधी

—डॉ० जितेन्द्रनाथ पा

किसी भी राष्ट्र की अस्मिता का आधार उसकी भाषा है। अपनी भाषा अभाव में न केवल कोई राष्ट्र गूँगा है बल्कि वह व्यक्तित्वहीन भी है। राष्ट्री के राजनीतिक चिन्तकों ने भी भाषा को राष्ट्रीयता का मूलाधार माना है। विदेशी आक्रमक किसी देश को पराभूत करते हैं तो उसकी भाषा को छीन उसकी अस्मिता पर प्रहार करते हैं। आज जबकि धर्म और राष्ट्रीयता का मज आधार नहीं रहा और प्रत्येक देश में अनेक धर्मों के लोग निवास करने लगे भाषा और भौगोलिक वैशिष्ट्य ही किसी राष्ट्र को राष्ट्र का रूप देते हैं।

वस्तुतः भाषा है क्या? भाषा किसी राष्ट्र की सांस्कृतिक-यात्रा की सा वाहिका अथवा उसकी अभिव्यक्ति-क्षमता का सांप्रतिक रूप है। आज जिसे राष्ट्रभाषा हिन्दी कहते हैं उसके पीछे वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, प्राकृ पालि, अपभ्रंश भाषाओं के साथ आधुनिक आर्य भाषाओं का पूरा योगदान जिसे पुराणों और अन्यान्य ग्रंथों में 'मध्यदेश' कहा गया है उसके भीतर पल्लवि होनेवाली शौरसेनी, मागधी और अर्द्ध मागधी प्राकृतों का ही परवर्ती रूप ब्रजभा अवधी, भोजपुरी, मैथिली भाषा आदि हिन्दी बोलियाँ और विभाषाएँ हैं। राजस्थ से लेकर मिथिला प्रदेश तथा हिमालय के पाददेश से लेकर नागपुर तक बोलियों और विभाषाओं का प्रसार है ये सारी-की-सारी हिन्दी भाषा के अंतर्गत या हिन्दी भाषा हैं।

आज जो हमारी व्यावहारिक भाषा खड़ी बोली हिन्दी है उसके वर्तमा महत्व ग्रहण करने के पीछे ऐतिहासिक और राजनीतिक करण हैं। इसमें राय नहीं है कि मुसलमानों के दिल्ली में प्रभुत्व स्थापित होने और पूरे देश उसके विस्तार के साथ-ही-साथ मेरठ, रामपुर, दिल्ली की यह खड़ी बोली पूरे में फैल गई। यह कार्य १३वीं-१४वीं शती तक ही पूरे जोर-शोर से होने लगा था मुहम्मद तुगलक के दौलताबाद राजधानी ले जाने को भले ही राजनीतिक मूर्ख कही जाय किंतु उसने दकनी हिन्दी के प्रचार-प्रसार को ठोस आधार प्रदा किया। खड़ी बोली की एकांत विशेषता यह थी कि यह हमारी मिली-जुली राष्ट्री अथवा दिनकर जी के शब्दों में 'सामासिक संस्कृति' मुखर करने में सर्वाधिक स थी। वस्तुतः इस जबान को मध्ययुगीन इतिहास ने बड़े मनोयोग से गढ़ा जिससे आधुनिक हिन्दी भाषा और आधुनिक उर्दू भाषा का जन्म हुआ। कार्य संस्कृत नहीं कर सकती थी, अंग्रेजी तो नहीं हीं कर सकती थी, अन्य बोलि या विभाषाएँ भी इसे संपन्न नहीं कर सकती थीं। जो खड़ी बोली की इतिहास-कथा को जानते हैं वे हिन्दी और उर्दू के बहनापे को भी जानते हैं हिन्दू-मुसलमानों के पुश्तैनी भाईचारे में भी विश्वास करते हैं।

भारतीय राजनीति और इतिहास के मंच पर महात्मा गाँधी का अभ्युदय बीसवीं शती के दूसरे दशक के अंत में हुआ। मूलतः गुजराती होने और अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा में शिक्षित होने के बाद भी महात्मा गाँधी में राष्ट्रीय स्वाभिमान कूट-कूट कर भरा था। उन्होंने भारत आने के बाद भारतीय राजनीति के गरम-नरमदलीय विभाजित राजनीति को अहिंसात्मक आंदोलन के द्वारा एक नया मोड़ दिया और रहन-सहन, वेषभूषा, बोली-बानी सबमें हिंदुस्तान के सामान्य जन से जुड़ गए। यह बोली-बानी का क्षेत्र ऐसा था जो उस समय भी अनेक प्रकार से विदेशी कूटनीति का शिकार था। अंग्रेजी शासन में अंग्रेजी राष्ट्रभाषा थी और कचहरियों की भाषा उर्दू-फारसी थी। महामना मदनमोहन मालवीय के प्रयास से सन् १९०० ई० में सरकारी कामकाज में हिन्दी का भी प्रयोग करने की सुविधा संयुक्त प्रान्त के गवर्नर ने दे दी। भाषा के क्षेत्र में महात्मा गाँधी के ऊपर मालवीय जी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है; 'पंडित मदनमोहन मालवीय जी को अपने ख्यालात को हिन्दी में बताने में कुछ कठिनाई नहीं मालूम पड़ती है। उनका अंग्रेजी का व्याख्यान चाँदी-सा चमकता हुआ कहा जाता है, लेकिन जैसे मानसरोवर से निकली हुई गंगा की धारा सूर्य की किरणों से सुवर्ण की नाईं झलकती है वैसे ही श्रीमान पंडित जी का हिन्दी व्याख्यान-प्रवाह भी झलकता है।'

महात्मा गाँधी ने भाषा के प्रश्न को स्वाधीनता आंदोलन से जोड़ दिया था। उनके लिए अंग्रेजों के निष्क्रमण का अर्थ अंग्रेजी का निष्क्रमण भी था। उन्होंने तब के अंग्रेजी भक्त भारतवासियों के लिए कहा था जो जो अब के अंग्रेजी-भक्त देशवासियों पर भी लागू होता है—'देशप्रेम और जनता के प्रेम के लिए हमें देशी भाषाओं की ओर निहारना चाहिए। राष्ट्रीय व्यवहार में हिन्दी को काम में लेना देश की शीघ्र उन्नति होने के लिए अत्यावश्यक है।' ध्यान देने की बात है कि गाँधी जी ने भाषा के प्रश्न को देश की संपन्नता और उसके उत्कर्ष से भी जोड़ा था। एक बार अंग्रेज वायसराय ने अपने भाषण में अंग्रेजी के भारत की राष्ट्रभाषा होने की बात कही थी। महात्मा गाँधी ने इस पर तत्काल अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की 'बाह्य दृष्टि से विचार करने पर यह बात कुछ ठीक जँचती है और अपने उस शिक्षित वर्ग की दशा देखकर, जो बिना अंग्रेजी की सहायता के अपना काम ही नहीं चला सकता, ऐसी ही सूचना मिलती है। परंतु दूरदर्शिता से विचार करने पर ज्ञात होगा कि अंग्रेजी न तो राष्ट्रभाषा हो सकती है न होनी चाहिए।' द्रष्टव्य है कि महात्मा गाँधी ने राष्ट्रभाषा के रूप में अंग्रेजी के प्रस्ताव को कभी स्वीकार नहीं किया और राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा को अपना पूर्ण एवं सक्रिय समर्थन प्रदान किया।

उन्होंने पराधीन भारत के अंग्रेजी भक्तों को फटकारा था और ऐसे तमा हिन्दी से अनभिज्ञ लोगों से कहा था कि 'अंग्रेजी ने हम पर जो जादू का असर डाल वह अभी नष्ट नहीं हुआ। उसके कारण हम हिन्दुस्तान की उसके ध्येय की प्रग में रोड़े अटकाते हैं। हम अंग्रेजी सीखने में जितने साल बिताते हैं, उतने मही अगर हिन्दी सीखने में बिताने का कष्ट नहीं करते तो जनता के लिए हमारा प्र बिल्कुल ऊपरी है।' गाँधी जी भाषा के प्रश्न पर जब भी विचार करते थे किसी न किसी प्रासंगिक एवं महत्व की बात को उठा देते थे। वे व्यथा से निक व्यंग्य के माध्यम से कहना चाहते हैं कि 'भलेमानुसों! विदेशी अंग्रेजी भा को सीखने में जहाँ वर्षों लगते हैं वहाँ हिन्दी को सीखने में कुछ महीने ही पर्या होते हैं।' एक की विजातीय असहजता और कठिनता तथा दूसरे की जाती सहजता और सरलता का इससे अच्छा आख्यान भला क्या हो सकता है।

महात्मा गाँधी सत्य के प्रयोक्ता थे। संतों की तरह अनुभव प्रसूत ज्ञान उन्होंने बेहद प्रामाणिक माना था और इस ज्ञान को प्रकट करने में, सत्य को टूक कहने में गाँधी जी कभी पीछे नहीं हटे। इस संबंध में एक रोचक घटना उल्लेख किया जा सकता है। सन १९४२ में हिंदू विश्वविद्यालय के दीक्षान समारोह में भाषण करते हुए गाँधीजी ने कहा—'रास्ते में विश्वविद्यालय विशाल प्रवेश-द्वार पड़ा। उसपर नजर गई तो देखा, नागरी लिपि में हिंदू विश्वविद्याल इतने छोटे अक्षरों में लिखा है कि ऐनक लगाने पर पर भी वे नहीं पढ़े जाते। अंग्रेजी में (रोमन लिपि में) बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी ने तीन चौथाई से अधिक जगह घेर रखी थी। अगर दरवाजे पर फारसी में, नागरी में या हिन्दुस्ता की दूसरी किसी लिपि में कुछ लिखा जाता, तो मैं समझ सकता था। लेकि अंग्रेजी में उसका यह लिखा जाना भी हम पर जमे हुए अंग्रेजी जबान के साम्रा का एक सबूत है।'

सन १९४२ में ही महात्मा जी ने रोमन लिपि के प्रयोग के बारे में 'हरिज सेवक' में लिखा था "रोमन लिपि का सुझाव अपनी खूबी के लिए नहीं बल समझौते के लिए किया गया है। उसके पक्ष में सिवाय इसके कि वह सारी पश्चि दुनिया में फैली हुई है और कोई दलील नहीं।' इस समझौते की प्रवृत्ति अमान्य करते हुए गाँधी जी देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता की घोषणा करते हैं—"कु लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि हम भी यूरोप की रोमन लिपि को ग्रहण कर लेकिन वाद-विवाद के बाद यह विचार बन चुका है कि हमारी सामान्य लि देवनागरी ही हो सकती है और कोई नहीं। उर्दू को उसका प्रतिस्पर्धी बता जाता है लेकिन मैं समझता हूँ कि उर्दू या रोमन किसी में भी वैसी पूर्णता ध्वन्यात्मकता नहीं है जैसी देवनागरी में है।"

अंग्रेजी से साहित्य और लिपि के मामले में हिन्दी से आज भी प्रतिस्पर्द्धा चल रही है। स्वतंत्रता के इतने दिनों बाद भी हम अंग्रेजी से मुक्त नहीं हो सके हैं और अब तो लगता है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति अंग्रेजी को और भी कसकर पकड़ रही है। महात्मा गांधी द्वारा हिन्दी के नेतृत्व और उसकी अवधारणा किसी भी हिन्दीभाषी की तुलना में दूसरे ढंग की थी। उनके सामने हिन्दी-प्रचार का अर्थ था दक्षिण भारत और भारत के अन्य अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी का प्रचार-प्रसार। क्योंकि इसके बिना हिन्दी भाषा की राष्ट्रभाषा के रूप में अखिल भारतीय ग्राह्यता में संदेह था।

दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का कार्य

सन् १९१८ और १९३५ में महात्मा गांधी अपने हिन्दी के और व्यापक हिन्दी सेवा के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति चुने गए। गाँधी जी के सुझाव पर सम्मेलन ने दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का एक कार्यक्रम बनाया। इस कार्यक्रम को सुसंगठित और मूर्त रूप देने के लिए महात्मा जी ने अपने पुत्र देवदास गांधी को दक्षिण भारत में भेजा और कोई दस वर्ष तक यह कार्यक्रम सफलता पूर्वक चलता रहा। सन् १९२७ ईसवी में उनके सुझाव पर 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' का गठन हुआ और उसने हिन्दी प्रचार-प्रसार का दायित्व अपने कंधों पर ले लिया। गांधी जी ने दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार की कठिनाई और उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष को समझाते हुए एक बार वहुत उचित बात कही थी जो आज भी उतनी ही विचारणीय है "हिन्दीभाषियों के ऊपर कई जिम्मेवारियाँ हैं। उन्हें राष्ट्रभाषा का साहित्य-निर्माण करने के काम परअधिक ध्यान देना चाहिए। राष्ट्रभाषा-प्रचार में अधिक से अधिक ध्यान वे तब दे सकेगें जबकि अहिन्दी प्रांतों में वे स्वयं जाकर बस जाएँगे। इलाहाबाद या बनारस से इन प्रांतों के कार्यों पर नियंत्रण करने का प्रयत्न करना, हाथ बँटाना नहीं हस्तक्षेप करना ही कहलाएगा।"

दक्षिण भारत में हिंन्दी-प्रचार का गांधी जी का आदर्श बहुत ऊँचा था। उन्होंने एक बार दक्षिण भारत के हिन्दी-प्रेमियों को संबोधित करते हुए कहा—"दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का जो कार्य हो रहा है उसका विवरण सुनकर साधारणतया संतोष ही होना चाहिए। लेकिन तबतक मुझे पूरा संतोष नहीं होगा जब तक हिन्दी न जानने वाला एक भी दक्षिण भारतीय रहे।" इस कार्य को लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए १९३४-३५ में गांधीजी ने अपने सहयोगी आचार्य काका कालेलकर को दक्षिण भारत की परिस्थितियों की जाँच और उसपर अपने सुझाव देने के लिए भेजा। इस कार्य से काका साहब अनेक बार दक्षिण-भारत गए और एक बार तो तीन महीने तक घूम-घूम कर अनेक असुविधाओं के बीच परिस्थितियों का अध्ययन और हिन्दी का प्रचार करते रहे। सच पूछा जाय तो काका साहब कालेलकर ने हिन्दी-प्रचार को नई दिशा दी। उनके सुझाव के अनुसार १९३६ में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा को चार प्रांतीय शाखाओं में विभक्त करके उनमें से एक-एक तमिल, तेलगू, कलड़, मलयालम प्रदेशों में स्थापित कर दी गई। १९३७ में इसका नया नामकरण कर दिया गया 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति'। इस प्रकार के पुनर्गठन से हिन्दी-प्रचार को विशेष बल मिला।

महात्मा गांधी ने वर्धा में भी राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना की। 'लेखन' के भैरवनाथ गुप्त विशेषांक के सद्यः प्रकाशित (जुलाई ८४) अंक में, 'भेरी सा हित्य यात्रा' शीर्षक निबंध में दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का एक इ खड़ा होता है। उन्होंने लिखा है 'उन्हीं (भारतीय कांग्रेस समिति के कार्याल स्वराज्य भवन में कार्यरत श्री सादिक अली) की प्रेरणा से मैं राजगोपालाचारी के साथ मद्रास पहुँचा। और वहाँ हिन्दी प्रचारक विद्यालय में अध्यापन करने लगा। उन दिनों वहाँ श्री राजगोपालाचारी मुख्यमंत्री थे और उन्होंने मद्रास के सभी स्कूलों के लिए हिन्दी को अनिवार्य विषय बना दिया था। हिन्दी प्रचारक महा विद्यालय में हिन्दी अध्यापकों को दीक्षित किया जाता था।' इस कथन से तत्कालीन हिन्दी प्रचार के स्वरूप और आंदोलन का ज्ञान हो जाता है। आज ज कि दक्षिण के विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभाग हैं तो भी जो दशा है उसकी तुलना हम ३६-३७ के दक्षिण भारत से करके सिर्फ दुखी हो सकते हैं।

देवनागरी लिपि और महात्मा गाँधी

महात्मा गाँधी की राष्ट्रीयता और उनका देश प्रेम खोखला नहीं था। इसीलि उन्होंने सिर्फ स्वाधीनता-प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य बनाकर जातीय धार्मिक एकता आर्थिक स्वावलंबन, बुनियादी शिक्षा, संयमाश्रित प्राकृतिक स्वास्थ्य चिकित्सा और भाषा तथा लिपि जैसे सभी आवश्यक प्रश्नों पर भी ध्यान दिया। उन्होंने १९१ ई० में ही गुजरात शिक्षा परिषद् के भड़ौंच वाले अधिवेशन के सभापति पद से राष्ट्रभाषा के साथ राष्ट्रलिपि का प्रश्न उठाते हुए कहा था—'फिलहाल मुसलमा लड़के जरूर ही उर्दू, (फारसी) लिपि में लिखेंगे। हिन्दू ज्यादातर देवनागरी में लिखेंगे। ज्यादातर शब्द का प्रयोग मैं इसलिए कर रहा हूँ कि हजारों हिन्दू अपनी-अपनी हिन्दी उर्दू (फारसी) लिपि में लिखते हैं और कुछ तो ऐसे हैं जो देवनागरी लिपि जानते भी नहीं। आखिर, हिन्दू मुसलमान के बीच शंका की थोड़ी भी दृष्टि न रहेगी, जब अविश्वास के कारण दूर हो चुकेंगे तब जिस लिपि में शक्ति होगी वह लिपि ज्यादा लिखी जाएगी और वह राष्ट्रलिपि बनेगी। वस्तुतः यहाँ गांधी जी का ध्यान लिपि की वैज्ञानिकता की ओर न होकर धार्मि विद्वेषमुक्त परिवेश में लिपि की व्यावहारिकता की ओर है। क्योंकि लिपि की ग्रहणशीलता के पीछे वैज्ञानिक श्रेष्ठता की समझ से ज्यादे व्यावहारिक उलझनों को सुलझाने की होती है।

गांधी जी देवनागरी लिपि को वैज्ञानिक, सर्वग्राह्य और श्रेष्ठ मानते थे। वे तो यह चाहते थे कि भारतवर्ष की समस्त भाषाएँ सिर्फ देवनागरी लिपि में लिख जांय। २१ जुलाई १९२७ के 'नवजीवन' के अंक में उन्होंने लिखा है 'सचमु मेरा दृढ़ बिश्वास है कि भारत की तमाम भाषाओं के लिए एक ही लिपि हो

यदि तमाम व्यवहार्य और राष्ट्रीय कार्यों के लिए इन सब लिपियों के स्थान पर देवनागरी का उपयोग होने लग जाय तो वह एक भारी प्रगति होगी।' इसी मंतव्य को स्थापित करने के लिए गाँधी जी ने बहुत उपयुक्त उदाहरण लिया। 'हमें अपने बालकों को विभिन्न प्रांतीय लिपियाँ सीखने का व्यर्थ कष्ट नहीं देना चाहिए। यह निर्दयता नहीं तो और क्या है कि देवनागरी के अतिरिक्त तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम, उड़िया और बंगाली इन छः लिपियों को सीखने में दिमाग खपाने को उनसे कहा जाय? अगर आज कोई प्रांतीय भाषाएँ सीखना चाहे और प्रांतीय भाषाभाषी हिन्दी पढ़ना चाहे तो लिपियों का अभेद्य प्रतिबन्ध ही उसके मार्ग में कठिनाई उपस्थित करता है।'

—हरिजन सेवक, १० मई १९२९

इस प्रश्न पर कोई १० वर्ष बाद गाँधी जी ने 'हरिजन सेवक' में वड़ी दृढ़ता से हिन्दी देवनागरी लिपि की सर्वमान्यता, रोमन लिपि की अव्यावहारिकता आदि पर अपना मत प्रस्तुत किया है। 'मुझे मालूम हुआ है कि असल में कुछ जातियों को देवनागरी लिपि की जगह पर रोमन लिपि में लिखना-पढ़ना सिखाया जा रहा है मैं अपनी राय जाहिर कर ही चुका हूँ कि अगर हिन्दुस्तान में सर्वमान्य हो सकने वाली कोई लिपि है तो देवनागरी ही है, भले ही उसमें सुधार की गुंजायश हो या न हो। शुद्ध वैज्ञानिक और राष्ट्रीय दृष्टि से जबतक मुसलमान भाई अपनी राजी से देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करते तबतक उर्दू या फारसी लिपि जरूर जारी रहेगी। इन दो लिपियों के साथ-साथ रोमन लिपि का मेल नहीं बैठता। रोमन लिपि के समर्थक तो इन दोनों लिपियों को रद्द करने की सलाह देंगे किन्तु विज्ञान तथा भावना दोनों दृष्टियों से रोमन लिपि नहीं चल सकती।'

कुल मिलाकर यह कहने में कोई संदेह नहीं है कि महात्मा गाँधी की राष्ट्रीयता वास्तविक थी और वे उसके प्राणतत्व भाषा के सर्वांगीण पक्ष के प्रति पूर्णतया सचेत और सजग थे। अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध संघर्ष करते और जन-जागरण के विराट् उद्योग में लगे रहते हुए भारत की उन्नति और स्वतंत्रता को उन्होंने हिन्दी भाषा, देवनागरी लिपि और अन्य देशी भाषाओं के उत्कर्ष से जोड़ा था। इसमें दो राय नहीं है कि यदि महात्मा जी आज भी जीवित होते तो अन्य बातों के अलावा भारत की भाषा नीति उन्हें बेहद तकलीफ देती। यह भी कहा जा सकता है कि यदि उनकी चलती तो हिन्दी आज सच्चे अर्थों में राष्ट्रभाषा होती।

जनपदीय भाषा और साहित्य के संवर्द्धन का प्रश्न बोलियों के अभ्युत्थान से जुड़ा है। यह सम्पूर्ण आंदोलन स्वतंत्रता के बाद गतिशील हुआ है। महात्मा गाँधी यदि जीवित होते और उनसे इनके स्वतंत्र विकास के बारे में पूछा जाता तो वे निश्चय ही इसके विकास की कामना करते, इसमें विपुल साहित्य-सृष्टि की कामना करते किन्तु इन सारी गतिविधियों को हिन्दी के अंतर्गत ही देखना चाहते। □

राष्ट्र-भाषा बनाम जनपदीय भाषा

— विद्यानाथ ओझा, भा० प्र० से०

(अवकाश प्राप्त) एम० ए०, बी० एल०, काव्यती

सामान्यत: यह देखा जाता है कि राष्ट्रभाषा या हिन्दी के प्रेमी और हिमाय लोग, जनपदीय भाषाओं अर्थात् लोकभाषाओं, जैसे भोजपुरी, मगही, मैथिल वज्जिका एवं अवधी के विकास के नाम मात्र से नाक-भौं सिकुड़ाते हैं। उनका कह है कि हिन्दी देश की राष्ट्रभाषा है और समूचे देश में यही भाषा बोली जा चाहिए और उनकी राय में जनपदीय भाषाओं के विकास में जो परिश्रम और सम लगता है उसे राष्ट्रभाषा के विकास में लगाना चाहिए। ऐसे हिन्दी के प्रेमी औ हिमायती एक मौलिक बात भूल जाते हैं कि जनपदीय क्षेत्रों में जन्मा शिशु क बोली जानेवाली लोकभाषा को स्वत: सीखता है,वह उसी के बीच जन्म लेता है औ शरीर वृद्धि के साथ-साथ उसी भाषा में वह अभिज्ञता और प्रौढ़ता हासिल कर है। राष्ट्रभाषा यानी हिन्दी से उसकी भेंट स्कूल जाने पर होती है, तब वह 'बए के बदले 'बैल', 'माई' के बदले 'माँ' या 'माता', 'जाइब' के बदले 'जाऊँगा', 'खेल के बदले 'खेलूँगा' आदि स्कूल में सीखता है। मोटा-मोटी तौर पर देखने से प मालूम होता है कि जो वह घर में बोलता है उससे हिन्दी के क्रिया-पदों में का भिन्नता होती है और उसके सीखने में कठिनाई होती है लेकिन बात ऐसी नहीं है

यह स्पष्ट है कि जनपदीय भाषा-भाषी शिशुओं के लिए हिन्दी के अधिकां शब्दों के रूप परिचित-से रहते हैं और उनको सीखने में शिशु को कोई कठिना नहीं होती। समतल भूमि पर चलता हुआ शिशु धीरे-धीरे स्वाभाविक तरीके सीढ़ियाँ चढ़ना जैसे सीखता है उसी तरह स्वाभाविक ढंग से शिशु पाठशाला अपनी मातृभाषा (लोकभाषा) के जरिये हिन्दी को भी बड़ी आसानी से सी जाता है।

इसी प्रसंग में यह उल्लेखनीय है मॉरिशस द्वीप में प्राय: १५० वर्ष पूर्व भारतीय वहाँ गये उनकी मातृभाषा भोजपुरी थी यद्यपि वहाँ फ्रांसीसी शासन और अधिकतर लोग फ्रेंच बोलने वाले थे। इस विपरीत परिस्थिति में भी मॉरि गयें भारतीय मजदूरों ने अपनी मातृभाषा भोजपुरी और भोजपुरी-संस्कृति बहुत ही सँजोकर रखा, बल्कि अक्षुण्ण रखा। जब फ्रांसीसी शासन वहाँ समाप्त हु और धीरे-धीरे हिन्दी का प्रचलन होने लगा तो वहाँ की भोजपुरी-भाषी जनता ने आसानी से हिन्दी बोलना और लिखना-पढ़ना सीख लिया। मॉरिशसवासी प्र कवि और लेखक श्री बंगुर 'मधुकर' ने फरवरी '८५ को अपनी पटना की यात्रा एक गोष्ठी में गर्व के साथ उद्घोषित किया था कि मौरिशस के भारतीयों ने

भोजपुरी से ही हिन्दी सीखी। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी सीखने के लिए जनपदीय भाषा एक सुगम माध्यम के रूप में सहायक है न कि बाधक है।

साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र का यदि विश्लेषण किया जाय तो यह प्रगट होगा कि हिन्दी साहित्य के भण्डार को समृद्ध करने में जनपदीय भाषाओं की बहुत बड़ी भूमिका और सहायता रही है। यदि जनपदीय भाषाओं से आये हुए शब्दों का छोड़ दिया जाय तो हिन्दी में संस्कृत से आए हुए केवल तद्भव और तत्सम शब्द ही तो रह जायेंगे। इन शब्दों के अलावा हिन्दी के भण्डार में जो शब्द आये हैं वे किसी न किसी जनपदीय भाषा से ही लिए गये हैं। उदाहरण के लिए देखिये—

आदमी—यह शब्द उर्दू 'आदम' या अंग्रेजी 'Adam' से उत्पन्न है। किन्तु हिन्दी की उत्पत्ति के पहले से ही यह भोजपुरी में प्रचलित आ रहा है और इसने वहीं से हिन्दी में प्रवेश पाया है।

ईंट—यह संस्कृत शब्द 'इष्टिका' से आया है। यदि यह शब्द हिन्दी में संस्कृत से सीधे या प्राकृत से हिन्दी में सीधे आया रहता तो भाषा विज्ञान के नियमों के अनुसार शब्द-विकृति के द्वारा हिन्दी में 'इटका' 'इटिका' या इसी प्रकार मिलता-जुलता शब्द रहता लेकिन चूँकि यह शब्द हिन्दी में लोकभाषा से आया इसलिए भोजपुरी में जहाँ 'ईंटा' शब्द का प्रयोग होता है हिन्दी में और भी लघुरूप 'ईंट' हो गया। इस प्रकार यह शब्द भी लोकभाषा से ही आया।

पान—इस शब्द को ही लिया जाय। पान-चर्वण की आदत जमाने से, जब से मानव ने खाना-पीना सीखा तब से ही, चली आ रही है। लेकिन 'पान'शब्द 'पान-पत्ते' के अर्थ में संस्कृत में नहीं व्यवहृत हुआ है। संस्कृत में केवल 'ताम्बुल' शब्द ही 'पान पत्ते' के लिए द्रष्टव्य है। हिन्दी में यह 'पान' शब्द निश्चित ही लोकभाषा से आया है जबकि 'तामोली' पान बनाने वाला 'ताम्बुलक' या 'ताम्बुलद' से तामोलक-तामोलद मार्ग होकर आया है। इस प्रकार के सैकड़ों शब्द हिन्दी में हैं जो लोकभाषाओं के स्रोत से हिन्दी में आए हैं और आकर उसके शब्द भण्डार को काफी समृद्ध कर चुके हैं।

यदि यह कहा जाय कि हिन्दी साहित्य जनपदीय भाषाओं की जड़ से ही उत्पन्न समृद्ध-पौधा है तो उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। हिन्दी के मौलिक साहित्य भण्डार में मुख्य ग्रंथ हैं तुलसी के 'रामचरित मानस, सूरदास के पद, कबीर के

दोहे आदि । यह अब पूर्णरूप से प्रमाणित हो चुका है कि ये ग्रंथ तत्कालीन लो भाषाओं में लिखे गये हैं और उन-उन जनपदों में बोली जाने वाली भाषाओं इनका प्राय: ९० प्रतिशत सादृश्य है, वर्त्तमान हिन्दी से तो इनका लगाव बहुत का लगता है। हाँ; जनपदीय भाषाओं की परम्परा से आगत इन ग्रंथों को हिं साहित्य ने अपना बना लिया है। यह प्रचलन केवल पुरानी ग्रंथावलियों तक सीमित नहीं है। आज के युग में भी लोकभाषाओं से हिन्दी का आदान-प्रदा चलता है। जैसे कि लोकगीत। "बहुतेरे लोकगीत जो भोजपुरी, मगही या मैथि आदि के हैं भाषा का थोड़ा-मोड़ा हिन्दीकरण कर हिन्दी में शामिल कर लिए गये 'सवइया' और 'बिरहा' भोजपुरी लोकगीत के प्रचलित छन्द हैं। सवइया तो परम् से जमीन्दारों के यहाँ विरुदावलि गाने वाले ग्रामीण भट्टों का परम्परागत छन्द ये छन्द हिन्दी में भोजपुरी, ब्रजभाषा और मैथिली आदि जनपदीय भाषाओं से ले लिए गये हैं। यही नहीं हिन्दी साहित्य भण्डार की पुस्तकों में और उनमें व विषयों में अधिकांश में उत्तरी भारत की संस्कृति की ही पुट है। वल्कि हिन्दी ग्रंथ-भण्डार के अधिकाधिक लेखक उत्तर भारत क्षेत्र के ही हैं और तत्-तत् क्षे की संस्कृति उनके ग्रंथों से अधिकाधिक प्रतिभासित होती है। कहने की ज नहीं कि कहीं का भी साहित्य उस क्षेत्र की संस्कृति का ही दर्पण हो सकता है हिन्दी साहित्य के ग्रंथ जिन क्षेत्रों के विषयों को लेकर लिखे गये वहाँ की सं के दर्पण का काम करते हैं। और, वह संस्कृति प्रथम तो वहाँ की लोकभाषा में वाग्बद्ध है चाहे वह लिखित हो या बोलचाल की परम्परा में सँजोयी गयी इससे स्पष्ट होता है कि उस भाषा में लिपि-बद्ध या मौखिक रूप से परम्परा संस्कृति से हिन्दी-साहित्य न केवल प्रभावित बल्कि और परिवर्द्धित भी हुआ है

सर्वविदित है कि हिन्दी का हिन्दी क्षेत्र की लोकभाषाओं से अन्योन्या संबंध है। पहले तो हिन्दी का भण्डार समृद्ध करने के लिए हिन्दी ने उन के ग्राह्य शब्द-भण्डार, लोकगीतों, छन्दों और संस्कृति को ग्रहण कर आत्मभूत लिया। और, जब लोक भाषाओं का साहित्य-भण्डार धीरे-धीरे प्रगति पर हिन्दी के समृद्ध भण्डार से भी कुछ चीजें, जो जनपदीय भाषा से संबंधित हैं, लोकभाषा के साहित्य में लिया जाता है। इस प्रकार दोनों में अप्रत्यक्ष रूप से आ प्रदान स्वभावत: चलता रहता है। ऐसी प्रवृत्ति सभी सह-वाच्य भाषाओं के होती है। जैसे—इंगलैंड में जो हिन्दी-भाषी बसते हैं वे अपनी हिन्दी में सा रूप से सदैव बोले जाने वाले और सुगम्य अंग्रेजी शब्दों को भी मिलाकर बोल और कुछ वर्षों के निरन्तर व्यवहार से कुछ अंग्रेजी शब्द उनकी हिन्दी के तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। मुसलमानी शासन के समय से बोली जाने

हिन्दी में उर्दू शब्दों के साथ ऐसा ही हुआ जैसे इम्तिहान, बीमारी, मरीज, नुस्खा। ये शब्द हिन्दी में इतने अंगीभूत हो गये हैं कि सभी इन और ऐसे अनेकानेक शब्दों को हिन्दी के ही शब्द मानने लगते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी दृष्टि से देखा जाय तो लोकभाषा या उसका साहित्य हिन्दी की मित्र-भाषा के रूप में ही पुष्पित-पल्लवित हो सकता है या होता रहेगा। हिन्दी को दबा देनेवाली या उसकी प्रगति को कुण्ठित करनेवाली भाषा के रूप में लोक-भाषायें नहीं हो सकतीं वल्कि जनपदीय भाषा अपने सीमित क्षेत्र में पूर्णतः समृद्ध हो तो आदान-प्रदान के सामान्य नियमानुसार हिन्दी को भी समृद्ध और मजबूत करने में सहायक ही होंगी। और, हिन्दी की भित्ति की नींव को लोक भाषाएँ पुस्ती के रूप में और मजबूत ही बनाएगीं। इस प्रकार कभी-कभी हल्के-फुल्के रूप में फेंके गये तर्क कि लोकभाषाओं के ऊपर अधिक ध्यान होने से हिन्दी पर कुप्रभाव पड़ेगा, इसके पीछे कोई तथ्य या आधार नहीं दिखाई पड़ता।

□

भाषा की विभिन्नता

भाषा जाति के सांस्कृतिक जीवन का चिह्न है,—उसकी उस विचारगत और मनोगत आत्मा का संकेत है जो उसके पीछे होती है तथा उसकी कर्मगत आत्मा को समृद्ध बनाती है। अतएव, विभिन्नता की उपयोगिताएँ तथा उनके तथ्य यहीं अत्यधिक सरलता से जाने जा सकते हैं जितने बाह्य वस्तुओं में जाने जा सकते हैं, उनसे कहीं अधिक सरलता से। किन्तु ये सत्य महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये उस वस्तु पर समान रूप से लागू होते हैं जिसे विभिन्नता व्यक्त करती है तथा जिसका वह प्रतीक है और साधन होता है। भाषा की विभिन्नता सुरक्षित रखने योग्य है, क्योंकि संस्कृतियों की विभिन्नता और आत्मा-मूलक समुदायों का विभेद भी सुरक्षित रखने योग्य है, क्योंकि इस विभिन्नता के बिना जीवन मुक्त-भाव से क्रीड़ा नहीं कर सकता।

—योगिराज श्रीअरविन्द

जनपदीय आंदोलन

□ जगदीश प्रसाद चतुर्वे

जनपदीय आंदोलन की बात करते समय चालीस साल पहले के हिन्दी की याद आ जाती है जब कोई सप्ताह ऐसा नहीं बीतता था जिसमें हिन्दी किसी समाचारपत्र में जनपदीय आंदोलन के पक्ष या विपक्ष में कोई विचार न होते हों। ओरछा राज्य की राजधानी टीकमगढ़ से चार मील दूर कुण्डेश्वा श्री बनारसी दास चतुर्वेदी रहते थे और 'मधुकर' का सम्पादन करते थे। प्रेरणा से मथुरा में ब्रज साहित्य मण्डल की स्थापना हुई थी और उनका छतीसगढ़ के श्री श्यामाचरण दुबे तथा भारत के विभिन्न प्रांतों के लोक और लोक-वार्ताओं पर काम करने वाले विद्वानों से था। जब उन्होंने टीकमगढ़ बुलाया तब तक मैं मथुरा में 'ब्रज साहित्य मण्डल' की स्थापना कर था और उसका पत्र 'ब्रजभारती' भी प्रकाशित हो चुका था जो अभी तक जी है। श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' बुन्देलखण्डीय साहित्य के काम में लगे जब मैं टीकमगढ़ आया तो उस समय श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् की से पाक्षिक 'मधुकर' निकलता था। 'मधुकर' में बुन्देलखण्डीय कहानियां लोकगीत निकलते थे तथा बुन्देलखण्ड के विशिष्ट स्थानों और महत्वपूर्ण उपल के बारे में लेख निकलते थे। वस्तुतः 'मधुकर' जनपद आंदोलन का सबसे उन्नायक था।

वैसे श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने फरवरी १९३४ के विशाल भारत में साहित्य सम्मेलन के सम्बन्ध में लिखा था, 'हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि प्रांतीय सम्मेलनों को जागृत कर दिया जाये तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन ही बलवान हो जायेगा पर इस समय साहित्यक प्रांत इतने बड़े हैं कि उनके पुनर्नि की आवश्यकता है।" इसी में उन्होंने लिखा था कि "उदाहरण के लिए हम मंडल को लेते हैं। क्या यह असंभव है कि आगरा, भरतपुर, अलीगढ़, धौ इटावा, ऐटा. मैनपुरी इत्यादि जिलों की साहित्यक संस्थाएं मिलकर ब्रज सा मण्डल का निर्माण करें? इसी प्रकार वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद को बुन्देलखण्ड की प्रतिनिधि संस्था बनाया जा सकता है। हमें यह जानकर हर्ष कि उक्त परिषद के अधिकारी इस पर विचार कर भी रहे हैं। अबकी बार कुछ ग्रामीण लोगों की बुंदेलखण्डी भाषा सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि बुन्देलखण्डी ब्रजभाषा के समान ही मधु मुंशी अजमेरी जी तथा कविवर मैथलीशरण गुप्त तो उसे ब्रजभाषा से भी

कोमल और मधुर मानते हैं। बुन्देलखण्डी भाषा का भी एक कोष तैयार होना चाहिए। सैकड़ों ऐसे शब्द बुन्देलखण्डी में विद्यमान हैं जो हमारी पुस्तकों की भाषा में नहीं पाये जाते। उन्हें प्रयोग में लाने की जरूरत है। संस्कृत से शब्द गढ़ने की अपेक्षा यह कहीं बेहतर है कि प्रचलित शब्दों को ग्रहण किया जाये। इस प्रकार के कार्य बुन्लेलखण्ड साहित्य परिषद ही कर सकती है। यही बात अवधी भाषा और अवध साहित्य मण्डल के विषय में कही जा सकती है।" श्री बनारसी दास जी ने मार्च १९३४ के 'विशाल भारत' में एक लेख द्वारा यह प्रस्ताव किया-"अब समय आ पहुंचा है जबकि हमें साहित्य क्षेत्र का विभाजन छोटे-छोटे प्रांतों में करना चाहिए, उदाहरणार्थ ब्रज साहित्य मण्डल, बुंदेलखण्ड साहित्य परिषद्, अवध साहित्य सम्मेलन इत्यादि।" जब दिल्ली में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ तो उसमें एक प्रस्ताव पास किया गया जो इस प्रकार था—"राष्ट्रभाषा हिन्दी की विस्तृत अभिवृद्धि और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यों और उद्देश्यों का सुसंगठित प्रचार करने की दृष्टि से यह सम्मेलन आवश्यक समझता है कि प्रत्येक प्रांत में प्रांतीय साहित्य सम्मेलन और महत्वपूर्ण बोलियों के क्षेत्र में मण्डल सभाएँ स्थापित की जायें, जो हिन्दी साहित्य-सम्मेलन से सम्बद्ध होकर व्यवस्थित रीति से निरंतर कार्य करती रहें।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आज जिसे हम जनपदीय आंदोलन कहते हैं जो मुख्यतया हिन्दी की बोलियों से सम्बन्धित हैं, उसका श्रीगणेश आज से पचास वर्ष पूर्व हो चुका था और इस वर्ष हम उस आंदोलन की स्वर्णजयन्ती मना सकते हैं। परंतु इस आंदोलन की असली शुरूआत १० मार्च १९४० से हुई जब कुडेश्वर में ब्रज और बुंदेलखण्ड के कार्यकर्ताओं की एक बैठक में यह निश्चय किया गया कि जनपदीय कार्यक्रम को बल दिया जाय। इस बैठक के बाद श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने अप्रैल १९४० के 'विशाल भारत' में 'हम क्या करें' शीर्षक से एक लेख लिखा। इस लेख में हिन्दी भाषा भाषी जनता में साहित्यिक रुचि का विकास करने के लिए स्थानीय और क्षेत्रीय संगठन स्थापित करने की बात कही गयी थी। इसके बाद ही श्री बनारसी दास जी ने 'नाम महात्म्य' के ब्रजांक के लिए, जो जुलाई १९४० में श्री छबीले लाल गोस्वामी के सम्पादन में प्रकाशित हुआ, ब्रज साहित्य मण्डल की सहायता के लिए जोर देते हुए एक लेख लिखा, जिसके रिंप्रिट विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं को भेजे गये। एक प्रति मुझे भी मिली थी और मैंने उसे मथुरा की हिन्दी साहित्य परिषद् के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया। हिन्दी साहित्य परिषद् मथुरा ने यह निर्णय किया कि ब्रज साहित्य मण्डल की स्थापना की जाये और उसके लिए एक समिति बना दी गयी जिसका संयोजक मुझे बनाया गया। उनका वह लेख डॉक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल को भी भेजा गया

जिन्होंने अपने २५ जुलाई १९४० के पत्र में बनारसीदास जी को जो लिखा व जनपदीय कार्यक्रम या जनपदीय आंदोलन का आधार बन गया। उन्होंने लि था—"ब्रज साहित्य मण्डल नाम का आपका लेख मिला। खूब पसन्द आया किसी दकियानूस को भरती करने के लिये भेजें तो मथुरा नहीं लखनऊ का रास्त बता दें, क्योंकि मैं पिछली ५ जनवरी से यहां के कटघरे में आ गया हूं।'

"रही प्रांतीयों बोलियों की बात, वह तो आपने मेरे मन की बात कह डाल मैंने पांच वर्ष तक ब्रज में साहित्यसेवियों का ध्यान इस ओर खींचने की कोशि की। संभव है, आपकी प्रेरणा से अब बीज-वपन हो जावे। आगरा की साहित्य प्रदर्शनी में जो संदेश मैंने भेजा था, उसे यदि महेन्द्र जी कभी छापेंगे तो मा होगा कि जनपदों के साहित्य की साधना के लिये मैं कितना उत्सुक हूं। मेरा विश्वास है कि हिन्दी बिना जनपदों की बोलियों को साथ लिये उन्नति कर नहीं सकती। भाषा शास्त्र की दृष्टि से जनपदों में, गांवों में, बेहिसाब मसा भरा पड़ा है।"

"मैंने हरिभाऊ जी के 'जीवन साहित्य' नामक प्रस्तावित मासिक पत्र के प्रथम के लिए 'पृथ्वीपुत्र' नामक लेख अभी भेजा है। उसमें भी इस बिषय पर ध्य दिलाया है। आपने ग्रियर्सन कृत बिहार पेजेंट लाइफ (बिहार कृषक जीवन) देखी होगी। उस ढंग की पुस्तक बुंदेलखण्ड के लिये तैयार करके छपाइये।"

शरद पूर्णिमा १९४० को मथुरा में ब्रज साहित्य मण्डल की स्थापना हु यद्यपि श्री वासुदेवशरण अग्रवाल इस सम्मेलन में उपस्थित नहीं हो सके परंतु ब्रज के साहित्यिक कार्यों से उनका जो सम्बन्ध था उसे ध्यान में रख उन्हें ब्रज साहित्य मण्डल का अध्यक्ष चुना गया। मण्डल का कार्यालय दि रखा गया। मेरे गुरु प्रोफेसर सत्येन्द्र प्रधानमंत्री चुने गये और उनकी सहायता लिए मुझे तथा उस समय आगरा में रहने वाले श्री गोपाल प्रसाद व्यास को संयु मंत्री तथा डाक्टर विश्वपाल शर्मा को कोषाध्यक्ष चुना गया। इधर इन्हीं दि अक्तूबर १९४० से टीकमगढ से 'मधुकर' पाक्षिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू हु जब मधुकर के सात अंक प्रकाशित हो चुके और वे श्री वासुदेवशरण अग्रव को भेजे गये तो उन्होंने ११ जनवरी १९४१ को जो पत्र लिखा उसमें यह वि प्रकट किया—'हर्ष है कि भारतीय जनपदों की प्राचीन परम्परा को 'मधुकर' उत्साही और जीवित उपासक मिला। मेरा विश्वास है कि भारतीय संस्कृति जो थाती अब तक बची है, उसका निवास हमारे जनपदों में ही है। हमारे पुरा आचार, धार्मिक विचार, संस्था, भाषा और बहुमुखी जीवन का अ प्रवाह भारतीय ग्राम तथा उनके समुदाय जानपद रत्नों की सामग्री जनपदों

सुरक्षित है। आप टर्नर और ग्रियर्सन की पद्धति पर कार्य को हाथ में लेने वाले नवयुवक बुन्देलखण्ड के लिये भी उत्पन्न कीजिये। प्रत्येक जनपदीय बोली को ऐसी ही धात्रियों की चाह है। ग्रियर्सन ने बिहार में रहते हुए, वहाँ के किसानों के जीवन पर एक अमूल्य ग्रंथ 'बिहार पेजेन्ट लाइफ' (बिहार कृषक जीवन) के नाम से लिखा था। आपने देखा होगा, न देखा हो तो अवश्य देखियेगा। वह आपके कार्यकर्त्ताओं के लिये एक आदर्श रूपरेखा उपस्थित करता है। प्रादेशिक समस्याओं और बोलियों के लिये कार्य करने की बात अब बहुधा सुनने में आने लगी है। लोगों में उत्साह भी है, पर उसकी वैज्ञानिक पद्धति कुछ विचारशील लोगों को निर्धारित कर देनी चाहिये, जिससे सामान्य कार्यकर्ता तदनुसार काम में लग सकें।"

वासुदेवशरण अग्रवाल का वह कार्यक्रम मातृभाषायी कार्यक्रम नहीं था। उन्होंने इसी पत्र में यह सुझाव दिया था कि भाषा समिति, भूगोल या देशदर्शन समिति, पशु-पक्षी समिति, वृक्ष वनस्पति समिति, ग्राम गीत समिति, जन-विज्ञान समिति, संस्कृति और साहित्य समिति और खनिज पदार्थ और कृषि उद्योग समिति की स्थापना की जाये। उन्होंने लिखा था कि 'यदि एक संगठित और व्यवस्थित रीति से पाँच वर्ष तक इस प्रकार कार्य होगा तो आशा है कि देश और जनता के वास्तविक जीवन के साथ हम गाढ़ा परिचय प्राप्त कर सकेंगे।' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल का जनपदीय कार्यक्रम मात्र भाषायी या बोलियों का कार्यक्रम नहीं था, देश को समझने का और उससे सम्पर्क रखने का यह एक विशाल कार्यक्रम था जिसमें अध्ययन की सुविधा के लिए बोलियों की सीमा में बाँट दिया गया था। आज पर्यावरण के सम्बन्ध में हमारे सामने जो समस्याएँ उठ रही हैं, उनका अग्रवाल जी ने उसी समय उल्लेख कर दिया था।

इसी कार्यक्रम के परिणामस्वरूप ब्रज साहित्य मण्डल में कुछ काम शुरू हुआ और बुन्देलखण्ड में भी। यह निश्चय किया गया कि एक बुन्देलखण्डी विश्वकोष बनाया जाये। उन दिनों मैं दिल्ली के 'नेशनल काल' के सम्पादकीय विभाग में काम कर रहा था। टीकमगढ़ में लोकवार्ताओं के मर्मज्ञ श्री कृष्णानंद गुप्त, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के साथ आ गये थे और उन्हें बुन्देलखण्डी विश्वकोष का काम सम्पादित करने का भार सौंपा गया। मुझे बनारसीदास जी ने छह महीने के लिए बुन्देलखण्डी विश्वकोष में सहायता देने के लिए बुलाया। मेरा जन्म बुन्देलखण्ड में हुआ था और ब्रज मेरी ननिहाल थी। मैंने हाई स्कूल तक मथुरा में ही शिक्षा प्राप्त की थी और इसलिए दोनों जनपदों का मेरे ऊपर अधिकार था। ब्रज साहित्य मण्डल की स्थापना में और लगभग एक वर्ष तक उसके संचालन में मेरा योग रहा था और उसकी कार्य-समिति से मैं बहुत दिनों तक सम्बद्ध रहा। अब पहली बार बुन्देलखण्ड में काम करने का अवसर आया था और मैंने उसे स्वीकार कर दिल्ली

के दैनिक पत्र के कार्य से छुट्टी ले ली। एक प्रकार से इस निर्णय ने मेरी जीवन धारा ही बदल दी क्योंकि संभव था कि यदि मैं दिल्ली न छोड़ता तो मेरा जीवन अंग्रेजी पत्रकारिता में ही लगा रहता।

मैं टीकमगढ़ में ही था कि श्री गणेश शंकर विद्यार्थी के बलिदान दिवस पर उनकी जयन्ती मनाने के सम्बन्ध में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के परामर्श से मैंने एक पत्र १५ मार्च १९४३ को प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रचार मंत्री श्री चन्द्रशेखर बाजपेयी को लिखा। उसके उत्तर में श्री बाजपेयी ने मुझे यह सूचना दी कि समयाभाव के कारण श्री गणेश शंकर विद्यार्थी के सम्बन्ध में सभाएँ करने की गश्ती चिट्ठी सम्मेलन की ओर से नहीं निकाली जा सकती। अन्य संस्थाओं ने समारोह मनाया। श्री गणेश शंकर विद्यार्थी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भूतपूर्व अध्यक्ष भी थे। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी सम्मेलन के इस निरुत्साह से बहुत ही दुखी हुए और उन्होंने 'मधुकर' में अपना वह लेख लिखा जिसके नाम से विकेन्द्रीकरण प्रसिद्ध हुआ। इस लेख का शीर्षक था—'साहित्य क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण'। उससे पहले उन्होंने एक पत्र लिखा था जिसमें यह कहा था, 'केन्द्रीयकरण की हानियाँ हम देख ही रहे हैं। प्रयाग में सम्पूर्ण शक्ति को केन्द्रित करके हम लोगों ने कोई बहुत बुद्धिमानी का कार्य नहीं किया। हिन्दी भाषा-भाषी बीस करोड़ हैं। बीस करोड़ व्यक्तियों को मानसिक भोजन देने का कार्य प्रयाग के चार-पाँच बहुधंधी आदमी कदापि नहीं कर सकते।'

'हमारे प्रांत बुन्देलखण्ड के स्वर्गीय श्रीयुत घासीराम जी व्यासजी की कीर्ति-रक्षा के लिए कोई अखिल भारतीय संस्था कुछ काम कर सकेगी, इसकी आशा ही छोड़ देनी चाहिए। जब प्रयाग वाले सम्मेलन के भूतपूर्व प्रधान अमर शहीद गणेश जी के स्मृतिदिवस के लिए सरकुलर चिट्ठी भी नहीं भिजवा सकते तो बिचारे व्यास जी को कौन पूछता है?'

इस पत्र और इस लेख के प्रकाशन के बाद इस आंदोलन का नाम कभी विकेन्द्रीकरण और कभी जनपदीय आंदोलन हो गया। उसका कारण यह था कि श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने अपने विकेन्द्रीकरण की परिकल्पना को जनपदीय कार्यक्रम से जोड़ दिया। क्योंकि उनका कहना था कि केन्द्रीकरण से जनपद की सेवा नहीं हो सकती। उन्होंने अपने उस लेख में लिखा था कि 'जनपदीय कार्यक्रम तथा जनपदीय संस्थाओं की महत्ता इसी में है कि वे इस प्रकार के केन्द्र अधिक-से-अधिक जनता के समीप ही कायम रखना चाहते हैं। ब्रजमण्डल में ब्रजभाषा महाविद्यालय की स्थापना करना और ब्रजभाषा की पुरानी पोथियों का ब्रजमण्डल के ही संग्रहालय में आना उचित है अथवा उन्हें वहाँ से सैकड़ों मील दूर

अलमारियों में बंद कर देना ? जो लोग यह विश्वास करते हैं कि सर्वश्री श्रीनाथ सिंह जी, निर्मल जी, पद्मकांत जी और वाचस्पति जी प्रयाग में बैठे-बैठे इस अखिल हिन्दी जगत् की शक्तियों का विधिवत् नियंत्रण कर सकते हैं, उन्हें सचमुच अकल का अजीर्ण हो गया है और उन्हें किसी आयुर्वेद पंचानन की दवा खानी चाहिए। उपर्युक्त चारों व्यक्तियों ने अपने-अपने ढंग पर साहित्य की प्रशंसनीय सेवा की है, पर यह काम उनके बूते का नहीं है। इनके स्थान पर यदि टंडन जी, सम्पूर्णानन्द जी, श्रीनारायण जी तथा दयाशंकर जी नियुक्त कर दिये जायें, तो वे भी इसे संतोषजनक ढंग पर नहीं निभा सकेंगे। बात दरअसल यह है कि हिन्दी की दिन-दूनी, रात चौगुनी बढ़ती हुई शक्ति का नियंत्रण किसी एक केन्द्रीय स्थल से कदापि नहीं किया जा सकता।'

'हमारे यहाँ ऐसे-ऐसे विचारशील व्यक्ति विद्यमान हैं, जो दिल्ली में एक पावर हाउस (बिजली घर) खोलकर वहाँ से लाखों ग्रामों को रोशनी पहुँचाने के स्वप्न देख सकते हैं।'

'हमें कोई आपत्ति नहीं, वे अपने असंभव प्रयत्न में लगे रहें। हमारा कर्तव्य तो यह है कि अपने क्षुद्र दीपकों और लालटेनों के द्वारा झोपड़ियों तथा भवनों तक प्रकाश पहुँचा दें।'

जब यह लेख प्रकाशित हुआ तब हमारे पास जो चिट्ठियाँ आईं, या अन्य समाचारपत्रों में जो चर्चा हुई, उसमें इस आंदोलन के विरोध के तर्क भी सामने आये। उन्हीं का उत्तर देने के लिए श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने जो आगे लिखा, वह महत्वपूर्ण है। उसका महत्व दोहरा है। एक यह कि इससे हमें पता लगता है कि जनपदीय आंदोलन के बारे में उस समय क्या आशंकाएँ थीं और क्या आपत्तियाँ थीं ? साथ ही यह भी पता लगता है कि विकेन्द्रीकरण या जनपदीय कार्यक्रम से श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी की, जो इस आंदोलन के पुरोधा थे, क्या आकांक्षाएँ थीं ? उन्होंने इसी लेख में आगे लिखा—'जनपदीय कार्यक्रम से सम्मेलन कमजोर हो जाएगा, यह विघटन की नीति हिन्दी जगत् के लिए अत्यंत भयंकर सिद्ध होगी। यह भाषा सम्बन्धी पाकिस्तान है, इत्यादि इत्यादि कुतर्क करनेवालों से हमारा एक सवाल है।'

'यदि राजस्थान साहित्य सम्मेलन की नींव सुदृढ़ आधार पर रखी जाती है; अवध साहित्य परिषद् की स्थापना हो जाती है, ब्रजभाषा के लिए एक महाविद्यालय कायम हो जाता है, बुन्देलखण्डी विश्वकोष प्रकाशित हो जाता है; भोजपुरी ग्राम-गीतों का संग्रह हो जाता है और कुमाऊँ तथा गढ़वाल के पार्वत्य प्रदेशों में साहित्यिक जागृति हो जाती है तो इसमें केन्द्रीय सम्मेलन का क्या अहित होगा

अथवा क्या पुराने तीर्थों के पण्डों का यह कर्तव्य ही है कि नवीन तीर्थों के निर्मा का वे विरोध ही करें ?'

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री वासुदेवशरण अग्रवाल और श्री बनारसीदा चतुर्वेदी के कार्यक्रमों में कोई अंतर नहीं था। एक प्रकार से व्याख्या या नामकर का भेद था परंतु उसके साथ-ही-साथ अन्य घटनाएँ भी जुड़ गयीं जिसने इस सा प्रश्न को काफी विवादास्पद बना दिया। पहली तो यह थी कि टीकमगढ़ से और 'मधुकर' कार्यालय द्वारा ही बुन्देलखण्ड प्रांत निर्माण का नारा दिया गया इसकी माँग यह थीं कि बुन्देलखण्ड की ३३ रियासतों और उत्तरप्रदेश के बुन्देलख संभाग तथा मध्यप्रदेश के सागर, दमोह और जबलपुर जिलों को मिलाकर ए बुन्देलखण्ड प्रांत का निर्माण किया जाये। यह विशुद्ध राजनीतिक माँग थी जिसक जनपदीय आंदोलन और विकेन्द्रीकरण से इतना साम्य था कि इसमें जिस बुन्दे खण्ड प्रांत क्षेत्र का संकेत किया गया था, वह बुन्देलखण्डी बोलनेवाला जनपद था उसी के साथ-साथ एक नयी समस्या यह भी खड़ी हुई कि श्री राहुल सांकृत्याय ने 'मातृ-भाषाओं का प्रश्न' नामक लेख लिखा। इस लेख को भी मधुकर कार्याल द्वारा समाचारपत्रों में प्रचारित कराया गया। इसमें उन्होंने यह सुझाव दिया कि हिन्दीं की जो विभिन्न बोलियाँ हैं उन्हें मातृभाषा माना जाये और उन्हें शिक्ष का माध्यम बनाया जाये। उन्होंने लिखा था कि 'यदि ये भाषाएँ-बोलियाँ—अ तक नहीं मरीं, तो निकट भविष्य में वे नामशेष नहीं होने जा रही हैं। उन तुलसियों, सूरों, विद्यापतियों की आपने अब तक कद्र नहीं की या भुला दिया, अब भी उर्वरता गई नहीं है। भविष्य उनके हाथ में है। हम बोलियों के गीतों कहानियों और मुहावरों के जमा करने के विरोधी नहीं, बल्कि जबर्दस्त समर्थक है लेकिन उन्हें अजायबघर की निर्जीव वस्तुओं अथवा पिंजरापोल की अंतिम घड़ि गिन रही, लूली-लंगड़ी गायों के रूप में रख कर नहीं। हम उन्हें देखना चाहते जनपदीय पार्लियामेंटों में बोली जाते, कचहरियों में लिखी जाते, प्राइमरी पा शालाओं से लेकर कालेजों-महाविद्यालयों तक शिक्षा का माध्यम बनते। संक्षेप अपने घर में अपनी मालकिन बनते। जनता की भाषा जब घर की मालकि बनेगी; तभी जनता घर की मालकिन बन सकती है।'

राहुल जी के इन विचारों का कई क्षेत्रों से विरोध हुआ। राहुल जी समय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे, यद्यपि बाद में उन्होंने वह पार्टी छोड़ दी उनकी बात को लोग कम्युनिस्ट विचारधारा का प्रसार मानते थे। साथ उन्होंने अपने लेख में सोवियत संघ की भाषा नीति का उल्लेख भी किया था उसका अनुकरण करने की सलाह भी दी थी। 'भारत छोड़ो' आंदोलन सिलसिले में कम्युनिस्ट पार्टी की जो भूमिका थी उससे बहुत से राष्ट्रवादी असंतु

थे। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रीय इकाइयों के आत्मनिर्णय सिद्धांत को लेकर पाकिस्तान की मांग को भी अपना अप्रत्यक्ष समर्थन दे रही थी। इसलिए जो लोग विकेन्द्रीकरण या जनपदीय आंदोलन के विरोधी थे उन्होंने फौरन ही यह चीज खड़ी कर दी कि जनपदीय आंदोलन अंततोगत्वा बोलियों के आधार पर प्रांत निर्माण का आंदोलन बन जाएगा जिससे हिन्दी क्षेत्र खंडित हो जाएगा, केन्द्रीय शक्ति कमओर होगी और राष्ट्रभाषा हिन्दी के मार्ग में रोड़ा अटकेगा। और इनमें ऐसे लोग भी थे जो स्वयं जनपदीय कार्यक्रम में अग्रणी रहे थे, जैसे प्रोफेसर सत्येन्द्र परंतु उन्होंने बोलियों के आधार पर प्रांत बनाने, बोलियों को शिक्षा का माध्यम बनाने या विकेन्द्रीकरण की कल्पना का विरोध किया। चूंकि जनपदीय कार्यक्रम में विश्वास करने वालों का दिल खुला हुआ था इसलिए इस आंदोलन के जो भी विरोधी थे, उनके विचार भी मधुकर कार्यालय में मंगाये गए और जनपदीय आंदोलन कार्यालय की ओर से ही मैंने उन लेखों को हिन्दी के विभिन्न समाचार-पत्रों में प्रकाशनार्थ भेजा और जब 'मधुकर' का 'जनपद आंदोलन अंक' प्रकाशित किया गया तो मैंने उसके सम्पादक की हैसियत से अपना यह कर्त्तव्य समझा कि इस आंदोलन के सिलसिले में जितने भी विचार हमारे सामने आये हैं, चाहे वे लेखों की शक्ल में या पत्रों की शक्ल में, उन सबको मधुकर के विशेषांक में स्थान दिया जाय। रायल साइज के एक सौ साठ पृष्ठों में हिन्दी के जिन विद्वान् लेखकों के विचार सम्मिलित किए गए उनकी नामावलि इस प्रकार है—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, श्री माखनलाल चतुर्वेदी, श्री पुरुषोत्तम दास टंडन, श्री सम्पूर्णानन्द, डा० रामकुमार वर्मा, डा० अमरनाथ झा, श्री ब्यौहार राजेन्द्र सिंह, स्वामी भवानीदयाल संन्यासी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री हरिभाऊ उपाध्याय, श्री रामवृक्ष वेनीपुरी, श्री श्रीप्रकाश, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, डा० सुनील कुमार चाटुर्ज्या, श्री हरिशंकर शर्मा कविरत्न, श्री हरिशंकर विद्यार्थी, सम्पादक प्रताप, श्री सत्यजीवन वर्मा भारतीय, प्रोफेसर ललिता प्रसाद सुकुल, प्रोफेसर सद्गुरुशरण अवस्थी, सरदार माधवराव विनायक किवे, श्री किशोरीदास जी वाजपेयी, श्री जर्नादन राय नागर, प्रोफेसर सत्येन्द्र, श्री भदंत आनंद कौसल्यायन, श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा, श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, डा० सिद्धेश्वर वर्मा, पंडित चन्द्रबली पाण्डे, डा० धीरेन्द्र वर्मा, श्री अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार, श्री वृन्दावन लाल वर्मा, श्री राम इकबाल सिंह राकेश, श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, श्री दुर्गाशंकर दुर्गावत, श्री ठाकुर श्रीनाथ सिंह, प्रोफेसर राजनाथ पाण्डेय, महंत श्री शान्तानन्द नाथ, स्वागताध्यक्ष, हरिद्वार सम्मेलन तथा श्रीमती राधादेवी गोयनका, स्वागताध्यक्ष, विदर्भ प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित पत्रों के सम्पादकीय भी इस अंक में संग्रहित किए

गए थे। ये थे—दैनिक लोकमान्य, कलकत्ता; दैनिक विश्वबंधु, कलकत्ता; मासिक सरस्वती, प्रयाग; मासिक साधना, आगरा; मासिक विशाल भारत, कलकत्ता।

जनपदीय आंदोलन उन दिनों हिन्दी जगत् में व्याप्त था। जिसके परिणमस्वरूप जब हरिद्वार में गर्मियों की छुट्टियों में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ तो उसके स्वागताध्यक्ष और सभापति दोनों ने ही इस आंदोलन का अपने भाषण में जिक्र किया। अध्यक्ष श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने अपने भाषण में इसका जिक्र करते हुए कहा कि हमने महात्मा गाँधी के तत्वावधान में जहिन्दी भाषी प्रांतों में राष्ट्रभाषा प्रचार का जो काम किया, वह खूब सफल हुआ। किन्तु हम एक बात भूल गए, समस्त हिन्दीभाषी प्रांतों और रियासतों में नष्ट होते हुए हिन्दी साहित्य को बचाने की ओर ध्यान न दे सके। हमने ब्रज, अवधी और भोजपुरी तथा कुछ बुन्देलखण्डी भाषाओं के प्राचीन साहित्य पर शोध की और उन्हीं भाषाओं के प्राचीन शब्द भण्डारों को अपनी मूल निधि मान लिया? किन्तु मारवाड़, मेवाड़, मालवा, निमाड़, हरियाणा इन सब स्थानों की भाषा और उनमें गड़े हुए साहित्यों की ओर ध्यान नहीं दिया। उसी तरह हमने मिथिला और उसके आसपास के भाषा क्षेत्रों की खबर नहीं ली। यदि हम सम्पूर्ण हिन्दी संसार के क्षेत्रफल और जनसंख्या का लेखा-जोखा अपने सामने रखें तो हमसे यह गलती नहीं होगी। हमें समस्त हिन्दी संसार की प्रकृत कल्पना, सुनिश्चित मूर्त्ति और सम्पूर्ण साहित्य वैभव को हिन्दी जगत् और राष्ट्रभाषा के उद्योगियों के सामने रखना चाहिए।

इस विषय में समस्त हिन्दी संसार के बलवर्द्धन के लिए मैं पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी के जनपदों की स्थापना अथवा मण्डलों की स्थापना के सुझाव का समर्थन करता हूं। वहाँ तक, जहां तक कि देहली के सम्मेलन का प्रस्ताव आज्ञा देता है.... मैं यह तो चाहता हूं कि मारवाड़ी, बुन्देलखण्डी, ब्रजभाषा मैथिली आदि का नष्ट होता हुआ साहित्य उज्ज्वल रूप में सम्मुख आये, किन्तु मैं यह हरगिज नहीं समझ सकता कि इन प्रांतों की पाठ्य-पुस्तकें वहां की वोलियों में छपने लगें। प्रांतीय अभिमान को जागृत करना बुरी वात नहीं किन्तु इनके गृह-कलह से मुझे सम्पूर्ण हिन्दी जगत् के नाश हो जाने का भय मालूम होता है। मेरे विचार से अंग्रेजी के राज-रथ को हिन्दी के क्षेत्रों में बलवान बनाकर अखिल हिन्दी जगत् की एक हिन्दी भाषा को कमजोर करने का इससे सुन्दर तरीका दूसरा नहीं हो सकता कि प्रांतीय उत्तेजना में पड़कर एक दिन मैथिली बोलने वाला मारवाड़ी न समझे और मारवाड़ी बोलने वाला मैथिली। तब परिणामतः हाई स्कूलों और कालेजों द्वारा प्रदत अंग्रेजी भाषा धीरे से आकर

हमारे हिन्दी जगत् में प्रांतों के बीच की व्यवहार और सुविधा की भाषा बन जाये। हां, प्रांतों में हिन्दी-भाषा में ही हम प्राचीन प्रांतीय साहित्यों को समझें और समझावें।"

हरिद्वार सम्मेलन में एक प्रस्ताव पारित किया गया जो इस प्रकार था—"इस सम्मेलन का यह विश्वास है कि भारतीय संस्कृति का निवास हमारे जनपदों में है अतः यह सम्मेलन एक समिति की स्थापना करता है जो भारत के विभिन्न जनपदों की भाषा, पशु-पक्षी, वनस्पति, ग्राम-गीत, जन-विज्ञान, साहित्य तथा वहाँ की उपज का अध्ययन करने की योजना उपस्थित करे। उस समिति में निम्नलिखित विद्वान् हों—सर्वश्री वासुदेव शरण अग्रवाल, लखनऊ, बनारसीदास चतुर्वेदी, टीकमगढ़, राहुल सांकृत्यायन, बिहार, चन्द्रबली पाण्डे, काशी, अमरनाथ झा, प्रयाग, जैनेन्द्र कुमार, दिल्ली, और सत्येन्द्र, मथुरा।

इस समिति को अधिकार होगा कि वह आवश्यकतानुसार अन्य सदस्यों को भी सम्मिलित कर ले तथा जिस जनपद में वह काम करे वहां के भी चार सज्जनों तक को इस समिति में सम्मिलित कर ले।"

हरिद्वार सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष महंत शांतानंद नाथ तथा सभापति श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने अपने-अपने भाषणों में जनपद आंदोलन का जिस सीमा तक समर्थन किया था और जो विचार श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने ११ जनवरी १९४१ को श्री बनारसी दास चतुर्वेदी को अपने पत्र में लिखा था। प्रस्ताव का मसौदा सर्वश्री भदंत आनन्द कौसल्यायन, दयाशंकर दुवे, सीताराम चतुर्वेदी, यशपाल जैन, और जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी ने बनाया था। लेकिन प्रस्ताव में कमी यह रह गयी कि किसी संयोजक के नाम का उल्लेख नहीं किया गया। श्री अमरनाथ झा ने भदन्त आनन्द कौसल्यायन का यह प्रस्ताव पेश किये जाने पर उसका समर्थन किया और श्रीमती कमलाबाई किवे ने अनुमोदन। खुले अधिवेशन में श्री अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार तथा श्री श्रीनाथ सिंह ने प्रस्ताव का विरोध किया। इस प्रस्ताव पर दो संशोधन आये। इनमें एक में श्री सत्येन्द्र जी का नाम समिति में रखा गया और दूसरे संशोधन में अंतिम पैराग्राफ जोड़ दिया गया। यह प्रस्ताव १७, १८ और १९ मई को जो सम्मेलन हुआ था उसमें पारित हुआ था, जहाँ इसके पक्ष में बहुमत था। जुलाई के अन्त में प्रयाग में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थायी समिति की बैठक हुई और उसमें श्री चन्द्रबली पाण्डेय को समिति का संयोजक बनाया गया। उन्होंने २३ सितम्बर को एक परिपत्र सदस्यों को भेजा। इसी बीच उनका श्री बनारसी दास चतुर्वेदी से पत्र-व्यवहार भी हुआ। उन्होंने अपने २४ अगस्त के पत्र में श्री बनारसी दास चतुर्वेदी को लिखा था—"मैं आपकी

विचारधारा से सहमत नहीं हूं फिर भी मैं जनपद योजना के पक्ष में हूं और कुछ सोच-समझ कर ही हरिद्वार में इसका पक्ष लिया था।" उन्होंने यह भी लिखा—"मैं विकेन्द्रीकरण को कोई महत्व नहीं देता। मैं तो मूलतः उसका विरोधी हूं। मुझे तो केन्द्रीकरण ही प्रिय है।" उन्होंने यह आशा की थी कि अक्तूबर में बैठक हो परन्तु श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को उन्होंने जो चिट्ठियाँ लिखीं उसमें यह भी लिखा कि आपने कभी इस बात पर भी ध्यान दिया है कि वास्तव में अग्रवाल जी कि योजना से सम्मेलन का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं, वह तो युक्तप्रांतीय व मध्य-देशीय सम्मेलन के घर की बात है।" इसी समय दैनिक हिन्दुस्तान में पूना में श्री माखनलाल चतुर्वेदी का दिया हुआ एक इंटरव्यू छपा। इसमें कहा गया था कि साहित्य-सम्मेलन हरिद्वार द्वारा स्वीकृत जनपदों वाले प्रस्ताव के बारे में हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि ने पूछा कि क्या वह अहिन्दी प्रांतों में भी लागू होगा। तब चतुर्वेदी जी ने कहा कि "उस प्रस्ताव को अभी बहुत कठिनाइयों में गुजरना होगा। बहुत संभव है कि जयपुर सम्मेलन इस प्रस्ताव को रद्द कर दे। यह भी कहा जा सकता है कि जयपुर अधिवेशन में उस पर अमल आरंभ हो जाये। परन्तु यह निश्चित है कि उस प्रस्ताव को कार्यरूप में किस तरह परिणत किया जायेगा और उसके अनुसार विकेन्द्रीकरण के आधार पर किस प्रांतीय संगठन का आरम्भ होगा, अभी तक इसकी रूपरेखा तैयार नहीं हो सकी है।"

इसके बाद श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने १४ नवम्बर, १९४३ को सम्मेलन के अध्यक्ष श्री माखनलाल चतुर्वेदी को जनपदीय कमेटी से अपना त्यागपत्र भेज दिया। उन्होंने लिखा था—"आपने पूना में जो इंटरव्यू दी है उससे पता चलता है कि सम्भवतः जयपुर सम्मेलन जनपदीय प्रस्ताव को रद्द कर देगा।

'मुझे यह ज्ञात नहीं कि आपके पास इस कथन के लिये क्या-क्या आधार हैं। जिस सम्मेलन ने जनपदीय आयोजना तैयार करने के लिये एक कमेटी तैयार की थी उसी के जिम्मेदार सभापति ने यह शंकाशील घोषणा कर दी है। ऐसी स्थिति में, कमेटी के एक सदस्य की हैसियत से मेरा यह कर्त्तव्य और अधिकार भी है कि मैं आपकी सेवा में यह निवेदन करूँ कि इस इंटरव्यू से कमेटी का कार्य कठिन हो जायेगा।

इसके अतिरिक्त कमेटी के संयोजक चन्द्रबली जी पाण्डे को मेरे विचार भयावह लगते हैं। उन्होंने मुझ पर दो अपराध लगाये हैं :—

(१) मैं हिन्दी जनता को उलझा रहा हूं।
(२) मैं उन्हें वाद-विवाद में घसीट रहा हूं।
ऐसी परिस्थिति में मैंने त्यागपत्र देना उचित समझा है।"

इस पत्र का कोई जवाब नहीं आया। अक्तूबर में समिति की एक बैठक बुलायी गयी, पर वह हो नहीं सकी। इसके बाद १२ फरवरी १९४४ को फिर समिति की बैठक बुलाई गई लेकिन उस बैठक की भी कोई रिपोर्ट ज्ञात न हो सकी। श्री वासुदेव शरण अग्रवाल, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री अमरनाथ झा, श्री जैनेन्द्र कुमार और श्री बनारसीदास चतुर्वेदी उसमें सम्मिलित नहीं हो सके। इसके बाद जहां तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सम्बन्ध था जनपदीय कमेटी का काम आगे नहीं बढ़ा। परंतु एक काम अवश्य हुआ कि साहित्य-सम्मेलन ने जिला के स्थान पर 'जनपद' लिखना प्रारंभ किया। स्वाधीनता के पश्चात् उत्तरप्रदेश के जिले जनपदों में बदल गये।

अप्रैल १९५२ में हाथरस में ब्रज साहित्य मण्डल का अधिवेशन हुआ। इसका उद्घाटन राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने किया था। इसी अवसर पर विभिन्न जनपदों के प्रमुख विद्वान् एकत्र हुए और हिन्दी जनपदीय परिषद् की स्थापना की गयी। राष्ट्रपति जी ने उसका उद्घाटन कर उसे आशीर्वाद दिया। जनपदीय परिषद् के अध्यक्ष आचार्य नरेन्द्र देव बनाये गये और डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल तथा श्री बनारसीदास चतुर्वेदी उसके उपाध्यक्ष हुए। श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन उसके प्रधानमंत्री चुने गये। सर्वश्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी और बैजनाथ सिंह विनोद उसके मंत्री नियुक्त हुए। श्री रामबाबू लाल, जो ब्रज साहित्य मण्डल के स्वागताध्यक्ष भी थे, कोषाध्यक्ष चुने गये। उनकी आर्थिक सहायता से 'जनपद' नाम की एक पत्रिका निकाली गयी जिसके चार अंक प्रकाशित हुए। उसका पाँच सदस्यों का एक सम्पादकीय मण्डल था, जिसका कार्यालय काशी था परंतु मुख्य कार्य डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल और डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी देखते थे। हिन्दी जनपदीय परिषद् के लिए केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय को अनुदान के लिए लिखा गया परन्तु उन्होंने जनपदीय परिषद के लिए अनुदान देना स्वीकार नहीं किया। सेठ रामबाबू लाल की आर्थिक स्थिति भी कपास के मूल्यों में एकाएक गिरावट आने के कारण बिगड़ गयी। इधर पहले आचार्य नरेन्द्र देव की और फिर श्री बालकृष्ण शर्मा की मृत्यु हो जाने से जनपदीय परिषद् का काम ठप हो गया।

इसे मथुरा के बाबू वृन्दावन दास ने उठाया। उन्होंने सत्यनारायण जयन्ती के अवसर पर आगरा में और मथुरा में अन्तर-जनपदीय हिन्दी परिषद् के नाम से जनपदीय कार्यकर्ताओं की बैठकें बुलायीं जिसमें उनका परिचय श्री कुलदीप नारायण झड़प तथा डॉ० अनिल कुमार आंजनेय से—जो भोजपुरी भाषा के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कार्य कर रहे थे—हुआ और इसके बाद अन्तर-जनपदीय कार्य का मुख्य दायित्व डॉ० आंजनेय और श्री झड़प जी ने लिया जो बड़े मनोयोग से इस

कार्य को कर रहे हैं। इस समय अ० भा० अन्तर जनपदीय परिषद का केन्द्री कार्यालय उजियार, जि०-बलिया में है और डॉ० अनिल कुमार 'आंजनेय' इस महामंत्री हैं। यद्यपि जनपदीय आंदोलन संस्थाओं के रूप में कोई वड़े उल्लेखनी कार्य नहीं कर सका, परन्तु इसने जो चेतना जागृत की उसके वड़े दूरगामी प्रभा हुए। स्वयं हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने, जिसके प्रयाग और काशी स्थित कार्यकर्ता में जनपदीय आंदोलन से वहुत आशंकाएं थीं, श्री कृष्णदेव उपाध्याय की भोजपु लोक साहित्य पर और डाक्टर उदय नारायण तिवारी की भोजपुरी भाषा व्याकरण पर पुस्तक प्रकाशित की। मधुकर ने बुन्देलखण्डी लोक कहानियाँ प्रकाशि करनी शुरू की थीं। बाद में श्री शिव सहाय चतुर्वेदी की बुन्देलखण्डी कहानि ही प्रकाशित नहीं हुई विभिन्न जनपदों की लोक कहानियाँ भी प्रकाशित हुई इनमें ब्रज की लोक कहानियाँ भी थीं जिन्हें श्रीमती आदर्श कुमारी यशपाल लिखा था और ब्रज साहित्य सम्मेलन ने प्रकाशित किया। डॉ० सत्येन्द्र ने ब्रज सामग्री पर एक अध्ययन तथा अन्य शोधग्रंथ लिखे। डॉ० राजबली पाण्डेय गोरखपुर जिले का इतिहास लिखा। डॉ० लक्ष्मीकांत त्रिपाठी ने कानपुर विस्तृत इतिहास लिखा और श्री चिन्तामणि शुक्ल ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश के आग मथुरा, मैनपुरी, बुलंदशहर आदि अनेक जिलों के इतिहास लिखे। प्रकाशकों विभिन्न लोक-गीतों और लोक-कहानियों पर पुस्तकें छापना स्वीकार किया श्री नरेन्द्र धीर ने "मैं धरती पंजाब की" नामक पुस्तक में पंजाब के लोक साहि का विवरण लिखा। श्री रामनारायण उपाध्याय ने निमाड़ी लोक साहित्य और मालवी लोक साहित्य परिषद् के मंत्री श्री श्याम परमार ने पहले आकाशवा के लिए विभिन्न बोलियों के लोक-गीतों का संग्रह किया तथा टेप किये और में भारतीय जन-संचार संस्थान के माध्यम से उन्होंने लोक-वार्ता के पुनर्जीवन लिए बहुत काम किये। श्री कृष्णानंद गुप्त ने 'लोक-वार्ता' का प्रकाशन किया ईसुरी की फागों पर कई पुस्तकें प्रकाशित की। राजस्थानी साहित्य पर बहुत हुआ और राजस्थानी में एक प्रसिद्ध मासिक पत्रिका "माणक" निकलती भोजपुरी में भी अनेक पत्रिकाएँ निकलीं और मैथिली में भी। विश्वविद्यालयों में वि जनपदीय क्षेत्रों के अध्ययन पर शोध प्रबन्ध लिखे गये और यह क्रम आज भी है। फिर भी जनपदीय कार्यकर्ताओं को आकाशवाणी को छोड़ अन्य शासकीय संस्था से सहयोग नहीं मिला। हाँ, आकाशवाणी के विभिन्न स्टेशनों से ब्रज, अव भोजपुरी, हरियाणवी, मालवी, बुन्देलखण्डी और मैथिली बोलियों के लोक-गी वार्ताएँ तथा फीचर प्रसारित होते रहे हैं।

□

हिन्दी का व्यवहार क्षेत्र : बोलियों का प्रश्न

— डॉ० गोपाल राय

अब तक प्रायः मानकर चला जाता रहा है कि कम-से-कम सात राज्य बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचन प्रदेश और दिल्ली—'हिन्दी' भाषी हैं। दक्षिण के अहिन्दी भाषाभाषियों के मन में यह आशंका बराबर बनी रहती है कि इतने बड़े क्षेत्र की भाषा 'हिन्दी' हमारे अस्तित्व को संकट में डालना चाह रही है। उनका हिन्दी-विरोध इस अकारण और तथ्यरहित आशंका का भी परिणाम है। वे नहीं जानते कि इन सात राज्यों में 'हिन्दी' अपने वर्तमान रूप में सर्वत्र नहीं बोली जाती। बिहार में मुख्य नगरों के पाँच दस प्रतिशत (इसका बहुत सही आँकड़ा किसी के पास नहीं है) प्रतिष्ठित लोगों को छोड़कर 'हिन्दी' (आधुनिक हिन्दी) अन्यत्र कहीं नहीं बोली जाती। उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश आदि की भी लगभग यही स्थिति है। केवल दिल्ली और उसके आसपास 'हिन्दी' मातृभाषा और कामकाज की भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। इस 'तथाकथित हिन्दी क्षेत्र' में व्यापक रूप से बोली जानेवाली भाषाएँ भोजपुरी, मैथिली, मगही, अवधी, ब्रजभाषा, मालवी; छत्तीसगढ़ी, कौरवी, राजस्थानी, बुन्देलखंडी आदि हैं। इनमें राजस्थानी, अवधी और ब्रजभाषा का तो साहित्य भी बहुत समृद्ध है। बिहार में मैथिली का साहित्य भी समृद्ध कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें विद्यापति का साहित्य शामिल है। अब तक, गलत या सही, इन भाषा क्षेत्रों के निवासी—यानी, यहाँ के प्रबुद्ध जन-साधारण जनता आज भी भाषाई चेतना से रहित है—अपने को 'हिन्दी-भाषी भाषी' घोषित करते रहे हैं। इन क्षेत्रों के साहित्यकार अपनी 'मातृभाषाओं' को छोड़कर 'हिन्दी' में कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि लिखते रहे हैं। भोजपुरी भाषी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रेमचन्द, अवधी भाषी महावीर प्रसाद द्विवेदी, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', गढ़वाली भाषी सुमित्रानन्दन पन्त, ब्रजभाषी नगेन्द्र, राजस्थानी भाषी अगरचन्द नहटा और मोतीलाल मेनारिया, छत्तीसगढ़ी भाषी माखनलाल चतुर्वेदी, बुन्देलखंडी भाषी वृन्दावन लाल वर्मा, मगही भाषी रामधारी सिंह 'दिनकर' और हंस कुमार तिवारी, मैथिली भाषी नागार्जुन और फणीश्वर नाथ 'रेणु'—कितने नाम गिनाए जायें'—सबने 'हिन्दी' में रचनायें कीं। प्रश्न उठता है, क्या हिन्दी इन लेखकों की भाषा नहीं है? क्या इन्हें पढ़ने वालों की भाषा 'हिन्दी' नहीं है? क्या इन लेखकों की रचनाएँ केवल दिल्ली के आसपास पढ़ी जाती हैं? इन प्रश्नों का उत्तर देने की जरूरत नहीं। निस्सन्देह 'हिन्दी' समस्त मध्यदेश की भाषा है। पर यह दुष्ट किन्तु सच्चा सवाल फिर पैदा हो जाता है: इस क्षेत्र की अन्य भाषाएँ क्या हैं?

कुछ लोग बहुत सतही ढंग से जवाब देकर निकल जाना चाहते हैं कि 'ये हिन्दी की बोलियाँ हैं, इन्हें अधिक महत्व देने की जरूरत नहीं।' वे नहीं जानते कि इस जवाब से वे हिन्दी का कितना अनिष्ट कर रहे हैं। वस्तुतः भाषा-विज्ञान की प्रारम्भिक जानकारी रखनेवाला भी जानता हैं कि 'भाषा' और 'बोली' में कोई तात्विक अन्तर नहीं होता और किसी क्षेत्रविशेष के आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध होते ही उस क्षेत्र की 'बोली' 'भाषा' में बदल जाती है। भारत में गणतन्त्र की स्थापना के बाद सभी क्षेत्रों में राजनितिक चेतना दिनोदिन बढ़ती जा रही है और समृद्धि की दिशा में भी थोड़ी बहुत प्रगति हो रही है।

परिणामत : भाषाई चेतना बहुत उग्रता से विकसित होने लगी है। विहार मैथिली क्षेत्र में मैथिली 'बोली' से 'भाषा' बन गयी है। स्कूल और कॉलेजों मैथिली विधिवत् पढ़ाई जाती है। और अब तो साहित्य अकादमी ने उसे मान्यता प्रदान कर दी है। मैथिली भाषियों की जागरूक और सक्रिय संस्था 'चेतना समिति जो पटना में अवस्थित है, बड़े पैमाने पर प्रति वर्ष विद्यापति पर्व मनाया कर है और दो-ढाई लाख की लागत पर विद्यापति भवन का निर्माण भी हो गया है मैथिली को संविधान की आठवीं सूची में सम्मिलित कराने का आन्दोलन भी रहा है। कुछ दिनों में अलग मिथिला प्रान्त बनाने का आन्दोलन चलेगा ही। इस एक विचित्र स्थिति पैदा हो गयी है। 'हिंदी' वाले विद्यापति को हिन्दी का कवि मानते रहे हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में विद्यापति का सम्मानपूर्ण स्थान है हिन्दी की पाठ्य पुस्तकों में विद्यापति के पद अनिवार्य रूप से सम्मिलित कि जाते हैं। हिन्दी एम० ए० की कक्षाओं में विद्यापति उसी प्रकार पढ़ाये जाते जिस प्रकार सूर, तुलसी और कबीर। पर अब मैथिला वाले कहते हैं कि विद्याप हिन्दी के कवि नहीं हैं! विद्यापति पर्व हिन्दी वाले नहीं, मैथिली वाले मना रहे हैं नागार्जुन हिन्दी के नहीं, मैथिली के लेखक हैं! साहित्य अकादमी उन्हें मैथि के प्रतिनिधि के रूप में रूसभ्रमण के लिए भेजती है। वह हिन्दी कवि नागार्जुन नहीं मैथिली कवि 'यात्री' को (मैथिली में नागार्जुन का ही नाम 'यात्री' है) पुरस्कृ करती है। नागार्जुन मैथिली के प्रतिनिधि के रूप में साहित्य अकादमी के सदस्य है

और यदि मैथिली 'बोली' से 'भाषा' में बदल जा सकती है तो राजस्थानी ब्रजभाषा और अवधी को कौन रोक सकता है? राजस्थानी का प्राचीन साहित्य ही नहीं आधुनिक साहित्य भी मैथिली की तुलना में अधिक समृद्ध है। अवधी गोस्वामी तुलसीदास और मलिक मुहम्मद जायसी जैसे महाकवि हो गये हैं, जिनकी तुलना में विद्यापति बौने हैं। ब्रजभाषा में सूरदास, नन्ददास, मीरा, बिहारी, देव, पद्माकर, घनानन्द जैसे उच्च कोटि के कवि हो गये हैं। साहित्यक समृद्धि दृष्टि से ये 'भाषाएँ' अग्रणी हैं। फिर उन्हें 'बोली' कह कर कैसे टाल दें? क को इन भाषाओं के क्षेत्रों के लोग साहित्य अकादमी से मान्यता की मांग करें.. मांग शुरू हो गयी है – तो इन्हें कौन रोक सकता है? फिर भोजपरी को ही कौ रोक सकता है जिसके बोलने वाले सात करोड़ हैं! भोजपुरी साहित्य! वह हिन्दी साहित्य में से ही निकल आयेगा— कबीर भोजपुरी के सबसे बड़े कवि होंगे उसमान, दरियादास, धरनीदास—अनेक कवि और लेखक 'हिन्दी साहित्य' से बदल कर भोजपुरी परिवार में सम्मिलित हो जाएँगें! आचार्य हजारी प्रस द्विवेदी, डा० उदय नारायण तिवारी, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, आदि रातोंरा भोजपुरी के लेखक बन जाएँगे! प्रेमचन्द तक भोजपुरी के उपन्यासकार ब दिये जाएँगें! हम सब हिन्दी में लिखना छोड़ राज्यस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी भोजपुरी या अपनी अन्य 'मातृभाषाओं' में लिखना शुरू कर देंगे। हम आंदोल करेंगे और साहित्य अकादमी को झख मार कर मान्यता देनी पड़ेगी! मैथिल को जब मान्यता मिल चुकी है तो औरों को क्यों न मिलेगी? भारतीय हि परिषद् के प्रस्ताव पास करने से क्या होता है?[1] जब इसके लाभ स्पष्ट हैं,

---

[1] भारतीय हिन्दी परिषद के ग्वालियर अधिवेशन में प्रस्ताव पास साहित्य अकादमी से अनुरोध किया गया कि वह हिन्दी क्षेत्र की भाषाओं को मान्य न प्रदान करे।

उनसे इन 'भाषाओं को वंचित का करने अधिकार किसको है ?

समस्या चक्कर में डालनेवाली है। हम कल्पना करें कि आजसे बीस या तीस साल बाद हिन्दी क्षेत्र की सभी 'भाषाओं' को साहित्य अकादमी की मान्यता मिल चुकी है ; उनके आधार पर राज्य भी बन चुके हैं ; स्वभावत: उन राज्यों की राजभाषाएँ भी वे भाषाएँ बन चुकी हैं। तब हिन्दी का व्यवहार क्षेत्र क्या होगा ? उसका साहित्येतिहास कैसा होगा ? उसके लेखक कौन होंगे ? पाठक कौन होगें ? हिन्दी के सामने यह संकट, यह समस्या, इस रूप में इसके पहले नहीं आयी थी। आज इस समस्या पर गहराई से सोचने की जरूरत है। पहले हम 'हिन्दी' वाले (भोजपुरी भाषी होते हुए भी अपने को 'हिन्दी' वाला मानता हूँ) इस पर सोचें। हिन्दी के आचार्यों और पीठाधीशों ने इस पर सोचना बन्द कर दिया है। उन्हें संकट का ज्ञान नहीं है। संकट का थोड़ा-बहुत आभास तो उन्हें है, पर वे उसे गुर्राकर दूर कर देने का सपना देख रहे हैं। डॉ० रामविलास शर्मा अपने भाषण में[2] मराठीभाषियों का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जब कोई महाराष्ट्री 'कोंकणी' का प्रश्न उठाता है तो वह वरिष्ठ मराठीभाषियों द्वारा डाँट कर चुप कर दिया जाता है। गरज कि हिन्दी में भी यही होना चाहिए। यह समाधान तब तक तो ठीक है जब तक कि डाँट दिया जाने वाला व्यक्ति चुप रहता है, पर यदि उसने भी जवाब देना शुरू कर दिया तब क्या हो ? हिन्दी में यही हो गया है, जिसे डॉ० रामविलास शर्मा और हिन्दी के अन्य विद्वान नहीं समझ रहे हैं। मैथिलीभाषी इस डाँट से अब कदापि चुप नहीं हो सकते। भोजपुरी; राजस्थानी, ब्रजभाषा आदि भाषाओं के बोलने वाले अभी इस डाँट को पीते जा रहे हैं, पर भीतर-ही-भीतर असन्तोष बढ़ता जा रहा है। साहित्य अकादमी और विश्वविद्यालयों में मैथिली को मान्यता मिल जाने के बाद भोजपुरी आदि भाषाएँ भी विक्षुब्ध होने लगी हैं। साहित्य अकादमी द्वारा राजस्थानी, ब्रजभाषा, और भोजपुरी की मान्यता दिए जाने का प्रस्ताव कुछ दिन पहले संसद् नें उठ चुका है। बिहार विश्वविद्यालय ने मैथिली के साथ भोजपुरी को भी आइ० ए० और बी० ए० कक्षाओं में पाठ्यविषय के रूप में मान्यता दे दी है। बिहार के अन्य विश्वविद्यालयों में भी भोजपुरी और मगही का पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए। इस सम्बन्ध में कानाफूसी शुरू हो गयी है। जमशेदपुर भोजपुरी साहित्य परिषद् ने एक पीतपत्र निकालकर आन्दोलन करने का आह्वान किया है। अखिल भारतीय भोजपुरी साहित्य सम्मेलन ने अपने कई अधिवेशनों में इसके लिए प्रस्ताव पारित किया है। मतलब कि आँधी उठने वाली है। यदि उसके पहले ही ठोस ढंग से कुछ नहीं सोचा गया, तो भावी अनिष्ट को रोकना कत्तई सम्भव नहीं होगा।

तो क्या किया जाए। मेरे विचार से साहित्य अकादमी द्वारा इन सभी भाषाओं की मान्यता मिल जानी चाहिए ? साहित्य अकादमी इन भाषाओं के श्रेष्ठ रचनाकारों को पुरस्कृत करें, उन्हें अकादमी का सदस्य मनोनीत करे, उन्हें प्रतिनिधि के रूप में विदेश भेजे, इसमें क्या नुकसान है ? इससे श्रेष्ठ साहित्य को प्रोत्साहन मिलेगा और हिन्दी क्षेत्र के अन्तर्गत मैथिली आदि भाषाभाषियों को इस बात का गिला नहीं रह जाएगा कि 'हिन्दी' न जानने के कारण उनकी प्रतिभा कुंठित हो रही है। जहाँ तक पाठकों का प्रश्न है, श्रेष्ठ साहित्य स्वयं अपने

---

१. भारतीय हिन्दी परिषद् के ग्वालियर अधिवेशन (अक्टूबर, १९७१) में डॉ० रामविलास शर्मा का मौखिक भाषण।

पाठक खोज लेता है। तुलसीदास को यह चिन्ता कभी नहीं व्यापी होगी कि का से लेकर देवघर तक की जनता उनकी चौपाइयों को कैसे समझेगी, जबकि क्षेत्र की भाषा अवधी नहीं है। सूरदास और मीरा के पद ब्रजप्रदेश तक सीमि नहीं रहे। विद्यापति के पदों का आनन्द लेनेवाले केवल मिथिला क्षेत्र के नहीं है, सारा हिन्दी भाषी क्षेत्र उनकी मधुरता का रसास्वदान करता रहा वस्तुत: मध्यदेश की भाषाओं में इतनी समानता है कि एक भाषा-भाषी को भाषाओं को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। इतना ही नहीं दूसरी भाषा सीखने में भी बहुत कम समय लगता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि इस समान को वैज्ञानिक तथ्य के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास भाषा वैज्ञानिकों ने किया है। अब तक के सारे वैज्ञानिकों ने— ग्रियर्सन से लेकर सुनीति कु चाटुर्ज्या तक ने—मध्यदेश की भाषाओं के भेद को ही अधिक महत्व दिया उनकी समानता को नहीं। हिन्दी क्षेत्र की भाषाओं की समानता सिद्ध करने दायित्व हिन्दी के भाषा वैज्ञानिकों का था, जिसे वे पूरा नहीं कर रहे हैं। हमें मालूम है, केवल उसे सिद्ध करना है ताकि फूट डालनेवालों को जवाब दि जा सके और मध्यदेश की जनता को विश्वास दिलाया जा सके कि हिन्दी वि भाषा नहीं है, वह उनकी अपनी ही भाषा है।

'हिन्दी' को अपने क्षेत्र की अन्य भाषाओं से 'भिन्न' और अलग कर सबसे अधिक हाथ हिन्दी के लेखकों और इतिहासकारों का है। इस बात में तुक है कि आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक के अन्तर्गत तो राजस्थानी, मैथि अवधी, ब्रजभाषा, सभी भाषाओं में लिखित साहित्य को स्थान दिया जाए- तक कि आधुनिक काल में भी भारतेन्दु, रत्नाकर और कविवर सत्यनारायण ब्रजभाषा की रचनाओं का विवेचन किया जाय— पर उसके बाद और उस भी रचित मैथिली आदि अन्य भाषाओं के कवियों और रचनाओं को एकदम दिया जाए। आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल के अन्तर्गत हिन्दी क्षेत्र प्राय: सभी भाषाओं के साहित्य को स्थान दिया जाता है तो आधुनिक काल में उन्हें तर्कत: स्थान मिलना चाहिए था। यहाँ तक कि मीर, वली जैसे कवियों भी, जिनकी रचनाएँ हिन्दी से अभिन्न हैं, हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन छोड़ दिया है। यह जरूरी है कि एक ऐसे 'हिन्दी साहित्य के वृहद् इति की योजना बनायी जाए जिसमें हिन्दी क्षेत्र की सभी भाषाओं में उपलब्ध सा का सर्वेक्षण और मूल्यांकन हो और 'हिन्दी साहित्य के मानक इतिहास' 'हिन्दी' के साथ-साथ इस क्षेत्र की सभी भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य का वि मूल्यांकन रहे। इससे हिन्दी क्षेत्र की भाषाओं को यह नहीं लगेगा कि वे हिन्दी भिन्न हैं, और उन्हें एक स्वतन्त्र मंच की आवश्यकता है।

'हिन्दी' को लोकजीवन से अलग करने का काम हिन्दी के आधुनिक लेख भी किया है। यह सुपरिचित तथ्य है कि हिन्दी के पंचानबे प्रतिशत लेखक नगरों रहते हैं। कहानियों और नाटकों में नागरिक और मध्यवर्गीय जीवन का होता है। उनका कथ्य, शिल्प और भाषा का स्वरूप हिन्दी क्षेत्र के भीतर रहने साधारण जनों के लिए प्राय: दुर्बोध होता है। वे सार्त्र, कामू और काफ्का का अनु करते हैं और महानगरीय जीवन की विसंगतियों का चित्रण करते हैं। अधि अधिक विषय मध्यवर्गीय जीवन तक सीमित रहता है। इस साहित्य को भोजपु मैथिली भाषी अपना साहित्य कैसे समझें? यह साहित्य उनकी समझ में

आता। 'हिन्दी' के लेखकों का सम्बन्ध अपने व्यापक क्षेत्र से कट गया है। वे शिकायत करते हैं कि उनकी पुस्तकें पढ़ी नहीं जातीं; स्कूलों और कॉलेजों के पाठ्यक्रम में नहीं लगतीं। पर हिन्दी पुस्तकें कौन पढ़े? जो पढ़ सकते थे, उनसे 'हिन्दी' दूर हटती जा रही है। तब वे भोजपुरी आदि अपनी भाषाओं में साहित्य रचना को प्रश्रय और प्रोत्साहन क्यों न दें? हिन्दी के लेखक अपने स्वनिर्मित हाथी दाँत की मीनार में अकड़ कर बैठे हैं। इसका परिणाम क्या होगा, अनुमान लगाया जा सकता है।

हिन्दी क्षेत्र के निवासियों के बीच यह भ्रम सामान्य रूप से व्याप्त है कि 'हिन्दी' का मतलब 'खड़ी बोली' है और 'हिन्दी साहित्य' का तात्पर्य है 'खड़ी बोली का साहित्य'। पर सच्चाई यह है कि 'हिन्दी' 'खड़ी बोली' से जन्मना सम्बद्ध होने पर भी आज उससे नितान्त भिन्न हो गयी है। अतः उसमें लिखित साहित्य को न भोजपुरी भाषियों को पराया समझना चाहिए, न मैथिलीभाषियों को; दूसरी तरफ हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों तथा अन्य लेखकों को कभी भी यह भ्रम नहीं पैदा होने देना चाहिए कि भोजपुरी, मैथिली, ब्रजभाषा और अवधी में लिखना हिन्दी में लिखना नहीं है। आज इस तथ्य को समझने-समझाने की जरूरत है कि जब तक हिन्दीभाषी क्षेत्र में यह भावना नहीं पैदा की जाती, तब तक विघटन को रोकना असम्भव है।

इस सम्बन्ध में एक यह सवाल पैदा हो सकता है कि अहिन्दीभाषियों के लिए कौन-सी हिन्दी मानक समझी जाएगी? निश्चय ही वह 'राजभाषा हिन्दी' होगी, जो अहिन्दीभाषियों के लिए ही नहीं समस्त हिन्दीभाषियों के लिए भी 'मानक भाषा' का काम देगी। उसी में ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें लिखी जाएँगी। वही शिक्षा, शासन, न्याय और परस्पर सम्पर्क स्थापना की भाषा होगी। अहिन्दी भाषी केवल इसी मानक हिन्दी का साहित्य पढ़ेंगे। (यों यह दूसरी बात है कि वे स्वेच्छा से हिन्दी के अन्य रूपों में लिखित साहित्य का भी अध्ययन करें।) हिन्दीभाषी इस मानक 'हिन्दी' के अतिरिक्त, चाहें तो, अपनी 'मातृभाषा' के साहित्य का अध्ययन कर सकते हैं। इस बात की उन्हें पूरी छूट होनी चाहिए। साहित्यिक कृतियों और लेखकों को पुरस्कृत करते समय सभी भाषाओं की कृतियों पर विचार होना चाहिए और सरकारी संस्थाओं द्वारा किसी भी हिन्दी क्षेत्र की भाषा में लिखित श्रेष्ठ ग्रन्थ को प्रकाशित करने की व्यवस्था होनी चाहिए।

'हिन्दी' ऐतिहासिक कारणों से व्यापक क्षेत्र की भाषा बन गयी है और समस्त बाधाओं के बावजूद उसके विस्तार में दिनोंदिन वृद्धि ही होती जाएगी। मैथिली, भोजपुरी आदि भाषाओं का क्षेत्र सीमित है। जो लेखक अपने को इन भाषाओं तक सीमित करेंगे, उन्हें वह यश और अर्थलाभ नहीं होगा जो 'हिन्दी' में लिखने से मिलेगा। नागार्जुन और रेणु मैथिली में लिखकर कभी उतना यश प्राप्त कर सकते थे जितना उन्होंने हिन्दी में लिखकर प्राप्त किया है? अपवादों की बात अलग है और अपवादों को इस बात को पूरी छूट है कि वे चाहें जिस भाषा में लिखें। यह बात इसलिए और भी महत्वपूर्ण हो जाती है कि हिन्दी क्षेत्र के किसी भी भाषाभाषी के लिए 'हिन्दी' भिन्न भाषा नहीं है। जो भिन्नता दिखाई पड़ती है, वह ऊपरी है, आसानी से पार करने योग्य है।

प्रसन्नता की बात है कि कम-से-कम भोजपुरी भाषाभाषियों का दृष्टिकोण यही है। भोजपुरी के एक उदीयमान लेखक डॉ० अनिल कुमार राय 'आंजनेय' हिन्दी को

‘अक्षयवट’ की संज्ञा देना पसन्द करते हैं, जिसकी बरोह के रूप में मैथि भोजपुरी, मगही आदि भाषाएँ हैं। ये बरोहें धरती में प्रवेश कर उससे रस और स्वयं भी पुष्ट हों तथा पूरे वृक्ष को पुष्ट बनाएँ, यही उचित है। जिस ये बरोहें अपने को मूल वृक्ष से काटकर अलग विकास करने की भूल करेंगी, दिन दुश्मनों की बन आएगी और पूरे वृक्ष का ही नहीं, इनका विकास भी जाएगा। सरकार को इस सम्बन्ध में बहुत ही सोच-विचार कर कोई निर्णय चाहिए। १९७०-७१ में राज्यपाल महोदय की सलाह पर बिहार सरकार ने हिं उर्दू और मैथिली भाषाओं के लेखकों की सहायता के लिए एक राशि की व्यवस्था थी। वह बिलकुल गलत निर्णय था। यदि हिन्दी के साथ मैथिली और उर्दू लेखकों को आर्थिक सहायता दी जाने की बात सोची जा रही है तो भोजपुरी मगही ने क्या अपराध किया है? इन भाषाओं में भी साहित्य लिखा जा रहा जो लेखकों की आर्थिक कठिनाई के कारण प्रकाशित नहीं हो पाता है। पुस्तकाल में भोजपुरी और मगही की किताबें नहीं खरीदी जातीं, इसलिए कि उन्हें मैथि और उर्दू की तरह सरकार से मान्यता प्राप्त नहीं हो पायी है। यह सौते व्यवहार विघटन की प्रवृति को बढ़ावा देनेवाला है, इसे अच्छी तरह से समझ ले चाहिए। यह प्रसन्नता की बात है कि अब बिहार सरकार ने मैथिली अकाद भोजपुरी अकादमी, मगही अकादमी, उर्दू अकादमी, आदि का गठन किया है कि इन्हें अनुदान की राशि देने में राजनीतिक दाव-पेंच के कारण भेद-भाव बर जाता है जो अनुचित है। भोजपुरी का साहित्य भी अब काफी समृद्ध हो चुका और इसका फैलाव बिहार, उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश तक है। कई अन्य देशों में भाषा बोली भी जाती है। बिहार लोक सेवा आयोग में मैथिली तो मान्य है कि भोजपुरी नहीं। इसका सीधा सम्बन्ध रोजी-रोटी से हैं और इससे नवयुवकों आक्रोश का होना स्वाभाविक है। सरकार को कोई भी कदम एक निश्चित मा दण्ड के अनुसार ही उठाना चाहिए अन्यथा विघटन का वर्त्तमान खतरा बढ़ ही जाएगा।

यदि तथाकथित ‘हिन्दी’ वाले, साहित्य अकादमी तथा केन्द्र एवं राज्य सरकारें समय रहते अपनी भूल पहचान लें और हिन्दी-क्षेत्र की भाषाओं की आ आकांक्षा तथा अस्मिता को कुचल डालने के संकल्प के बजाय उसे सही दिशा निकलने का मार्ग दे दें तो इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी क्षेत्र में भाषाओं के विघ का जो भयंकर सवाल पैदा होने जा रहा है, वह अपना उचित समा पाकर दब जाएगा। अन्यथा ईश्वर ही मालिक है।

□

संस्कृत तथा हरियाणी शब्दावली : तुलनात्मक अध्ययन

—डॉ० विष्णुदत्त भारद्वाज

बीसवीं सदी में अनेक भाषाविदों ने भारतीय भाषाओं तथा उनकी वोलियों के विभिन्न पक्षों पर शोध कार्य शुरू किया है, जिसके फलस्वरूप जनपदीय शब्दावली के क्षेत्र में 'बिहार पेजन्ट लाइफ' (ग्रियर्सन), 'ए डाइजेस्ट ऑफ रूरल एण्ड एग्रिकल्चरल टर्म्स' (विलियम क्रुक), 'कृषक जीवन सम्वन्धी ब्रज भाषा शब्दावली, (डॉ० अम्बा प्रसाद 'सुमन'), 'ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली' (डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त), 'सूर सागर शब्दावली—एक सांस्कृतिक अध्ययन' (डॉ० निर्मला सक्सेना), 'हरियाणा की सांस्कृतिक शब्दावली का अध्ययन' (डॉ० विष्णुदत्त भारद्वाज), इत्यादि शोध निवन्धों ने जनपदीय शब्दावली पर प्रचुर प्रकाश डाला है। इन ग्रन्थों को आधार मान कर भारत के जनपदों में शब्द संग्रह का कार्य शोध द्वारा निरन्तर प्रगति के पथ पर है।

डॉ० जगदीश प्रसाद गुप्त ने आगरा विश्वविद्यालय से हरियाणी शब्दावली का अध्ययन सामाजिक स्तर पर प्रस्तुत किया है। डॉ० प्रेमचन्द पतञ्जलि ने 'हरियाणा की कृषि शब्दावली' दिल्ली विश्वविद्यालय से प्रस्तुत की है। डॉ० सत्येन्द्र के पथ प्रदर्शन में 'राजस्थानी शब्दावली' का संग्रह कुछ शोधकर्त्ताओं ने किया है। डॉ० सुमन ने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा में अनेक शोध छात्रों को आर्येतर भाषाओं की शब्दावली के संग्रह के लिए प्रेरणा दी है। डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० उदय नारायण तिवारी; डॉ० भोला नाथ तिवारी, डॉ० रमानाथ सहाय, डॉ० हरदेव बाहरी, डॉ० विद्या निवास मिश्र, डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तथा डॉ० कैलाश चन्द्र भाटिया ने अपनी कृतियों द्वारा अनेक शोध छात्रों को जनपदीय शब्दावली के अध्ययन की ओर प्रेरित किया है। भाषा विज्ञान की पुस्तकों में प्रस्तुत शब्द चर्चा विशेष अध्ययन एवं शोध की अपेक्षा रखती है। पूर्व भाषाविदों का कार्य नींव है। इस पर भावी भाषाविदों को भव्य भवन का निर्माण करना है। इस संदर्भ में मैं अपना अल्प अध्ययन संस्कृत तथा हरियाणी शब्दावली के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्रस्तुत कर रहा हूँ। इससे पूर्व चर्चा है शब्द संग्रह विधि की।

जनपदीय शब्दावली का संग्रह टेढ़ी खीर है। एतदर्थ शोधार्थी को ठेठ ग्रामीण बनना पड़ता है। जनपद का आबाल वृद्ध प्रत्येक प्राणी जीवजन्तु, वनस्पति, सामाजिक जीवन शोधार्थी के लिए संदर्भ ग्रन्थ के खुले पन्ने हैं। इनका संसर्ग कुछ अनमोल मोती अनुसन्धित्सुओं को देगा। प्रत्येक व्यवसायी एक मौखिक कोश है। उसके शिष्यत्व में शोधार्थी अनेक जनपदीय शब्दों को लिपिबद्ध कर सकता है। इस शब्दार्जन के लिए जनजीवन का अध्ययन, पारस्परिक शब्द चर्चा आवश्यक है। कोरे पुराने कोशों का अध्ययन कर हम अनमोल रत्न नहीं पा सकते हैं। जनपदीय शब्दावली का ज्ञान यदि मस्तिष्क में प्रस्तुत है तो कोश-अध्ययन हमें संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा देशज शब्दों के जनपदीय पर्याय देने में सहयोग देगा। स्मरण रहे कि एक साधारण प्राणी को बोली के चार हजार शब्दों का ज्ञान होता है। इस शब्द ज्ञान को दस गुणा करने के लिए विभिन्न व्यवसायियों से सम्पर्क करना होगा। उनकी वाणी का श्रवण भी अनमोल शब्द-संग्रह में योग देगा।

इस प्रकार अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि कुछ संस्कृत शब्द तत्सम और तद्भव रूप में जनपदीय शब्दावली में मिलते हैं। अनेक संस्कृत शब्दों के स्थान पर सजीव तथा सुघड़ देशी शब्द आ गए हैं। इसके अतिरिक्त अनेक संस्कृत शब्द तद्भव रूप में तत्सम से अधिक सरस तथा श्रवण मधुर लगते हैं। बोलियों के अनेक शब्द ऐसे हैं जिनके पर्याय प्रामाणिक कोशों में भी नहीं मिलते हैं। अतः भारत की विभिन्न बोलियों की शब्दावली का संग्रह करना प्रथम कार्य है। अनेक प्राचीन परम्परा के शब्द जनपद की मौखिक परम्परा में विद्यमान हैं। यदि इनका संग्रह नहीं किया गया तो यह अमूल्य निधि विज्ञान के युग में शीघ्र लुप्त हो जायेगी। ग्रामीण शब्दावली की प्रामाणिक कोशों से तुलना कर शब्दों का इतिहासात्मक विकास प्रस्तुत किया जा सकता है। क्या संस्कृत शब्द तद्भव रूप में बोली में आया है या सस्कृत शब्दों के स्थानापन्न देशी शब्द हो गए हैं। अनेक शब्दों को भाषाविद् देशी मानते हैं। परन्तु शब्द के पर्याय को संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में देख कर यह निष्कर्ष निकलता है कि अनेक देशी शब्द आकृति में देशी प्रतीत होते हैं, परन्तु वस्तुतः वे ठेठ तद्भव हैं।

'देशी नाम माला' जनपदीय शब्द सम्पदा के लिए एक संदर्भ ग्रन्थ है। 'देशी नाम माला और हरियाणी शब्दावली तुलनात्मक अध्ययन' मेरा लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ८७ सं—२०३९ अंक १, २ में प्रकाशित हुआ। उक्त लेख से स्पष्ट है कि देशज शब्दों का विकास प्रत्येक बोली में हुआ है। केवल हरियाणी भाषा में ही 'देशी नाम माला' से शब्दों का विकास नहीं हुआ बल्कि गुजराती, राजस्थानी, पंजावी, सिन्धी, बंगला, भोजपुरी, उड़िया, असमिया तथा तमिल इत्यादि भाषाओं

में भी 'देशी नाम माला' के शब्दों के तद्भव रूप हैं। संस्कृत शब्द पालि-प्राकृत, अपभ्रंश तथा देशज पड़ावों को तय कर आकृति में इतने बदल गए हैं कि उसे भाषाविद् देशी कहने लग गए, वस्तुत: वे तद्भव हैं। संस्कृत शब्द के अनेक पर्याय भी अनेक रूपों में विकसित हुए हैं। अत: संस्कृत पर्याय कोश के ज्ञानाभाव में शब्द को देशी या तद्भव घोषित करना असम्भव है। बोली के शब्द प्रयोग में इतने सरस, सरल, प्रवाहमय एवं रोचक हैं कि वे तत्सम शब्दों को एक तरफ धर देते हैं। संस्कृत में भी अनेक शब्द हैं जो कालान्तर में लुप्त हो गए हैं। ऐसे शब्दों को जीवन्त करना भावी भाषाविदों का काम है। बोली में अनेक शब्द अरबी, फारसी, उर्दू परम्परा से भी तत्सम, तद्भव तथा देशज रूप में आ गए हैं। बोलियों में अनेक शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनके तद्भव रूप विश्व की भाषाओं में भी मिल सकते हैं।

अब आपके समक्ष संस्कृत एवं हरियाणी शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस अध्ययन से आपको अनेक हरियाणी शब्द संस्कृत के तद्भव रूप में मिलेंगे। कुछ संस्कृत शब्दों से हरियाणी शब्द अधिक प्रिय प्रतीत होते हैं। आशा है कि जनपदीय शब्दावली के संग्रह एवं तुलनात्मक अध्ययन से भारत वसुन्धरा के शब्द रत्न अपनी मोहक आभा से हमारी शब्द सम्पदा एवम् अभिव्यक्ति क्षमता को और प्रखरता एवं दीप्ति प्रदान करेंगे।

संस्कृत	—	हरियाणी
अंस	—	ख्वा (कन्धा)
अकस्मात्	—	चाणचक
अक्षार	—	खार (प्राकृतिक लवण)
अङ्कु	—	आंकड़ा (टेढ़ा-मेढ़ा)
अङ्गण	—	आगंणा (आँगन)
अङ्गार	—	अँगारा
अङ्गुष्ठ	—	गूंठा
अञ्जलि	—	आंदला
अट्ट	—	अटारी
अद्रि	—	दड़ी
अपवरक	—	ओबरा (भीतर का कमरा)
अर्गल	—	आगल
अलञ्जर	—	पंजाल
अलु	—	चलु (एक छोटा जलपात्र)।
असिर	—	संथीर (शहतीर)
अहीर	—	हीर
उपसर्या	—	बैहड़ी (गर्मायी हुई गाय)।
उपानह	—	पानहा (जूता)।

संस्कृत —	हरियाणी
उरण	—उरणिया (भेड़ा)।
उल्व	—ओवी (प्रथम सन्तान)।
उल्लल	—उल्ललना उल्लालू। } (डाँवा-डोल होना)
ऊष, ऊषर	—उस्सर (ऊसर, रेहचट)।
ऊहनी	—सोहणी, बुहारी (झाड़ू)।
कोटर	—खोड़, खोखर।
कोद्रव	—कोंदा, कोंदा।
क्षीरिका	—खीर, (दूध से बना भोज्य पदार्थ)।
क्षुर	—खुर [पशुओं (गाय-घोड़े के) खुर।]
क्षेप	—खेप
क्षौर	—खोर, हजामत
खण्ड	—खाण्ड (कटाव)
खण्डक	—खाण्ड (चीनी)
खर्पर	—खप्पर (खोपड़ी)
खल	—खला (खलिहान)
खलि	—खल (तेल की तलछट)
गञ्ज	—गंज (मंडी)
गड्	—गड्डी (खींचने का)
गडुक	—गड़ुआ (जलपात्र)
गण्ड	—गाँठ (फोड़ा)
गन्त्री (गड्)	—गाड्डी (गाड़ी)
गर्गर	—घरघर, गागर (घड़ा)
गुच्छ	—गुच्छा (समूह)
गुड	—गुड़
गुण	—गूणा (गवार की सूखी फली)। गौणी (रस्सी का बना थैला। गुण (रस्सी के बट)।
गुह्या	—ढ़ाणी, ढ़ाणा (नगर के निकट बसा हुआ गाँव)
गू	—गू (गूह, विष्ठा, मल)।
गेंडु	—गींड, गिंड्डी (गेंद)।
गोणी	—गूण (बोरा गधे की कमर पर लादने वाला)।
ग्रामटिका	—गामड़ा (छोटा गाँव)।
ग्रास	—गस्सा (कौर)।
घट्ट	—घाट (नदी के तट से पानी तक बनी सीढ़ियां)
धु	—धू (कबूतर की गुटरगूँ)
घुण	—घुण (घुन, लकड़ी में पाया जाने वाला विशेष प्रकार का कीड़ा)।

संस्कृत	हरियाणी
घुरी	—घुरी (सूअर का निवास स्थान, खोभार) ।
घोणा	—थुंथड़ी, थुंथड़ा (घोड़े या शूकर का नथुना, थूथन) ।
घोषणा	—गोहा (उच्च स्वर से बोलना) ।
चतुर	—चातर (चतुर, कुशल) ।
चत्वर	—चौंतरा (चबूतरा, भोजपुरी-चउतरा) ।
चपट	—चप्पड़ (चपेटा, झापड़, थापड़) ।
चाट	—चाट (लत, बुरी आदत) ।
चाटु	—चट्टु (चट्टू खुशामदी) ।
चिकिल	—चिकल (कीचड़, दाँतों से अधपीसना) ।
चिक्कण	—चीकणा (चिकना) ।
चिञ्चा	—चिआँ (चीआँ, इमली का फल, फहुआ) ।
चिति	—चट्टा, ढेर ।
चिपट	—चिपटा, चपटा ।
चीन	—चीण (कपड़ा) ।
चुल्लि	—चुल्ला (चूल्हा) ।
चैल	—चिलड़ा (कपड़ा) ।
चोक्ष	—चोक्खा (पवित्र, कुशल) ।
छत्वर	—छप्पर (पर्णशाला) ।
छदि	—छांत (छत) ।
छल्लि	—छाल (छाल, बोकला) ।
छागण	—छारा (सूखे कंडों की आग) ।
छिक्का	—छींक ।
छुरिका	—छुरि (छुरी, छूरी) ।
जनयित्री, जनित्री	—जणित्ता (माता) ।
जम्बु	—जाम्मण (जामुन) ।
जम्भका	—जहमाई (जमुहाई) ।
जरठ	—जरड़ (बूढ़ा) ।
जरायु	—जेर (भ्रूण की झिल्ली) ।
जलाका	—जौंक (जोंक) ।
जाल्म	—जालम (जालिम, क्रूर, निष्ठुर) ।
जीन	—जीन (चमड़े की काठी) ।
जीर्ण	—झीणा (झीना, पुराना) ।
झटिति	—झट (तुरन्त) ।
झरी	—झड़ी (निरन्तर वर्षा) ।
झर्झर	—झांझ (एक प्रकार का ढोल) ।
टङ्कक	—टका (सिक्का) ।
टङ्गा	—टाँग (पैर) ।
डम	—डूम (डोम, अस्पृश्य एक निम्नवर्गीय जाति) ।
डमरू	—डेरू (एक प्रकार का बाजा) ।
डाकिनी	—डाकण (भूतनी) ।

सस्कृत	हरियाणी
डिण्डिम	—ड्योंडी (छोटा ढोल)।
डुण्डुभ	—डुडु (डोंड़हा, दुमुहीं, निर्विष सर्प)।
ढाल	—ढाल (ढाल)।
ढोल	—ढाल (ढोल बाजा)।
तक्ष्	—ताछना (छोलना)।
तङ्ग्	—तंग (कष्ट, तंग)।
तति	—ताँता, ताँदा (पंक्ति)।
तत्त्व	—तंत, तत (सार)।
तदा	—तद (तब)।
तन्ति, तन्तु	—ताँत (डोर)।
तन्त्र	—ताना (धागा)।
तप्त	—ताता (गर्म, तात)।
तर्ष, तृषा	—तिस (प्यास)।
तल	—तला, तली (सतह)।
तल्लिका	—ताली (चाबी)।
तान	—ताणा (धागा)।
ताम्रिक	—तंबिया (ताँबे का बना हुआ)।
तालिक	—ताली (हथेली, ताली)।
तिक्त	—तित्ता (तीखा, तीत)।
तुन्द	—तोंद (पेट)।
तुष	—तुस (भूसी)।
तूलि	—तुलि (कूँचा)।
तेमन	—तीमण (रसदार सब्जी, मसालेदार सब्जो, तीवन)
तोल	—तोल, तोला, (१२ माशे की १ तोला)
दर्विका	—डोई (लकड़ी की कलछी)।
दुधा	—दुधारू, (दुधार गौ)।
दूष्य	—धुंसा (धूस, वस्त्र विशेष)।
देवर, देवृ	—द्योर (देवर)।
देहलि, देहली	—देहल (डेहरी, ड्योढी)।
दोग्धृ	—दोज्झा (दूध दूहने वाला)।
दोर	—डोर, डोरी (रस्सी)।
दोह, दोहनी	—दूणिया, दोहनी (दूध दूहने का पात्र)।
द्रम, द्रम्म	—दमड़ी (सोलह पण मूल्य की एक मुद्रा)।
द्रह	—डहर (दह, गहरी, झील)।
द्रुघण	—घण (घन, लोहे का हथौड़ा)।
धट	—धड़ा (धारा, तराजू का पलड़ा)।
धमि	—धौंकनी (धौंकनी)।
धाटी	—धाड़ (आक्रमण)।
धाना	—धाणी (भुने हुए जौ)।
धुरीण	—धौरी (बोझ ढोने वाला बैल।

संस्कृत	हरियाणी
धेनु, धेनुका	— धीणु (दुधार गाय)।
निकार	—निआर, न्यार (अनाज फटकना)।
निचुलक, निचोलक	—चोली (कंचुक, अँगिया)।
निदान	—निआणा, न्याणा (रस्सा)।
निवात	—निवाया (गर्म)।
निस्तार	—निस्तारा (मुक्ति)।
नूपुर	—नेवर, नेवरी (पाजेब)।
पंक्ति	—पंगत, पाँत (पंक्ति)।
पञ्जि, पञ्जी	— पूणी (पूनी रुई का गोला)।
पट्टिका	—पट्टी (तख्ती)।
पर्यङ्क	—पिलंग (पलंग)।
पर्यस्ति	—पलात्थि (वीरासन)।
पर्वक, पर्वन्	—पौरी (जोड़, गाँठ)।
पर्शुका	—पांसु (पसली)।
पालि	—पाल (किनारा)।
पिधान	—पिहाण (ढक्कन, ढकना)।
पुट, पुटक, पुटिका, पुटी	— पुड़ी, पुड़िया (पुड़िया, दोना)।
पूरिका	—पूरी (कलौड़ी)।
पुलाक	—पुलाव (पोलाव, उबला और घी में तला हुआ चावल)
पूल, पूलक	—पूला (पूला, तृण आदि का ढेर)।
पूलिका, पोलिका	—फलका (फुल्का, पतली रोटी)।
पोट्टलिका, पोट्टली	—पोटली (गठरी, पोटली)।
पोत	—पोत (वस्त्र)।
प्रणाली	— णाली (नाली, नहर)।
प्रतिपद्, प्रतिपदा	— पड़वा (पाख की प्रथम तिथि, परिवा)।
प्रतिसीरा	—पड़दा (परदा, चिक)
प्रपा	—पौ (प्याऊ)।
पुस्त	—पुस्ता, पुस्ती (पलस्तर, लीपना-पोतना)
प्रसार	—पसार (फैलाव)।
वभ्रु	—भूरा (भूरे रंग का)।
वम्भर	—वम्भीरी (भौरी, भौरा)।
वलीक	—वला (वल्ला, छप्पर की मुंड़ेर, लट्ठा)।
बलीवर्द	— बुलद (बैल, बरध)।
बुस, बुष	— भूसा (भूसी)।
भरथ	—भड़था (भरता, अग्निदग्ध)।
भरुटक	—भुरंड़ (भूना हुआ)।
भिष्	— भोंसना (भौंकना)।
भाटि	— भाड़ा (भाड़ा, मजदूरी)।
भ्राष्ट्र	— भट्ठी (दाना भूनने का पात्र, कड़ाही, चूल्हा)।
मट्टक	— मँड़ेर (छत की मुँड़ेर)।

संस्कृत	हरियाणी
मन्थान	—मन्थाणी (रई, मथानी का डंडा)।
मयट	—मैंडी (मड़ई, पर्णशाला)।
महल्लक	—महालं (निर्बल परन्तु हरियाणी में वली)।
मालिक	—माली (माली)।
मुर्मुर	—मुरमुरे (भूसी की आग में भुने हुए)।
मुस्त	—मोत्था (मोथा घास)।
मेथिका	—मेत्थी (मेथी)।
यजमान	—जुजमान (जजमान)।
यत्न	—जतन (यत्न)।
यत्र	—जैंठ्ठ (जहाँ)।
यदा	—जद (जव)।
यदि	—जे (अगर)।
यात्रा	—जात (जतरा, सफ़र)।
युक्ति	—जुगत (युक्ति)।
यूथ	—जत्था (जूथ, समूह)।
रज्जु	—लेजु (रस्सी)।
रशना, रसना	—रास (रास, लगाम)।
रश्मि	—रस्सी, (डोरी)।
राद्ध	—राँधा (सिद्ध, पका हुआ)।
रुक्ष	—रूक्खा, ल्हुक्खा (रूखा)।
रोम	—लोम (रोआँ, वाल)।
लगुड	—लाकड़ी (लाठी)।
लड्डु	—लाडू (लड्डू, मोदक)।
लवण	—लूण, नूण (नमक)।
लवन	—लावणी, लामणी (खेत की कटाई, लुनाई)।
लाव	—लावा (खेत की कटाई करने वाला)।
लिक्षा, लिक्षिका	—लीख, ल्हीख (जूँ के अँडे)।
लिप्सा	—लप्सा (इच्छा)।
लुण्ठाक, लुण्ठ	—लूण्ड (वदमाश, लूटनेवाला)।
लूता	—लूत (मकड़ी)।
वक्त्र	—वांका (मुख)।
वक्र	—वाँगा (टेढ़ा)।
वक्ष	—बाक्खी (छाती)।
वटक	—बाटी (भउरी, एक प्रकार की रोटी जो कंडे आग में डालकर पकाई जाती है)।
वट	—वट (रस्सी का घुमाव)।
वटक	—बाट (तोलने के बट्टे)।
वडा	—वड़ा (बड़ा, पकौड़ा, वटक)।
वड	—बड़ा (विशाल, दीर्घाकार)।
वण्ड	—बाण्डा (बाँड़ा, बाँड़, बिना पूँछ का बैल)।

वत्स	—बाछा (वछड़ा)।
वत्सिका	—बाछी, (वछिया)।
वष्कयणी, वष्कयिणी	—बाखड़ी (चिर प्रसूता गौ, बकेना गाय, बकेन)।
विपादिका	—बिवायी (पैर फटने का एक रोग, वेवाइ)।
वागा	—वाग (बागडोर, लगाम, रास)।
वाट	—वाड़ा (घेरा, हाता)।
वाटिका	—बाड़ी (फलोद्यान)।
वाटी	—बाड़ी (हाता, घेरा)।
वितस्ति	—वित्ता (१२ अंगुल की लम्बाई का नाप)।
वर्त	—बिरत (आजीविका)।
वर्ति	—बत्ती, वात्ती (कोई भी लिपटी हुई गोल वस्तु)।
वल्क, वल्कल	—बकल (वृक्ष की छाल)।
शंब	—श्याम, शाम (मूसल का अग्रभाग जिसमें लोहे का छल्ला लगा रहता है)।
शर्करा	—सक्कर (शक्कर)।
शल्क	—छिलका (छिलका)।
शल्य	—सेल (भाला)।
शिल	—सिल (बाल चुनना)।
शिवालु	—सिवाल (गीदड़)।
शृंगाटक	—सिंघाड़ा (सिंघाड़ा)।
शोथ	—सोआ, सोई (सूजन)।
सक्तु	—सत्तु (सत्तू)।
सण	—सण (सन)।
सण्डिश	—सँड़ासी (सँड़सी, चिमटा)।
समीद	—मैदा (मैदा)।
सरक	—सड़क (सड़क)।
सुरङ्ग	—सुरंग, सैंध (अन्तः कक्षमार्ग, सुरंग)।
सूत्र	—सूतली (सूतरी, सूत, धागा)।
हट्ट	—हाट (बाजार)।
हण्डिका, हण्डि	—हांडी (हाँड़ी)।
हलि	—हलाई (हल द्वारा कृष्ट भूमि)।
हलीष	—हलस (हल का दण्ड)।

अध्ययन के पश्चात् निम्न हरियाणी शब्द हमारे हाथ आए हैं :—

चाणचय दड़ी, विचौला कचान्ध, पंजाल, संज, लेवा, ऐण, टांकणा, ढ़ाणी, गमा, नाड़, थुंथड़ी, दाम्मण, चूणा, तिगना, गेड्डी, रेवड़, जिगड़ा, छास, ढाव, गीढ़, मोरा, चिमल, तिल, मस, ढ़मजर, राबड़ी, मोरणी, खोल, भरोटी इनके अतिरिक्त शेष उपर्युक्त शब्द तद्भव हैं।

आशा है कि जनपदीय शोधार्थी इस सारस्वत यज्ञ में हाथ बटाकर जनपदीय शब्द-सम्पदा की श्रीवृद्धि करेंगे।

* * *

वज्जिका के प्रगतिशील कवि और उनकी कविताएँ

— रमण शाण्डिल

९ मई १९७२ को 'अमरलत्ती' की भूमिका में मैंने लिखा था—"स्वातं त्तर काल से लेकर स्वतंत्रता के स्वर्ण जयन्ती वर्ष तक की जिन्दगी पर लिखी वज्जिका की आधुनिक भाव बोध और प्रगतिशील चेतनायुक्त रचनाएँ किस त संकेत कर रही हैं इसे जानने-समझने के लिए इस संग्रह का चिन्तन-मनन आवश् है।....

अमरलत्ती तो एक दहशत है जिसे हम सभी रोज की जिन्दगी में कदम-क पर फैलते देखते हैं। यह भी जानते हैं कि अमरलत्ती जिस पेड़ पर फैल रही है समाप्त करके रहेगी। फिर कौन सा भय है जो उसे जड़-मूल से समाप्त करने रोक रहा है!

आज असली समस्या है अमरलत्ती की समाप्ति। इसके रहते समाजवाद पौधा हरा कैसे रह सकता है। हम सभी के सिर पर अमरलत्ती फैल रही है, आ सब मिलकर इसे समाप्त करें। चैन की साँस तभी ले सकते हैं। बिना ताकत संगठन के यह जड़-उपाड़ अभियान कहाँ संभव है?"

'अमरलत्ती' की रचनाएँ पढ़ने के बाद हिन्दी के युवा मार्क्सवादी समी एवं 'उत्तरशती' के सम्पादक डॉ. खगेन्द्र ठाकुर ने २३-६-८१ को लिखा था--"लोक में लोक जीवन की धड़कनें, उसकी वस्तुगत आकांक्षाएँ एवं आवश्यकताएँ अ आत्मीयता एवं गहनता से अभिव्यक्त होती हैं; यह स्वाभाविक है इसलिए कि लो भाषा लोकजीवन के बीच होती है। अतः ऐसे संकलन का बहुत महत्त्व होता है चेतना के जनतांत्रिक विकास में। इन कविताओं में आज के लोकजीवन ही राष्ट्रीय जीवन के प्रति भी जागरूकता है। असलियत तो यह है कि लोकजीवन राष्ट्रीय जीवन में कोई फर्क नहीं होता। इन कविताओं में भी उस फर्क को मिट आज के यथार्थ को समग्रता में देखने की कोशिश की गयी है। आज की शोषणमू राजनीति ने जिस तरह जीवन को ग्रस लिया है, उसकी प्रतिच्छवि इन कविता अनेक जगह है और पूरी जीवन्तता के साथ है।"

शोषण विहीन समाज की स्थापना के लिए नवयुवकों का आह्वान करने वज्जिका के समर्थ प्रगतिशील कवि रामानन्द सिंह की चिन्ताधारा कुछ अधिक और शक्तिशालिनी दिखती है—

"ई गाँधी नेहरू पटेल के भूल सुधारे खातिर|
जनतंत्री घड़ियाल बाघ के दांत उखाड़े खातिर
कुबेरपंथी आतंकी लाठी से डरऽ न भागऽ
हम दे रहली ह अवाज नवतुरहा भइया जागऽ।

क्रांतिबीज तोहरे लोहू से सिंचित होके पनपत
पूँजीवादी के खिलाफ अब खउल रहल ह जनमत
अन्यायी रावण के लेल तू राम बनऽ धनुधारी
तोहर जिनगी के सीता अब सिसक रहल बेचारी।

जन समूह के सागर में उत्ताल लहर उमरइअ
अन्हर पानी के मौसम हय मेघ बड़ा घुमरइअ
आग लगा द लंका में उनचास पवन हय साथी....
घूस मुनाफा मँहगाई के चक्कर केतना भारी
कहाँ गेल कङरेसिया सब के वादा जनहितकारी
कहेला फांसी चढ़ले भगत सिंह कहेला मरल सुभाष
आजादी के जओरे जनता कयलक कि विश्वास
जे सुख चैन हेरयलक ओकरा कहऽ रे ससुरा ला दऽ
हम दे रहली ह अवाज नवतुरहा भइया जागऽ।

अंत में कवि रामानन्द ने देश की डूबती नौका को बचाने के लिए एकमात्र युवकों में ही अपनी आस्था व्यक्त की है। कवि देश की प्रगति और प्रगति की रफ्तार से संतुष्ट नहीं दिखता—

"भारत के अतमा गाँव में बइठल का रहल ह
नेता स एकरा विकास के लच्छन मान रहल ह
बहुत दलाली भेल देश के डूब रहल ह नइया
तोहरा बिना केऊ भइया एक्कर आज खेवइया
राजनीति न रणनीति में तन मन धन से लागऽ
हम दे रहली ह अवाज नवतुरहा भइया जागऽ।"

आजादी के बाद देश में आई विलासिता, चोरबाजारी, दलाली, भाई-भतीजावाद, घूस और अशिक्षा पर तेज प्रहार करने वाले कवि राम जीवन शर्मा 'जीवन' पनी रचना 'सुनले भइया, मोर कबीर' को लेकर सामने आते हैं—

गाँधीजी के राज भेल अब भाग गेल अङरेज
टाँग पसार के सुतइजा सब लोग बिछा के सेज ?
नाच सखि ताक धिनाधिन !
अब हमरा डर केकर भइया जब अप्पन सरकार
तकइत रहवऽ माल झटकबौ कतनो तूँ होसियार ।
कहाँ तू नालिश करब ?
बोगस राशन कार्ड बन्वओ लेव्ओ थान के थान
न् त् रसगुल्ला साँझ सबेरे कइसे होइ जलपान ?
तुहीं बतलावऽ भाई ?
चचा मजिस्टर, कका कलक्टर अइसन केक्कर भाग
सबसे ऊपर श्रीबाबू हथ, उँहऊ हम्मर लाग ।
न काहे लँगटे नाचू ?
बेवकूफ पबलिक हम पउली अकिल बुद्धि से हीन
दीले ओकरा एक रुपइया मिले अठन्नी तीन ।
कह रोजगार ई कइसन ?

एक दूसरी रचना में कवि भारतीय किसान की स्थिति इस प्रकार प्रक
करता है—

दस बिगहा के हम जोतनिया दीन गरीब किसान
जे कुछ भेल से खा पी गेली देली सूद लगान
हो राजा, कहाँ से दिउ हम धान !
न हमरा रोजगार हय दोसर न नोकरी दोकान
दस बिगहा पर बीस खवइया, कइसे बचाऊ प्राण····
तू हतऽ नेता, तू हतऽ मंत्री, तू पंडित विदमान
तू सब के सब हाल जनइछ कलजुग के भगवान !

आजादी के बाद इस देश की जनता एक बार फिर मालिक, पुलिस, महा
और पार्टियों के चंगुल में फँसकर रह गई—

मालिक, पुलिस, महाजन सब के हमहिं शिकार महान
कङरेसिया सब अलगे मँगइअ हरदम चंदा दान···
तू कहलऽ सब दुःख मेटा देब कर देब सब के समान
पाँच बरिस गेल, भेल न कुछुओ सब बात ओहे पुरान····
वैसहीं दरोगा कपार नोचइअ करईअऽ अपमान
वैसहीं सिपाही गारी बकइअ खाली करइअ जुबान !
हम्मर दुख जे तू न सुनबऽ दोसर के दी ध्यान
अप्पन मतलब ए बेर देखबऽ कइसे होइ कल्यान ?

इस देश को 'स्वराज' तो मिला पर 'सुराज' कहाँ अटका रह गया ? यह प्रश्न कवि महावीर प्रसाद शर्मा 'विप्लव' का है—

"पयलक देश स्वराज मगर हय अँटकल कहाँ सुराज ?
आज देश के जनता भुक्खल हय केतना मोहताज !
धन बटोर के मुट्ठी भर पूँजीवादी अगरायल
लेकिन जनता वनल दलिद्दर एक्कर तन मन घायल ।
धन कुबेर के बंद तिजोरी देश वनल भिखमंगा
बूँद-बूँद ला तरसे जनता आज कैद में गंगा ।
अजगर अइसन गेरुआयल वइठल जमीन पर कोई
विन जमीन के लोग कहे-कव भुइयाँ हम्मर होई ?
आज तगाजा रहे समय के करले लेना-देना ।
वरहल आ रहल देखऽ भइया भूमिहीन के सेना ।

आजादी के पच्चीस वर्षों बाद "रजत जयन्ती मनवइत आजादी से" शीर्षक कविता में डॉ० अवधेश्वर 'अरुण' ने उस गरीव नागरिक की व्यथा इन शव्दों में प्रकट की है---"हम गरीब दुखायल जनता, अपना जिनगी के चुप रोइले। फार करेजा मेहनत कके, भारत माँ के लोर पोछइले। प्रजातंत्र के सुक्खल नद्दी में, जिनगी के नाव खेंवइले। नेताजी के त्याग बिसर गेल, गाँधीजी के 'दरसन' सपना, अप्पन देश, आजादी अप्पन, छुट्टा साँढ़ फसल सब खाइअ।"

'जनसेवा ठट्ठा हय भारी' कहकर डॉ० अरुण ने नेताओं की ओर इशारा किया है वहीं चन्दन कृष्ण चन्द्र ने नेताओं को 'भाषण, भजन, भोजन के पुजेरी' की संज्ञा दी है।

चन्देश्वर राम 'चंदे' ने उस देश को अधिक नजदीक से देखा है जिसमें मैं, आप और दूसरे रह रहे हैं—

जिल्लत, नफरत, खून, घोर अन्हार, देश तोहर हय ।
लगातार मेहनत, मगर—अंतरी के मिलइअ कहिओ
कहियो सुक्खल रोटी, मतारी बहीन के भूखल
चेहरा अओर फाटल कपरा से झलकइत इज्जत ।
देश तोहर हय । भवीस के चिंता में बीतल समय
के इआद में, जरइत वर्तमान में – बिलबिलाइत
मासूम बच्चा के सूखल चेहरा, रोज-रोज
द्रौपदी-सीता के हरण, इज्जत के लूट । अगफुकी ।
गलइत लाश । संविधान हय । गहना पहिरले
सँवरल देश तोहर हय ।

वज़्जिका के हास्य कवि चौपटानन्द ने 'रजत-जयन्ती' शीर्षक अपनी रचना वास्तविकता की ओर ध्यान खींचा है—

"हमरा त इजोर कहँइ न सुझइअ,
सब चीज ब्लैके में मिलइअ
पचीस बरिस के सुराज में हमरा की मीलल ?
दाहर, सूखार, मंहगी, अकाल, मंहगी से कमर टूट गेल ह,
धीरज अब छूट गेल ह ।····जनता तबाह हय मंहगी गवाह हय····
लेकिन गिरह पार लू ई वात, जब लिखल जायत आज के इतिहास,
ओमे होयत अपने के भारी उपहास

वज्जिका के अधिकांश कवियों ने आजादी के बाद देश में उत्पन्न विकृति पर अपनी रचनाएँ लिखी हैं । (डॉ०) अजित नारायण सिंह 'तोमर' ने न्यायालयों कार्य करने वाले वकील-मुख्तार की स्थिति का इन शब्दों में चित्रण किया है—

"झूठो के ऊ साँचो के रे कह करेजा लेवे
नँगटा-वँगटा चोर-साध के वस समान ऊ सेवे
की सखि वेसबा ह्य ऊ कोनो आकि ह्य साइकील ?
न सखि 'तोमर' ओकरा बोले ह्य मोखतार ओकील ।"

स्वराज्य का सुख-भोग करने वाले मुट्ठी भर लोगों को 'उपदेस' शीर्षक रच में निर्मल मिलिन्द अपनत्व दिखलाते कहते हैं—"हो भइया । एक रुपइया में त अठन्नी अब न बनावऽ, अब त जनता के राज भेल । दुत मरदे, अभिओ न सिखलह हतिओ हम जात, रखलऽ तू बात, गेहूँ के गुम कर दऽ, चीनी चोरा रखऽ । तब सोराज के फल देखऽ, सुख देखऽ ।'

स्वभाषा के प्रति विरक्ति और विदेशी भाषा अंग्रेजी के प्रति आसक्ति व्यंग करते हैं एडवोकेट कवि योगेन्द्र राय—"माय हम्मर फूहर हय, भद्दा करिया हय कुचकुच ! पोछइअ नेटा लगे में, ओकरा हम माय न कहम । आव बनारस से पतुरिया, सुन्नर हय, चकमक हय, रूप ओकर चमचम हय, बोन्ईअ सन ! ओकरे के माय कहम; हिन्दी के छोर कऽ अंगरेजी पढ़म !'

वज्जिका का प्रगतिशील कवि अपनी इर्द-गिर्द घटनी घटनाओं से अपने बेखवर नहीं रह्न सकता । किसी बात की अनसुनी नहीं कर सकता; कोई भी घट क्रम उससे अनदेखा नहीं रह सकता । कवि कपिलदेव सिंह 'आखरी साँस' में लिखते हैं "रहता गुजरइत·······एकबैग आँख उहाँ पहुँचल जहाँ बिना कपरा के बच्चा अ अधनंगा जुवती अप्पन आखरी साँस छोड़इत रहे ।"

भूख और शोषण के विरुद्ध अपना आक्रोश प्रकट करने वाले कवि सभाजीत सिंह प्रगतिशीलता का दम भरने वाले नेताओं को शपथ दिलाते हैं—"किरिया हौ; भुक्खल के, लँगटे के, डाहल-जरायल के। अदमी के जरिए ही अदमी सतायल के। धुरक तनि देखऽ न, मुरक पहिचानऽ न अप्पन फरछाँही के।"

कवि शितिकण्ठ दुखी दिखते हैं—"जे जनता के उद्धारक हथ, हुनकर पेशा हय राजनीति, ई राम भरत अँगनाई में, अँगड़ाई लेइअ छुद्रनीति·······ई देश भूख के फंद पड़ल।"

'चुनाव दंगल' लिखकर उस अहसास को कुछ अधिक, तेज करने वाले कवि हरेकृष्ण चुनाव की राजनीति का नगाड़ा बजाते सामने आते हैं और अखाड़े में सबको धोबिया पाट मारकर अखाड़े से अलग कर देते हैं—

"फिर चुनाव के बजल नगाड़ा
टिकट वँटाय लगल देश में, नेता सब के सजल अखाड़ा,
पाँच साल में केतना गोनुआ, हो भेल गोवर्द्धन गिरधारी,
जेकरा टमटम मिलल न कहियो, से सब पयलक हावा गाड़ी।
बन के नेता खूब वनैलक; सात पुश्त के नाम कमैलक
तबही तऽ सब आज भिड़ रहल हय कसके अप्पन-अप्पन फाँड़ा।····
चोरी, घुसखोरी, बइमानी, मानव के युग धर्म बनल हुई
अपना-अपनी पेट भरेला सबसे सबके युद्ध ठनल हुई।
गौतम-गाँधी के भारत में, सत्य अहिंसा के भारत में
लूट-पाट आ खींचा तानी, गोली के चल रहल फुहारा।

गीतकार रामेश्वर प्रसाद ने अपने एक गीत में उस बदहाली और बदकिस्मती का चित्र खींचा है जो सम्पूर्ण वज्जिकांचल में व्याप्त है—

टाटी के दुहरी आ टूटल मरइया
चिथड़ी से झाँके निराशित समइया
अइसन जमाना जे अलुओ विलायल
लड़ीको के देख लोर आवे गुजरिया
काहे दिवाली जगावे !····
जाड़ा का पछेया के माने न घूड़ा
बन गेल इ जिनगी जवानी में कूड़ा
के समझी ए दुख के दिल्ली की पटना
जेकरा न सरदी सतावे गुजरिया !
काहे दिवाली जगावे ॥

ई महँगाई ! कठिन भेल जिनगी
ऊपर से पड़ गेल बेगारी के चिनगी
एगो कमासुत से फ़टलो दुलम भेल
के घर में डिबिया जलावे गुजरिया !
काहे दिवाली जगावे ।।

रमण शाण्डिल्य ने अपनी 'अमरलत्ती' शीर्षक रचना में भारत के सा दशक की जिन्दगी का जो चित्र खींचा है उसमें व्यंग कुछ तीखा उभरा है—

जरूरी हय देश के बारे में जननाई
मगर एतने काफी न हय —बरका-बरका सोंस,
मगरमच्छ, घड़ियाल, बरका-बरका अजगर से
परिचे जरूरी हय, दर्शन जरूरी हय, बातचीत जरूरी हय,
जरूरी हय—सिमाना पर दुश्मन अओर घर के भेदिया
के हाल जननाई । सेमार-अमरलत्ती के जर-उपार अभियान जरूरी हय ।
बहुत कुछ जरूरी हय अई देश में....
अई देश में शहरिया के लेल दू लाख रुपइया के
सम्पत्ति अओर देहाती के लेल दू जून रोटी मिलनाई
जरूरी हय । नेता के लेल महल अओर जनता के
लेल झोपड़ी जरूरी हय । मिनिस्टर के बच्चा
लेल कन्वेंट अओर जनता के बच्चा के लेल एल. पी.
स्कूल जरूरी हय । कपड़ा सूती साधारण जनता
लेल अओर हुनका ला बेशकीमती खद्दर जरूरी हय
जीए के लेल जरूरी हय—गिट्टी फोरनाई, रिक्सा चलनाई,
चिलमिलाईत रउद में हर जोतनाई
अओर ओन्ने जरूरी हय—गरमी के दिन में राजधानी बदलनाई,
बिजली पंखा अओर खस के टट्टी के अन्दर में बइठ के उफ ! कहनाई।
अई देश के भाग्य विधाता के लेल सब कुछ जरूरी हय
मगर साधारण नागरिक के जीए से पहिले मरनाई जरूरी हय ।
गणतंत्र के नाम पर लाल-फीताशाही जरूरी हय,
अओर समुच्चा देश के मरफिया के इंजेक्शन लगा के आपरेशन टेबुल
सुलादेनाई जरूरी हय,
जरूरी हय; अई देश के आपरेशन जरूरी हय ।
इन्दिराजी के सपना के साकार करनाई जरूरी हय ?
समाजवाद जरूरी हय ?

देश की विषमता, असंतुलन, गरीबी, वेरोजगारी, जातिवाद, भाई-भतीजावाद, भ्रष्टाचार एवं वज्जिकांचल की विशिष्टताओं पर खुलकर कलम चलाने वाले वज्जिका कवियों में राजेन्द्र प्र० सिंह, पद्मा रमण पाठक, रवीन्द्र नाथ ठाकुर 'रवि' अमित प्रणय, रामयाद वहादुरपुरी, अजित शुकदेव, राम शरण प्र० गुप्त, रघुनाथ प्र० सिंह, सत्यदेव ना० अष्ठाना, सुरेश चन्द्र 'सुमन', शिवदेव शर्मा पथिक, रघुनाथ विमल, नन्द किशोर गुप्त 'महुआवाल', चन्द्र शेखर विकल, चन्द्रशेखर श्रीवास्तव, धीरण श्रीवास्तव, सुश्री कुमुद, मुनीश्वर राय मुनीश, बिजली प्र० सिंह, चन्द्र किशोर भारद्वाज, रामकृष्ण पाण्डेय, रामाश्रय यादवेन्दु, हरेन्द्र सिंह विप्लव, नरेश कुमार 'नीरव', वैद्यनाथ शर्मा, उमाकांत वर्मा, विजय अमरेश, राजेन्द्र सरोज, योगेन्द्र रीगवाल दीनेन्दु भारती, योगेन्द्र प्र० सिंह, राम संजीव सिंह, जय कुमार सिंह 'व्यथित' निशान्त केतु, ब्रजनंदन वर्मा, सुरेश प्र० अचल, भानु प्रताप, राम किशोर भावनांशु, आनन्द मणि, राम किशोर सिंह 'किशोर', रामचन्द्र आशोपुरी, योगेन्द्र रसिक आदि कवियों की लम्बी परंपरा है।

हत्या, शोषण, वेईमानी, चोरबाजारी, वोट में बोगसबाजी आदि ने वज्जिकांचल को भी अपनी लपेट में ले रखा है। "हम्मर ई गाँव; हम्मर ई देश" शीर्षक अपनी रचना में १९७० में मैंने लिखा था —"टूटल कुछ रिस्ता अओर रीत-रेवाज, वंधन-विसवास, परम्परा वदलल ह, गाँव ई विकास के रास्ता पर वढ़ल ह या हटल ह पाछू ?.......लाखों बेर भोट ला सकइअ देश में कभू रामराज ? नयका परिभाषा में समाजवाद ? मंहगी हय, लेवी हय, घूस चोरबाजारी हय, गाँव से दिल्ली तक इहे हेरा फेरी हय। १५ अगस्त ४७ के बाद हम्मर ई गाँव; हम्मर ई देश; साजिश के अड्डा हय। अओर कसाईखाना हय जानवर के न आदमी के।

ऐसी रचनाएँ विभिन्न संकलनों, पत्र-पत्रिकाओं और कवियों के सौजन्य में पड़ी हैं। वज्जिकांचल वर्षों से उपेक्षित रहा है। इसकी उपेक्षा और प्रगति की मंथर गति ने कवियों को झकझोरा है। यही कारण है कि इन रचनाओं में व्यंग, आक्रोश और तेजस्विता की गंध कुछ अधिक है। इन रचनाओं पर प्रगतिशीलता की मुहर लगाने का अधिकार मुझे सहज ही मिल गया है। अंततः ये रचनाएँ वज्जिकांचल की धरती की पिछले कई दशकों की मूर्त्त तस्वीर उपस्थित कर रही हैं।

*

बिहारी बोलियों में अंगिका का स्थान

—डॉ० तेजनारायण कुशवाह
एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच० डी
साहित्य वाचस्पति (त्रय), साहित्यालंका
आयुर्वेदाचार्य, डिप्-इन-ए

बिहार में तीन भाषाकुलों की बोलियाँ बोली जाती हैं—एक भारोपी दूसरी द्रविड़ और तीसरी आस्ट्रिक या आग्नेय कुल की। भारोपीय आर्य भा उपकुल के प्राचीन, मध्य और आधुनिक इन तीन चरणों में से तीसरे चरण में हि आती है। द्रविड़ कुल की ओरांव तथा आस्ट्रिक की सन्थाली, मुण्डारी और यहाँ की मुख्य भाषाएँ हैं।

आरम्भ में यहाँ संस्कृत थी, जिसमें वेद लिखे गए। जब संस्कृत पढ़े-लि की भाषा बनी तब बोल-चाल में रही संस्कृत से ही विकसित प्राकृत। प्राकृत जब साहित्य की भाषा बनने लगी तब प्रत्येक जनपद की प्राकृत एक दूसरे भिन्न होती गई। वह वहाँ-वहाँ की अपभ्रंश कहलाई। अपभ्रंश का खूब प्रचा बढ़ा। उसी अपभ्रंश से हिन्दी निकली, मराठी निकली, गुजराती निकली, बंग आदि अन्य आधुनिक भाषाएँ भी निकलीं। हिन्दी देश की राष्ट्रभाषा बनी। आ वह विश्वभाषा के रूप में भी जानी जाती है। उसी हिन्दी के अन्तर्गत बिहार मैथिली, मगही, भोजपुरी, अंगिका, वज्जिका और नागपुरी जनपदीय भाषाएँ आ हैं। प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने वैदिक काल की बोलचाल भाषा की पूर्वी शाखा की पश्चिमी मगधी में मैथिली, मगही और भोजपुरी को र है। इधर बोलियों के आन्दोलन में प्राचीन ऐतिहासिक अंग और वज्जि राज्यों सम्वद्ध अंगिका और वज्जिका तथा उधर छोटानागपुर में नागपुरी भी उभ आई है।

हम डॉ० ग्रियर्सन को धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने ही बिहारी हिन्दी अंगिका को गौरव प्रदान किया है। ग्रियर्सन ने एक सौ साल पहले १८८३-८७ ई में बिहार की बोलियों की परख की तथा "सेवेन ग्रामर्स ऑफ दि डायलेक्ट्स ए सब-डायलेक्ट्स ऑफ दि बिहारी लैंगुएज" नामक ग्रन्थ आठ भागों में प्रकाशि किया। उसमें अंगिका नाम से तो नहीं, किन्तु मैथिली के भीतर मैथिली से भि (जिसे अंगिका कहिये) को भी स्वतन्त्र अस्तित्व मिला। वे विदेशी विद्वान् थे

लगता है उन्हें 'आंगी' से परिचय नहीं हुआ था। इसीलिए उन्होंने अंगिका की 'छै' 'छा' 'छिका' की प्रवृत्ति पर अंश क्षेत्र की इस बोली को 'छिकाछिकी' कह दिया। उन्होंने अपने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इन्डिया' भाग ५, पृष्ठ ९५ (१९०२) में 'छिकाछिकी' जोलने वालों की संख्या ९,००,००० (नौ लाख) से ऊपर दी है। वहाँ उन्होंने लिखा है :

> "The name chhikachhiki is that given to the dialect in Bhagalpur. In Munghyr it is simply called Maithili which is misleading. In the Santhal parganas, it appears to have been considered to be a kind of Maghi, but as will be subsquenetly shown, is incorrect. It is called 'Chhika-chhiki Boli' Owing to the frequence with which the word 'chhika' meaning 'he is' and its congeners is used."
>
> —Linguistic Survey of India
> Vol. 5, Part II, G. A. Grierson
> (Chhikachhiki Boli, Page 95)

डॉ० ग्रियर्सन द्वारा 'छिकाछिकी' बोली को दी गई मान्यता जे० वैरन आई० सी० एस० ने १९११ में तथा पी० सी० राय चौधरी ने १९६२ में बिहार गजेटियर भागलपुर में उसी रूप में स्वीकार की। लेकिन अंगिकावासी उनकी क्षेत्र सम्बन्धी मान्यता स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि अंगिका पूरे अंग महाक्षेत्र (अंगोत्तराय सहित) की अभिव्यक्ति का साधन रही है और आज भी है। अंगमहाक्षेत्र पुराना भागलपुर प्रमण्डल है।[1]

भाषा अथवा बोली के रूप में एक ही मगही नाम पुराना है। बाकी भोजपुरी मैथिली, अंगिका, बज्जिका और नागपुरी नाम नये हैं। मगही मागधी का विकसित रूप है। मैथिली नाम कालब्रुक ने रखा है। भोजपुरी नाम ग्रियर्सन ने दिया है। भोजपुरी को एक अन्य नाम काशिका राहुल बाबा ने दिया था। काशिका नाम चला नहीं। अंगिका और वज्जिका नाम राहुल बाबा के दिये हुए हैं। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में भारतीय भाषा की सात शाखाओं का उल्लेख हुआ है। उनमें एक 'प्राच्या' है। जयादित्य और भट्टोज दीक्षित ने 'प्राच्या' की व्याख्या में आंगी भाषा

---

1. (क) अंगिका भाषा और साहित्य : डॉ० माहेश्वरी सिंह 'महेश' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।
   (ख) अंग-दर्शन : डॉ० तेजनारायण कुशवाहा, शेखर प्रकाशन, पटना
   (ग) अंगिका इतिहास और भूगोल के पृष्ठों पर : ओमा प्रियंवदा, सुन्दरवती महिला महाविद्यालय, भागलपुर पत्रिका, 1978

की चर्चा की है। राहुल बाबा ने उसी आंगी को अंगिका कहा है। नागपु भोजपुरी के एक उपभेद से ली गई है, जो क्षेत्र विशेष की सूचक है। हीनता मि के लिए भोजपुरिया को भोजपुरी और नागपुरिया को नागपुरी कहते हैं।

मोटामोटी भोजपुरी प्राचीन जनपद काशी की, मगही मगध की, मैथि विदेह की, अंगिका अंग की और वज्जिका वज्जि (वैशाली) की भाषा है। नागपु मुख्य रूप से छोटानागपुर और उसके पड़ोस दक्षिण और पश्चिम में बोली जाती है

ये सभी बिहारी बोलियाँ भाषा वैज्ञानिक तत्त्वों के आधार पर अप स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं किन्तु इनकी साम्प्रतिक स्थिति भाषा की नहीं, बो की ही है।

इन सभी बोलियों में आन्तरिक सम्बन्ध है। सभी के सर्वनाम, विशेष क्रिया, क्रियाविशेषण अथा कुछ हद तक संज्ञा समान ही हैं। इसका एक कारण है कि ये सभी निकली हैं एक ही मागधी-प्राकृत से—मागधी अपभ्रंश से। दूसर कारण है, एक प्रान्त होने से एक बोली बोलने वाले दूसरी बोली बोलने वालों मिलते-जुलते रहते हैं। फिर विवाह-शादी, पर-परोजन, मेला-ठेला, उत्सव-त्योहा नौकरी भी इसके कारण माने जा सकते हैं।

भाषा शब्द से बनती है। जो ध्वनि कान से सुनने में आती है, वह श कहलाती है। आदमी की ध्वनि हो, पशु-पक्षी की ध्वनि हो, मेघ, हवा, पानी ध्वनि हो—शब्द कहलाती है। सभी शब्दों के अर्थ समझ में नहीं आते। जैसे कि वस्तु के टकराने से जब ध्वनि निकलती है, वहाँ इतना भर हम समझ पाते हैं 'फलना' चीज टकराई। चिड़िया-चिरगुन या जानवरों की बोली सुनकर भी इतन ही ज्ञात होता है कि फलना चिड़िया है या फलना पशु है। लेकिन ऐसी ध्वनि भी क्रिया-कोष में और कृदन्त-शब्द-समूहमें मान ली जाती हैं। जैसे अंगिका झनझनैबो, गड़गड़ैबो, सनसनैबो, चिचियैबो, टरटरैबो, डकारबो, किकियैबो, कां कांव करबो, घुटुरबो आदि। दूसरे ढंग के शब्द मनुष्य के मुँह से निकली ध्वनि हैं, जिनके अर्थ की पहिचान होती है। शब्द-भंडार में अंगिका किसी से पीछे न हैं। भाषा-अध्ययन से पता चलता है कि प्रातिपदिक, जो अंगिका में प्रचलित है वे बिहार की आदि भाषा छोड़कर अन्य सभी भाषाओं में किसी-न-किसी रूप उपलब्ध हैं। वहाँ केवल शब्दों में उच्चारण-भेद मिलता है। लगभग मूल धातु ए ही हैं। लेकिन रचना में धातु की स्वर-भंगिमाएँ भिन्न-भिन्न मिलती हैं। इस कोई सन्देह नहीं कि रचना में धातु की स्वर-भंगिमाओं के चलते बिहारी भाषा भिन्न-भिन्न रूप और नाम से जानी जाती हैं।

बीसवीं शताब्दी ईस्वी के चौथे-पाँचवें दशक में बोलियों का आन्दोलन आरम्भ हुआ। मैथिली आगे रही। भोजपुरी धीरे-धीरे उसके पीछे। फिर मगही उसके पीछे लगी इन्हीं। तीनों के जूड़े में सिमटी अंगिका वज्जिका और नागपुरी खिसकी। लोगों ने अपनी बोली की पहिचान की और स्वतन्त्र रूप में मान-सम्मान देने में लग गए। अब ऐसा लगता है कि विहार की जनपदीय भाषाओं का साहित्य व्रजभाषा और अवधी से कम नहीं रहेगा।

द्रविड़ कुल की एक भाषा 'ओराँव' बिहार में बोली जाती है। यह आदिवासी के एक वर्ग धांगड़ (कहीं-कहीं किण्डो) की भाषा है। ओराँव सन्थाल परगना, छोटानागपुर और छिटपुट रूप से भागलपुर प्रमण्डल में बोली जाती है।

आस्ट्रिक या आग्नेय कुल के एक वर्ग कोल या मुण्डा की सन्थाली, मुण्डारी और 'हो' भी बिहार की भाषाओं में अपना स्थान रखती है। संथाली संथालपरगना, छोटानागपुर और कटिहार-पूर्णियाँ के कुछ भागों में मिलती है। हो सिंहभूमि में और मुण्डारी राँची के आस-पास बोली जाती है। संथाल परगना में जहाँ-तहाँ पहाड़िया भी मिलती है।

ओरांव, सन्थाली, मुण्डारी और हो बिहारी हिन्दी से घिरी हुई है। इसलिए इन सभी ने एक ओर अंगिका आदि को कुछ प्रातिपदिकों से और कुछ क्रियापदों से प्रभावित किया है तो दूसरी ओर दिकु (आदिवासी इतर) भाषाओं ने उनको (ओरांवी आदि को) प्रभावित किया है। आदिवासी और गैरआदिवासी सभी समान रूप से नागपुरी का प्रयोग करते हैं। संथाल परगना के सन्थाली और उराँवी में अंगिका के शब्दों की भरमार है। सौंतार खूब बढ़ियां अंगिका बोलते हैं। उनलोगों के गीत-मंगल में जहाँ अंगिका की धुन सुनने में आती है, वहाँ अंगिका में भी आदिवासी भाषाओं की धुनें मिलती हैं। जैसे—

'कोड़ा कोड़ी माटी कोड़नी टोपा ढोवै रे चतुरे सयाने।'

इसी प्रकार वहाँ भी अंगिका का मान-आदर है।

अब थोड़ी-सी चर्चा बंगला, मारवाड़ी, पंजाबी और उर्दू की। अन्तरप्रान्तीय सबन्ध से और रोजी-रोजगार के लिए विहार में आई और बस गई जातियाँ भी बिहारी हिन्दी अच्छी बोलती हैं। पंजाबी तो उतना नहीं, किन्तु बंगाली और मारवाड़ियों ने केवल रहन-सहन, खान-पान के क्षेत्र में एकात्मता का परिचय दिया है अपितु उन्होंने समभाव से बिहारी बोलियों को भी अपना लिया है। भागलपुर और कहलगाँव के बहुत-से बंगाली परिवार खाँटी अंगिका भाषी हो गए हैं—

> 'Chhika-chhik Boli' is the popular local dialect and has a large mixture of Hindi. The Bengali inhabitants of the district, who have been here for generations use this dialect in their houses and this dialect is well understood by Hindispeaking people.
>
> —Bhagalpur District Gazetteer, page 8 5,

बिहार में सभी जगह मुसलमान बसे हैं। जो जिस क्षेत्र में हैं, वह वहां की बोली बोलते हैं। अंगिका क्षेत्र के मुसलमान अंगिका, भोजपुरी क्षेत्र के भोजपु मगही क्षेत्र के मगही, मैथिली क्षेत्र के मैथिली अच्छी तरह बोलते हैं। ये वहाँ उन मातृबोलियाँ है। उदाहरण के लिए मुहर्रम गीत की एक कड़ी प्रस्तुत है—

सासू पेन्हतै सुग्गा सड़िया गोतनी पेन्हतै कंगनवा रे हाय
अल्ला हाय रे हाय हमू पेन्हवै सीती के सेनुरवा रे हाय।
फाटी जैवै सुग्गासड़िया टूटी जैतै कंगनवाँ रे हाय
अल्ला हाय रे हाय रही जैते सीती के सेनुरवा रे हाय॥

बिहार की सभी बोलियों ने दूसरी-दूसरी भाषाओं के बहुत सारे शब्दों क पचा लिया है। जैसे अरबी के शब्द गरीब, आदत, मालूम, हाल, किताब आ अंग्रेजी के रेल, मास्टर, कोटा, लालटेन, इंच, बिल, डेली, पेंसिल, बिल आदि वैसे परकीय शब्दों के तद्भव रूप भी चल पड़े हैं। जैसे—स्टेशन का टीसन, कोच मैन का कोचवान, सिगनल का सिंगल, स्लेट का सिलेट, प्लैटफॉर्म का लाटफार आदि। अंगिका ने भी ऐसे सारे शब्दों को आत्मसात कर लिया है।

लोग अपनी मनचाही वस्तुओं की तरह भाषा को सुन्दर बनाना चाहते हैं भाषा को सुन्दर बनाता है व्याकरण। व्याकरण भूल में सुधार के लिए होता है भाषा के नियमों को खोजबीन कर उसे स्थिर और क्रमबद्ध करता है। मैथिली, मगही भोजपुरी की तरह अंगिका ने भी अपना व्याकरण रचा है।

साहित्य से भी भाषा सुन्दर होती है। वैसे तो मैथिली, मगही अपनी साहित्य लेखन-परम्परा को बहुत पीछे से जोड़ती है, किन्तु सही रूप में बिहारी बोली (दिकु हो अथवा गैरदिकु) आधुनिक साहित्य-रचना तीन दशक पहले आरम्भ हुई। आज कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक-एकांकी, संस्मरण, जीवनी, समीक्षा कोष सभी विधाओं में ढेर-सा सहित्य प्रकाश में आया है और आ रहा है।

अंगिका साहित्य का इतिहास, अंगदर्शन, हर आरो गाड़ी, सवर्णा, पंसोखा कच, लपकी, नया सूरज नया चान, किसान के जगाबों, फूल फुलैले, विशाखा भोरको लाली, अंगिका के महायात्रा गीत, अंगलता, माटी के चेत, अंगश्री, सती परीक्षा, छाहुर, पछिया बछार, अंगिका व्याकरण, कथा कुसुम, सती बहुला, पंचरं चोल, रौदा के दूब, किसान देश के शान, महर्षि मेंही से मिलों, 'करिया झुमर खे छी आदि अंगिका की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

अंगिका के शब्द-भंडार, क्रियापद और रचना-माधुरी को अंगिकेतर बिहारी भाषा-भाषियों ने सम्मान दिया है।

इसके रचनाकार गदाधर प्रसाद अम्बष्ठ, डॉ० माहेश्वरी सिंह 'महेश' डॉ० परमानन्द पांडेय, नरेश पांडेय चकोर, डॉ० तेजनारायण कुशवाहा, डॉ० अभयकान्त चौधरी, अनूपलाल मण्डल, सुरेश मंडल कुसुम, उचितलाल सिंह, सुमन

सूरी, सदानन्द मिश्र, उमेशजी, अनिलचन्द्र ठाकुर, सुधाकर, महेन्द्र प्रसाद जयसवाल, गोपाल कृष्ण प्रज्ञ, अनिरूद्ध प्रभास रंजन सूरिदेव, मधुकर, कुमार विमल, परमानन्द प्रेमी, अमरेन्द्र, रामावतार राही, सच्चिदानन्द स्नेही, आमोद कुमार मिश्र, विपिन कुमार मिश्र, अनिल शंकर झा, रामशर्मा 'अनल', दामोदर शास्त्री, मीरा झा, गुरश मोहन घोष सरल, जगदीश पाठक मधुकर, विशाल, सुभाषचन्द्र भ्रमर, एकलव्य, उदयकान्त ठाकुर बिहारी, रतैठिया, डॉ० गायत्री देवी, डॉ० निर्मल कुमार सिंह: देशभक्त को वही मान-सम्मान मिला है जो मान-सम्मान मैथिली के यात्री (नागार्जुन), राजकमल, विल्लट पासवान विहंगम, मौन, आरसी प्रसाद सिंह, हरिमोहन झा, वैद्यनाथ मिश्र, सुभद्र झा, जयकान्त मिश्र, सुरेन्द्र झा सुमन, सोमनाथ, प्रदीप, किरण, अणिमा सिंह, जीवकान्त, डॉ० वेचन, रूपकान्त को; मगही के श्रीकान्त शास्त्री, रामप्रसाद पुण्डरीक, योगेश्वर प्रसाद योगेश, सुरेश दुबे 'सरस', वावूलाल मधुकर, रास विहारी पांडेय, डॉ० सम्पति आर्याणी, डॉ० सरयू प्रसाद, राम सिंहासन विद्यार्थी, तारकेश्वर भारती, रामनन्दन, राधाकृष्ण, रामनरेश पाठक; राजकुमार, रामनगीना सिंह मगहिया, जयराम सिंह, डॉ० सुरेश विमल को; भोजपुरी के डॉ० विवेकी राय, कुलदीप नारायण राय झड़प, अविनाशचन्द्र विद्यार्थी, डॉ० अनिलकुमार आंजनेय, पाण्डेय कपिल, प्रो० ब्रजकिशोर, प्राध्यापक अचल, चन्द्रशेखर मिश्र, स्वर्णकिरण, डॉ० बच्चन पाठक सलिल, रामेश्वर सिंह काश्यप, रासविहारी ओझा निर्भीक, विधुर, रामबचन द्विवेदी, रामविचार पांडेय, रामनाथ पाठक प्रणयी, महेन्द्र शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, गणेशदत्त किरण, मोती बी०ए० को; वज्जिका के डॉ० श्री रंगशाही, डॉ० अवधेश्वर अरुण, डॉ० अजितनारायण सिंह तोमर, निर्मल मिलिन्द, रमणशाण्डिल्य, रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'रवि' को; नागपुरी के प्रफुल्ल कुमार राय, योगेन्द्रनाथ तिवारी, शारदा प्रसाद शर्मा, सुशील कुमार, डॉ० श्रवण कुमार गोस्वामी, नईमुद्दीन मिरदाह, डॉ० विश्वेश्वरनाथ केसरी, दुर्गानाथ राय को; संथाली के डोमन साहू समीर, बाबूलाल मुर्मू आदिवासी, बालकिशोर कासकी, आदित्य मित्र सन्थाली, नारायण सोरेन, शारदा किस्कू, भागवत मुर्मू, लक्ष्मीनारायण मुर्मू को प्राप्त है ।

अंगिका-साहिय में आंगिक संस्कृति की ऋतु अभिव्यक्ति हुई है । इसने क्षेत्र का भूगोल, इतिहास, राजनीति, समाज, दर्शन; गीत-संगीत, भाषा समझने का अवसर दिया है । बिहार की सभी बोलियों से अंगिका का मधुर सम्बन्ध है । अंगिका ने सबका प्रेम लिया है । अंगिका ने सबको प्रेम दिया है । हिन्दी को सजाने-संवारने में भी अंगिका की महत्ता है । अन्य जनपदीय भाषाओं की तरह अंगिका की भी श्री वृद्धि राष्ट्रभाषा हिन्दी की समृद्धि की सूचक है, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

जनपदीय भाषा ‘अंगिका’ का लोक-साहित्य

— नरेश पाण्डेय ‘चकोर

अंगिका प्राचीन अंग जनपद एवं वर्त्तमान भागलपुर एवं कोशी प्रमण्डल भाषा है जो लगभग दो करोड़ जनता द्वारा वोली जाती है। अंगिका का प्रा साहित्य बहुत कम पाया जाता है, किन्तु अभी भी अंगिका साहित्य लोक कंठों विराजमान है। आधुनिक समय में साहित्य की हर विधा में अंगिका में काम रहा है। फलतः अंगिका में कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक आदि लिखे जा हैं और पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो रहे हैं। अंगिका में कई पत्र-पत्रिकाएं विभिन्न संगठनों से प्रकाशित हो रही हैं।

अन्य जनपदीय भाषाओं की तरह अंगिका का लोक साहित्य भी काफी है। अधिकांश अंगिका लोकसाहित्य अभी लोक-कंठ में ही विराजमान है। लो कंठ से निःसृत यह साहित्य सुनने में मधुर, मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक है। त्योहार में, मुंडन, यज्ञोपवीत, शादी, द्विरागमन आदि सगुन में अनेकानेक गीत गा जाते हैं। इन गीतों, गाथाओं, कथा-कहानियों, फैकड़े, मुहावरों, लोकोक्तियों, कहाव आदि का संग्रह कर अगर प्रकाशित किया जाय तो अंगिका साहित्य की का अभिवृद्धि होगी और इससे निस्सन्देह हिन्दी का भी उपकार होगा। इससे अन्य ज पदीय भाषाओं के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन को भी बल मिलेगा।

अंगिका लोक साहित्य में न केवल मनोरंजन ही है बल्कि इसमें बहुत ज्ञान की बातें भरी पड़ी हुई हैं। इसमें हमारी सभ्यता एवं संस्कृति की पूरी झां मिलती है। अंगिका की लोकोक्तियों को कई विद्वानों ने लोकवेद कहा है।

हर भाषा में लोक साहित्य का अपना अलग अस्तित्व है, फलतः अपना अ महत्त्व भी। लोक साहित्य का सम्बन्ध लोक-जीवन से है। यही कारण है कि ह जगह लोक साहित्य सुरक्षित है—लिखित रूप में कम किन्तु लोक कंठ में अधि जीवन के हर क्षेत्र को लोक साहित्य छूता है। फलतः लोक साहित्य में एक अद आकर्षण है, मनोरम मोहकता है। लोक साहित्य हृदयग्राही एवं प्रभावोत्पा होता है।

देश में ही नहीं विदेशों में भी लोक साहित्य का आदर होता है। आधुनि समय में विदेशों में भी लोक साहित्य पर काम हो रहा है। प्रारम्भ में विदेशियों हो भारतीय लोक साहित्य के अध्ययन एवं संग्रह का कार्य शुरू किया। जर्म फ्रांस, इंगलैंड, रूस, डेनमार्क आदि देशों में लोक साहित्य पर अच्छा काम हुआ अमेरिका भी इस काम में पीछे नहीं रहा। अमेरिका की एसियन फोकलोर सोसा ने लोक साहित्य पर अच्छा काम किया है।

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी में लोक साहित्य के संकलन के कार्य पर ध्य गया। चार्ल्स ई० गोह्वर नामक एक अंग्रेज विद्वान् ने १८७१ ई० में ‘फोक सों आफ सदर्न इंडिया’ का प्रकाशन मद्रास से किया। लोक साहित्य संग्रह में ज

अब्राहम ग्रियर्सन का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने भारतीय जनपदीय साहित्य पर अच्छा काम किया है। इनके प्रकाशित निबंधों में निम्नलिखित मुख्य हैं—

१. "दि सौंग आफ मानिकचंद" १८७८ ई०
२. "टू वर्सन्स आफ दि सौंग आफ गोपीचंद" १८८५ ई०
३. "सम बिहारी फोक १० सौंग्स" १८८४ ई०।
४. "सम भोजपुरी सौंग्स" १८८६ ई०

अब भारतीय विद्वानों ने भी लोक साहित्य पर काफी कार्य शुरू कर दिया है। अंगिका में भी लोक साहित्य पर कई विद्वान् कार्य कर रहे हैं। १९७७ ई० में शेखर प्रकाशन, पटना से प्रकाशित "अंगिका साहित्य का इतिहास" नामक पुस्तक में अनेक लोक साहित्य संबंधी सामग्रियों की चर्चा हुई है।

अंगिका लोक साहित्य में सबसे महत्वपूर्ण "सती बिहुला" है। अंग जनपद में सती बिहुला का बहुत अधिक महत्त्व है। अंग जनपद के अनेक स्थानों में बिहुला पूजा धूम-धाम से मनाई जाती है। भारत में नाग-पूजा प्राचीन काल से चली आ रही है। नाग-पूजा के विशेष प्रचार के कारण इस पर धीरे-धीरे साहित्य का निर्माण होना आरम्भ हुआ। १७वीं शताब्दी में रचित "सती बिहुला" नामक अंगिका गाथा काव्य आज भी उपलब्ध है! यद्यपि साहित्यिक दृष्टिकोण से इसका प्रकाशन ठीक ढंग से नहीं हुआ है, फिर भी अंगिका के इस पुराने लोकगाथा काव्य का बड़ा ही महत्त्व है। आज गाँव-गाँव में इस लोकगाथा काव्य का गायन विशुद्ध अंगिका में बिहुला-विषहरी के पूजन के अवसर पर प्रति वर्ष होता है और श्रोता भक्तिभाव से झूम उठते हैं। इस काव्य में चाँद सौदागर, उसके पुत्र बाला लखीन्दर और पुत्रवधू बिहुला का वर्णन बहुत सुन्दर हुआ है। उसमें बिहुला के पातिव्रत्य धर्म पर अच्छा प्रकाश पड़ा है और पतिव्रता बिहुला से नारी जाति की महिमा बढ़ती है।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना द्वारा १९६९ ई० में प्रकाशित "अंगिका संस्कार गीत' नामक ग्रंथ में अंगिका के अनेक पुराने गीतों का सुन्दर संग्रह हुआ है। इसमें अनेकानेक लोकगीतों का समावेश हुआ है। मुंडन, जनेऊ, विवाह, द्विरागमन आदि के गीतों के अलावा सैकड़ों सोहर गीत का संग्रह कर विद्वतापूर्ण सम्पादन कर इसका प्रकाशन किया गया है जो कई दृष्टियों से काफी महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत निबंध के लेखक द्वारा 'अंगिका के फेकड़े एवं लोरियाँ' नामक पुस्तक का सम्पादन किया गया है जिसका प्रकाशन १९६९ ई० में शेखर प्रकाशन, पटना द्वारा किया गया है। इनमें अंग जनपद में प्रचलित परम्परागत फैकड़े एवं लोरियों का अच्छा संग्रह हुआ है। राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह, श्री हंस कुमार तिवारी, डा० लक्ष्मी नारायण सुधांशु, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० माहेश्वरी सिंह महेश, श्री गदाधर प्रसाद अम्बष्ठ, डा० तेजनारायण कुशवाहा आदि ने इस कार्य की काफी

सराहना की है और कई विद्वानों का विचार है कि सभी जनपदीय भाषाओं में इ प्रकार की पुस्तक का प्रकाशन होना चाहिये ।

१९७२ ई० में प्रस्तुत निबंध के लेखक द्वारा 'अंगिका जतसार' नामक पुस्त का प्रकाशन हुआ है । शेखर प्रकाशन द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में अंग जनपद मे गाये जाने वाले कतिपय 'जतसार' गीतों का संग्रह हुआ है । चक्की पीसते समय गाँ की औरतें जो गीत गाती हैं, वही जतसार के नाम से जाना जाता है । ये गीत ब ही भावपूर्ण और आकर्षक होते हैं । किसी किसी गीत में हृदय की वेदना इत कारूणिक होती है कि श्रोता की आँखों से हठात् अश्रुपात होने लगता है ।

अंगिका की कुछ परम्परागत लोकोक्तियाँ भी बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं । डा० अभ कांत चौधरी द्वारा सम्पादित 'अंगिका लोकोक्ति' नामक पुस्तक का प्रकाशन शेख प्रकाशन द्वारा १९७३ ई० में हुआ है ।

१९८० ई० में डा० अभय कान्त चौधरी एवं नरेश पाण्डेय 'चकोर' द्वार सम्पादित एक महत्त्वपूर्ण लोकगाथा काव्य का प्रकाशन हुआ है । 'सलेस भगत नामक इस लोक गाथा काव्य का प्रकाशन शेखर प्रकाशन द्वारा किया गया है । सले गाथा काव्य से रचना काल का निश्चित रूप से पता नहीं चल पाया है । लेकि कथानक से विदित होता है कि सलेस संवंधी गाथा काफी पुरानी है । इस गाथ काव्य में सलेस के उदात्त चरित्र का अच्छा चित्रण हुआ है ।

शेखर प्रकाशन द्वारा प्रकाशित एवं डॉ० तेजनारायण कुशवाहा द्वारा सम्पा दित 'अंगिका महायात्रा गीत' लोक साहित्य की एक अच्छी पुस्तक है । १९८३ ई में प्रकाशित इस पुस्तक में निर्गुण गीतों का संग्रह एवं सम्पादन किया गया है । य पुस्तक अपने-आप में अनूठी है ।

१९८४ ई० में डॉ० अभयकान्त चौधरी एवं श्री नरेश पाण्डेय 'चकोर' द्वा 'अंगिका लोक गीतों का सांस्कृतिक अध्ययन' नामक पुस्तक का सम्पादन किया ग है जो शेखर प्रकाशन द्वारा प्रकाशित हैं । इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक में अंगिका लो गीतों का संग्रह कर विभिन्न ढंग से अध्ययन किया गया है ।

अंगिका लोक साहित्य का अध्ययन एवं प्रकाशन अभी तक नगण्य हुआ है अभी भी लोक नृत्यों (बोलबै; कमलामाय, जट जाटिन, घाटो, देवली, नारंगी, न बिन्नी, रमखेलिया, लोढ़ियारी आदि) लोकगीतों, कथा-कहानियों आदि का सं कर प्रकाशित करने के लिये प्रचुर सामग्री है । अगर इनका संग्रह कर प्रकाशित कि जाय तो कई अच्छी-अच्छी पुस्तकें प्रकाश में आ सकती हैं । शेखर प्रकाशन से दिसम्ब १९७० से लगातार अबतक 'अंग माधुरी' मासिक पत्र के अंकों में भी प्रचुर अंगि लोक साहित्य का प्रकाशन हुआ है । समय-समय पर लोक साहित्य पर अध्ययन सम्ब सामग्री का प्रकाशन होने से अंग माधुरी के अनेक अंक बड़े महत्त्वपूर्ण हैं ।

★

गाज़ीपुर का इतिहास

—डॉ० भोला नाथ तिवारी
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

'गाज़ीपुर' नाम का इतिहास अनेक विवादों में उलझा हुआ है। यों 'गाजीपुर' या इससे मिलते-जुलते नाम से, गाजीपुर नगर की कोई पुराना उल्लेख हमें नहीं मिलता। प्रसिद्ध चीनी यात्री फ़ाह्यान पटना से बनारस इधर से ही गया होगा किन्तु उसने इसका कोई उल्लेख नहीं किया है। फाह्यान के प्रायः २०० वर्ष बाद ह्वेनसांग वहाँ गया था। उसके अनुसार इस प्रदेश का नाम 'चेन चू' था। कहने की आवश्यकता नहीं कि चीनी भाषा में व्यक्तिवाचक नामों का भी अनुवाद कर लिया जाता है। 'चेन चू' का शाब्दिक अर्थ 'युद्धों के स्वामी का राज्य' होता है। इस आधार पर लोगों का अनुमान है कि उस समय इसका नाम कदाचित 'युद्धपतिपुर' था। कनिंघम ने 'चेन चू' के आधार पर उस स्थान का नाम 'गर्जपतिपुर' या 'गर्जपुर' होने का अनुमान लगाया है और 'गाजीपुर' इस विचार से गर्जपतिपुर या गर्जपुर का बिगड़ा रूप है। फ्लीट ने भी इस मत का समर्थन किया है। किन्तु परवर्ती विद्वानों ने प्रायः इसे अशुद्ध माना है। नन्दलाल डे ने भी अपने भौगोलिक कोश में इसे अशुद्ध कहा है। डॉ० होई भी इसी मत के हैं। नेविल के मतानुसार ह्वेनसांग का 'चेन चू' गाजीपुर जिले का 'उधरनपुर' है जिसका उस समय अनुमानित नाम 'युद्धरनपुर' रहा होगा। आज का 'उधरनपुर' (गाज़ीपुर का एक गाँव) 'युद्धरनपुर' का ही बिगड़ा या विकसित रूप है।

गाजीपुर के नाम के सम्बन्ध में दूसरा अनुमान वहाँ के एक बड़े टीले या कोट से लगाया जाता है। गाजीपुर नगर से बिल्कुल लगा एक बहुत ऊँचा टीला है जिसे लोग 'राजा गाधि का टीला' कहते हैं। इस अनुमान पर लोगों का कहना है कि महर्षि विश्वामित्र के पिता राजा गाधि का यहाँ किला था और उन्हीं के नाम पर इस नगर का प्राचीन नाम 'गाधिपुर' था। इस आधार पर 'गाजीपुर' नाम का उल्लेख पुराणों में है किन्तु वह कदाचित् कन्नौज के पास था। कुछ लोगों के अनुसार 'कन्नौज' का ही पुराना नाम 'गाधिपुर' था।

'गाजीपुर' नाम के सम्बन्ध में एक और जनश्रुति भी है। कहा जाता है कि मांधाता नाम के राजा एक बार जगन्नाथपुरी जा रहे थे। रास्ते में गाजीपुर जिले के कठौत गाँव के एक तालाब में स्नान करने से उनकी इच्छा पूरी हुई। इसके फलस्वरूप मांधाता वहीं रुक गए और किला बनाकर रहने लगे। उनके

सराहना की है और कई विद्वानों का विचार है कि सभी जनपदीय भाषाओं में प्रकार की पुस्तक का प्रकाशन होना चाहिये।

१९७२ ई० में प्रस्तुत निबंध के लेखक द्वारा 'अंगिका जतसार' नामक पुस्त का प्रकाशन हुआ है। शेखर प्रकाशन द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में अंग जनपद गाये जाने वाले कतिपय 'जतसार' गीतों का संग्रह हुआ है। चक्की पीसते समय गां की औरतें जो गीत गाती हैं, वही जतसार के नाम से जाना जाता है। ये गीत ही भावपूर्ण और आकर्षक होते हैं। किसी किसी गीत में हृदय की वेदना इत कारुणिक होती है कि श्रोता की आँखों से हठात् अश्रुपात होने लगता है।

अंगिका की कुछ परम्परागत लोकोक्तियाँ भी बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। डा० अभ कांत चौधरी द्वारा सम्पादित 'अंगिका लोकोक्ति' नामक पुस्तक का प्रकाशन शेख प्रकाशन द्वारा १९७३ ई० में हुआ है।

१९८० ई० में डा० अभय कान्त चौधरी एवं नरेश पाण्डेय 'चकोर' द्वा सम्पादित एक महत्त्वपूर्ण लोकगाथा काव्य का प्रकाशन हुआ है। 'सलेस भग नामक इस लोक गाथा काव्य का प्रकाशन शेखर प्रकाशन द्वारा किया गया है। सले गाथा काव्य से रचना काल का निश्चित रूप से पता नहीं चल पाया है। लेकि कथानक से विदित होता है कि सलेस संबंधी गाथा काफी पुरानी है। इस गाथ काव्य में सलेस के उदात्त चरित्र का अच्छा चित्रण हुआ है।

शेखर प्रकाशन द्वारा प्रकाशित एवं डॉ० तेजनारायण कुशवाहा द्वारा सम्पा दित 'अंगिका महायात्रा गीत' लोक साहित्य की एक अच्छी पुस्तक है। १९८३ ई में प्रकाशित इस पुस्तक में निर्गुण गीतों का संग्रह एवं सम्पादन किया गया है। य पुस्तक अपने-आप में अनूठी है।

१९८४ ई० में डॉ० अभयकान्त चौधरी एवं श्री नरेश पाण्डेय 'चकोर' द्वा 'अंगिका लोक गीतों का सांस्कृतिक अध्ययन' नामक पुस्तक का सम्पादन किया ग है जो शेखर प्रकाशन द्वारा प्रकाशित है। इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक में अंगिका लो गीतों का संग्रह कर विभिन्न ढंग से अध्ययन किया गया है।

अंगिका लोक साहित्य का अध्ययन एवं प्रकाशन अभी तक नगण्य हुआ है अभी भी लोक नृत्यों (बोलबै; कमलामाय, जट जाटिन, घाटो, देवली, नारंगी, न बिन्नी, रमखेलिया, लोढ़ियारी आदि) लोकगीतों, कथा-कहानियों आदि का सं कर प्रकाशित करने के लिये प्रचुर सामग्री है। अगर इनका संग्रह कर प्रकाशित कि जाय तो कई अच्छी-अच्छी पुस्तकें प्रकाश में आ सकती हैं। शेखर प्रकाशन से दिसम्ब १९७० से लगातार अबतक 'अंग माधुरी' मासिक पत्र के अंकों में भी प्रचुर अंगि लोक साहित्य का प्रकाशन हुआ है। समय-समय पर लोक साहित्य पर अध्ययन सम्ब सामग्री का प्रकाशन होने से अंग माधुरी के अनेक अंक बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

* * *

गाज़ीपुर का इतिहास

—डॉ० भोला नाथ तिवारी
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

'गाज़ीपुर' नाम का इतिहास अनेक विवादों में उलझा हुआ है। यों 'गाजीपुर' या इससे मिलते-जुलते नाम से, गाजीपुर नगर की कोई पुराना उल्लेख हमें नही मिलता। प्रसिद्ध चीनी यात्री फ़ाह्यान पटना से बनारस इधर से ही गया होगा किन्तु उसने इसका कोई उल्लेख नहीं किया है। फाह्यान के प्रायः २०० वर्ष बाद ह्वेनसांग वहाँ गया था। उसके अनुसार इस प्रदेश का नाम 'चेन चू' था। कहने की आवश्यकता नहीं कि चीनी भाषा में व्यक्तिवाचक नामों का भी अनुवाद कर लिया जाता है। 'चेन चू' का शाब्दिक अर्थ 'युद्धों के स्वामी का राज्य' होता है। इस आधार पर लोगों का अनुमान है कि उस समय इसका नाम कदाचित 'युद्धपतिपुर' था। कनिंघम ने 'चेन चू' के आधार पर उस स्थान का नाम 'गर्जपतिपुर' या 'गर्जपुर' होने का अनुमान लगाया है और 'गाजीपुर' इस विचार से गर्जपतिपुर या गर्जपुर का बिगड़ा रूप है। फ्लीट ने भी इस मत का समर्थन किया है। किन्तु परवर्ती विद्वानों ने प्रायः इसे अशुद्ध माना है। नन्दलाल डे ने भी अपने भौगोलिक कोश में इसे अशुद्ध कहा है। डॉ० होई भी इसी मत के हैं। नेविल के मतानुसार ह्वेनसांग का 'चेन चू' गाजीपुर जिले का 'उधरनपुर' है जिसका उस समय अनुमानित नाम 'युद्धरनपुर' रहा होगा। आज का 'उधरनपुर' (गाज़ीपुर का एक गाँव) 'युद्धरनपुर' का ही बिगड़ा या विकसित रूप है।

गाजीपुर के नाम के सम्बन्ध में दूसरा अनुमान वहाँ के एक बड़े टीले या कोट से लगाया जाता है। गाजीपुर नगर से बिल्कुल लगा एक बहुत ऊँचा टीला है जिसे लोग 'राजा गाधि का टीला' कहते हैं। इस अनुमान पर लोगों का कहना है कि महर्षि विश्वामित्र के पिता राजा गाधि का यहाँ किला था और उन्हीं के नाम पर इस नगर का प्राचीन नाम 'गाधिपुर' था। इस आधार पर 'गाजीपुर' नाम का उल्लेख पुराणों में है किन्तु वह कदाचित् कन्नौज के पास था। कुछ लोगों के अनुसार 'कन्नौज' का ही पुराना नाम 'गाधिपुर' था।

'गाजीपुर' नाम के सम्बन्ध में एक और जनश्रुति भी है। कहा जाता है कि मांधाता नाम के राजा एक बार जगन्नाथपुरी जा रहे थे। रास्ते में गाजीपुर जिले के कठौत गाँव के एक तालाब में स्नान करने से उनकी इच्छा पूरी हुई। इसके फलस्वरूप मांधाता वहीं रुक गए और किला बनाकर रहने लगे। उनके

परिवार में किसी ने एक मुसलमान की लड़की पकड़ ली और फलस्वरूप उसकी विधवा माँ ने उस समय के मुसलमान बादशाह के यहाँ प्रार्थना-पत्र दिया औ उनके यहाँ से चालीस गाजियों का एक समूह आया और उसने राजा को मा डाला। गाजियों के इस समुदाय के नेता सईद मसऊद ने यहाँ बागी हिन्दुओं बुरी तरह पीसा, जिसके फलस्वरूप उसे 'मलिक-उस-सदत-गाजी' की पद मिली। उसने इस 'गाजी' उपाधि के उपलक्ष्य में ही 'गाजीपुर' का शहर बसाया।

यह जनश्रुति कुछ-साधार मालूम होती है। 'गाजीपुर' नाम के कारण यह न निश्चय ही किसी मुसलमान द्वारा बसाया गया था या कम-से-कम उसके नाम रखा ज्ञात होता है। 'गाजी' शब्द किसी पुराने संस्कृत शब्द का (जैसे 'गाधि' का बिगड़ा रूप नहीं हो सकता। बिगड़े रूप में 'ग़' और 'ज़' जैसी विदेशी ध्वनि की प्रवृत्ति प्रायः नहीं मिलती। यहाँ एक और बात की ओर भी ध्यान जाता है ह्वेनसांग के अनुसार इसका नाम 'चेन चू' था जिसका अर्थ 'लड़ाई के स्वामी प्रदेश' या 'लड़ाई करनेवाले का प्रदेश' है। आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है 'गा का भी शाब्दिक अर्थ यही है। 'गाजी' शब्द अरबी का है। इसका सम्बन्ध अर 'गज्युन' से है जिसका अर्थ 'लड़ना' होता है। अरब में इसी आधार पर धर्मयुद्धों को 'गजवा' तथा छोटे को 'सरिया' कहते थे। इसका अर्थ तो यह हो है कि ह्वेनसांग के समय में भी इसका नाम गाजीपुर ही था, किन्तु ऐसा सम्भ नहीं लगता। उसका समय पाँचवीं सदी है और इस प्रकार की घटना घटने समय एक हजार ईसवी के पहले नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में यह अर्थसा आकस्मिक हो सकता है।

यों एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि इसका पुराना नाम भी प्रकार का कुछ रहा हो, और मुसलमानी काल में यह नया नाम दे दिया गया या उसी का मुसलमानीकरण कर दिया गया हो। आश्चर्य है कि इसे गाजिया (गाजी + आबाद) नहीं कहा। वस्तुतः मुसलमानी काल में मिश्रित नाम भी रखे गए थे—बादशाहपुर, बेगमपुर, सुलतानपुर।

□

कुरु-प्रदेश की लोकनाट्यपरम्परा—'स्वांग'

☐ वेद प्रकाश गर्ग

लोक-नाट्य लोक-साहित्य का एक विशिष्ट अंग है और इसे लोक-मानस की अनुकरण मूलक प्रवृत्तियों का सहज प्रतिरूप कहा जा सकता है। लोक-नाट्यों से तात्पर्य उन नाटकों से है : जिनके अभिनय के लिए रंगमंच और प्रसाधन आदि की विशेष तैयारी नहीं करनी पड़ती। इसमें संगीत प्रधान होता है। मनोरंजन के साथ-साथ इन जन-नाटकों का उद्देश्य शिक्षा आदि में योगदान करते हुए सांस्कृतिक धरोहर का रक्षण करना भी है।

लोककवियों को लोक-साहित्य की परम्परा ने जन्मा है और लोककवि, लोक-गाथाओं की रचना करते हैं, जिनको प्रबंध-गीत या कथा-गीत कह सकते हैं। अभिनेय कथा-गीत, लोक-नाट्य की श्रेणी में आते हैं। लोकनाट्यों में नृत्य, संगीत और अभिनय-यही तीन तत्व मिलते हैं। अतः इन लोकनाट्यों की विशेषता उनके लोकधर्मी स्वरूप में ही निहित है। एक प्रकार से लोकनाट्य जनपदीय संस्कृति के प्रोज्ज्वल परिचायक है, उसके सांस्कृतिक जीवन को समृद्ध करते रहे हैं।

वस्तुतः हिन्दी नाट्य-परम्परा का मूल स्रोत ये जन-नाट्य ही हैं, जो स्वांग आदि नाम से प्राचीन रूप में अब तक विद्यमान हैं। हिन्दी-भाषी प्रदेशों में लोक नाट्य की यह परम्परा पर्याप्त प्राचीन और परिपक्व रही है। उसका मूल उत्स संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में अन्वेषित किया जा सकता है।

इन जन-नाट्यों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। महर्षि पतंजलि ने तीन प्रकार के जन-नाट्यों की सूचना दी है। इनमें मनोरंजन एवं अनुकरणात्मक प्रवृत्ति प्रधान—'स्वांग' लोक-रंगमंच-शैलियों में प्राचीनतम है। 'स्वांग' या 'सांग' ही वह प्राचीनतम शब्द है, जो लोक-धर्मी प्रदर्शनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। वास्तविकता यह है कि नाट्य रासकों की फागु-परम्परा ही बाद में 'स्वांग' के रूप में जीवित रही। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह स्वांग-परम्परा फागु-परम्परा का ही विकसित हिन्दी लोकरूप है। यह एक प्रकार से नाट्य रासक परम्परा का प्रतिनिधि है, किन्तु साथ ही यह भी ध्यान में रहना चाहिए कि लोक नाट्य जन जीवन की सभी परम्पराओं को ग्रहण कर परिपुष्ट होता है।

लोक जीवन में 'स्वांग' जिसे 'सांग' भी कहते हैं, जनता में बहुत प्रिय रहे हैं। स्वांग इतने लोकप्रिय रहे हैं कि सामान्य जन रात-रात भर खुले मैदान में हजारों की संख्या में स्वांग देखते रहते हैं। 'स्वांग' किसी भी ऐसे प्रदर्शन को कहा जाता है, जहाँ जनता को जोड़कर किसी कथानक को किसी रूप में लेकर मनोरंजन

किया जाय। इसीलिए लोक नाटक के लिए 'स्वांग' शब्द प्रयुक्त किया जाता है। वस्तुतः लोकानुरंजन करने वाले और लौकिक कथानकों पर आधारित सभी लोक नाटक स्वांग ही हैं। 'स्वांग' लोक-नाटक के सभी रूपों के लिए प्रचलित सर्वाधिक लोकप्रिय शब्द है।

एक अनुश्रुति के अनुसार स्वांग का मंच कुछ गाथा-गायकों द्वारा ग्यारहवीं शती में पंजाब में अपनी आधारशिला रख चुका था। डॉ० दशरथ ओझा के अनुसार मध्यकाल में हरियाणा प्रांत में हुए सादुल्ला नामक एक प्रसिद्ध लोककवि ने अनेक लोकगीतों के साथ लोक-नाटकों की रचना की। लोक-नाटकों की परम्परा उत्तरोत्तर विकसित होती गई।

किंतु साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि स्वांग संबंधी काफी प्राचीन उल्लेख परम्परागत रूप में प्राप्त होते हैं। स्वांग नाट्य का प्राचीनतम उल्लेख 'मालविकाग्नि मित्र' में प्राप्त होता है। सिद्ध कण्हप्पा की वाणी में डोमिनी के साथ स्वांग करने की चर्चा मिलती है। कबीर ने भी स्वांग-तमाशा आदि नाटकीय मनोरंजनों का उल्लेख किया है। 'पद्मावत' में जायसी ने 'पातुरि एक हुति जोगि सांगी' कहकर वेश्या द्वारा जोगिन का स्वांग रचने का वर्णन किया है। सत्तरहवीं शताब्दी में वरक उल्लाह ने 'प्रेम प्रकाश' में स्वांग का रूप भरने तथा स्वांगी की 'वहुरूपिया' कहकर व्याख्या की है। उड़ीसा में चौदहवीं शती में 'लक्ष्मी पुराण स्वांग' की चर्चा मिलती मिलती है। संत तुकाराम ने श्रृंगारिक फूहड़ता के कारण स्वांगों का विरोध किया था।

इस प्रकार कबीर और उनके परवर्ती अनेक कवियों की वाणियों में ऐसे उल्लेख उपलब्ध हैं, जिनसे लोकनाटय के प्रदर्शन की विभिन्न परम्पराओं की जानकारी तो प्राप्त होती है, परन्तु इस काल के लिखे स्वांग प्राप्त नहीं होते। इसके दो ही कारण हो सकते हैं; (१) या तो वे आलेख नष्ट हो गए हैं, अथवा (२) जैसी कि लोक नाट्य की आदिम प्रवृत्ति है, काफी समय तक वे लिपिबद्ध ही नहीं किए गए और मौखिक-परम्परा से कंठों में ही उतारे जाते रहे। कारण कुछ भी रहा हो, लेकिन 'स्वांग' के प्राचीन आलेख नहीं के बराबर ही उपलब्ध हैं।

डॉ० दशरथ ओझा का अनुमान है कि उन्नीसवीं शती के आरम्भ में 'स्वांग' ने लोकनाट्य शैली का सुव्यवस्थित रूप धारण किया और तभी से लेखबद्ध स्वांग का प्रमाण मिलता है। पं० रामगरीब चौबे के आधार पर उन्होंने लिखा कि 'सन् १८१६ में सहारनपुर-निवासी गुजराती ब्राह्मण अम्बा राय द्वारा आधुनिक शैली में स्वांग प्रस्तुत किया गया। वैसे इससे पूर्व सन् १८८४ के आसपास टेम्पल महोदय ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दी लीजेण्ड्स आफ दि पंजाब' में जगाधरी-निवासी वंशी लाल नामक किसी स्वांगिये से लिपिवद्ध कर तीन स्वांग प्रकाशित किए

जो जगाधरी में होली के अवसर पर प्रति वर्ष खेले जाते थे। ये स्वांग प्राचीन परम्परा के प्रतिनिधि स्वांग माने जा सकते हैं।

लेकिन डॉ० सोमनाथ गुप्त ने इस परम्परा में 'रसरूप' के 'हास्यार्णव' को (जो ईसवी सन् १६८६-८९ के बीच की रचना है) स्वांग-शैली की पहली उपलब्ध कृति माना है। इसी परम्परा में दूसरी रचना भरतपुर के राजकवि सोमनाथ चतुर्वेदी की 'माधव विनोद' है, जो सन् १७५२ में लिखी गई और तीसरी रचना ब्रजवासी दास की 'प्रबोध चन्द्रोदय' सन् १७५९ ई० में रची गई थी। स्वांग-परम्परा के विकास को भली प्रकार समझने के लिए ये तीनों स्वांग परक कृतियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। 'हास्यार्णव' में प्रदर्शन-पद्धति का जो रूप तथा कथानक का जैसा गठन है, वह सर्वथा लोक-परम्परा के अनुरूप है। अतः यह ग्रन्थ अपने युग की स्वांग-परम्परा के नाट्य रूप को समझने की एक महत्त्वपूर्ण कुंजी है। सोमनाथ का 'माधव विनोद' और ब्रजवासी दास का 'प्रबोध चन्द्रोदय' भी लोकनाट्य शैली में रचित अपने युग की स्वांग-परम्परा के उपलब्ध प्रतिनिधि-ग्रंथ हैं। इस प्रकार आलेखबद्ध स्वांग-परम्परा की प्राचीनता को प्रकाश में लाने का श्रेय डॉ० गुप्त को है।

इस विकास परम्परा को समझने में एक और महत्वपूर्ण तथ्य है। उस पर भी विचार कर लेना उपयुक्त है। मध्यकाल के उत्तरांश में हिन्दी-क्षेत्र के अन्तर्गत लोक-काव्य की ख्याल-गायन की परम्परा बहुत ही लोकप्रिय रही है। अपने व्यापक प्रचार-प्रसार के उपरान्त इस परम्परा ने स्वांग के विकास में भी बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। ख्याल गायकी की यह परम्परा बाद में लोक-मंच के विकास का बड़ा सफल माध्यम सिद्ध हुई। इस परम्परा में भी पर्याप्त संख्या में लोकनाट्य रचे गए। गणेश प्रसाद कृत 'शकुन्तला नाटक नवीन' (सन् १८९०) और शिवकरण कृत 'बाला शिशु विवाह' नाटक (१८९३) आदि इसी परम्परा के प्रसिद्ध नाटक रहे हैं। इस प्रकार की ख्याल-परम्परा की रचनाएँ भी 'सांगीत-परम्परा' के साथ ही पर्याप्त रूप में प्राप्त होती हैं। लेकिन विकास-क्रम पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि बाद में धीरे-धीरे यह परम्परा एक प्रकार से प्रायः पूर्ण रूप से 'सांगीत-शैली' में ही समाविष्ट हो गई। हाँ, यह निश्चित् रूप से नहीं कहा जा सकता कि सांगीत-शैली के स्वांग लिखना पहले ख्याल-गायकों ने आरम्भ किया अथवा वे इस परम्परा के प्रारम्भ होने के बाद स्वांग के क्षेत्र में उतरे; परन्तु सांगीत शैली के विकास में ख्याल-गायकों का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रतीत होता है कि सांगीत के उदय की प्रारम्भिक अवस्था में ही ख्याल गायक उसकी ओर आकर्षित हो गए थे। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि सांगीत का,

प्राचीन रूप बंशी लाल के स्वांगों में उपलब्ध होता है। वास्तव में स्वांग मूलरू से संगीतरूपक ही हैं।

लोकधर्मी नाट्य रूपों में संगीत और पद्य की प्रधानता होती है और वार्तालाप का माध्यम भी पद्य रूप में लोक भाषा ही रहती है। इसीलिए 'सांगीत' (स्वांग+गीत) शब्द व्यवहार में एक विशेष नाट्य रूप के लिए रुढ़ हो गया है और इसी रूढ़ार्थ के अनुसार "वह स्वांग या गीति नाट्य, जो चौबोला शैली में ख्याल-परम्परा के अनुसार लिखे जाते हैं तथा जिनका प्रधान वाद्य नक्कारा (नगाड़ा) है 'सांगीत' माने जाते है।" सांगीत शब्द का प्रयोग अब चौबोला-शैली को मंचीय विकास के लिए ही मुख्यरूप से प्रयुक्त होता है। चौबोला-शैली का उपलब्ध स्वांग-साहित्य पूर्वी अर्थात् हाथरस और पश्चिमी अर्थात् रोहतक की दो शैलियों में लिखे जाने के कारण-दो रूपों में मिलता है। अमरोहा-शैली के स्वांगों ने पहले-पहल व्रज-क्षेत्र में प्रवेश किया और यही परम्परा पूर्वी क्षेत्र में फैल कर काफी फली-फूली।

पश्चिमी अर्थात् रोहतकी स्वांग-परम्परा, जो वर्तमान में हरियाणा तथा मेरठ क्षेत्र में 'सांग' के रूप में लोक-नाट्य विधा प्रचलित है, वह अलीबक्षी ख्याल-परम्परा के अनुकरण पर ही स्थापित है। अलीबक्ष अपने समय (१८५४ से १६०० ई० तक) के प्रसिद्ध ख्याल-गायक थे। हरियाणा तथा पश्चिमी उत्तर-प्रदेश (मेरठ) के क्षेत्रों में अलीबक्षी स्वांग कई दशाब्दियों तक प्रचलित रहे। इन्हीं की परम्परा के अनुकरण पर मेरठ और रोहतकी क्षेत्र में स्वांगों की एक नई परम्परा चली थी। अलीबक्षी स्वांगों से हो प्रेरणा लेकर बाद में दीपचन्द, सरूपचन्द व पं० मांगेराम आदि ने विभिन्न स्वांगों की रचना की। हरियाणा की स्वांग-मंडलियों के प्रथम आचार्य दीपचन्द थे। उनकी शिष्य-परम्परा रोहतक में अभी तक विद्यमान बतायी जाती है।

स्वांग के उत्कर्ष कर्त्ताओं में रामगरीब चौबे और लक्ष्मीचंद के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। लक्ष्मीचंद अपने समय में सभी स्वांगियों में सर्वाधिक प्रतिभाशाली स्वांगी थे। उनके बाद मांगेराम आदि ने भी स्वांग के क्षेत्र में अच्छी ख्याति प्राप्त की थी।

कुरु-प्रदेश (मेरठ) की स्वांग-परम्परा का विकास स्वतंत्र रूप से नहीं हुआ। वह रोहतकी स्वांगों की ही अनुगामिनी है। यद्यपि उसकी अपनी कुछ मौलिक विशेषताएँ हैं, किन्तु उनका महत्त्व क्षेत्रीय सीमाओं को ही प्रकट करता है। मेरठी स्वांग-परम्परा पर प्रकाश डालने वाली लीथो में छपी 'लैला-मजनू' नामक स्वांग की एक पुरानी पुस्तक मिलती है, जिसका कर्त्ता 'रमजान' वल्द 'दिलूवा' था। इससे मेरठ की स्वांग-परम्परा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। रमजान ने यहाँ की सांगीत-परम्परा के विकास की चर्चा में मेरठ-क्षेत्र के प्रथम सांगीतकार रामसहा

शाह का उल्लेख किया है, जिन्होंने 'रत्नसेन-पद्मावती' नामक सांगीत लिखा था और जिसकी पूर्ति बाद में मुनीर खाँ ने की थी।

कुरु-प्रदेश में स्वांग रचयिता कवि काफी संख्या में हुए हैं। इनकी शिष्य-परम्परा भी विशाल है। इनकी अभिनव व्यवसायी मंडलियाँ गाँव-गाव भ्रमण कर स्वांगों का प्रदर्शन किया करती थीं। स्वांग गायकी के क्षेत्र में इस प्रदेश के स्वांगियों ने भी स्वांग-परम्परा को जीवित एवं अक्षुण्ण बनाये रखने में अपना विशेष योग-दान दिया। हरदेवा, मानसिंह, नकली, होशियारा, बलवन्त-कुलवन्त, मुसद्दी, घोटा, मंगल-कुन्दन, मुसद्दी (खटीका), रामचन्द्र, ज्योति, ईश्न, लालू, सगवा सिंह, दिन्ना लुहार, बुल्ली, नत्थू, बुन्दूमीर, चन्दर वादी, सद्दीक, शरीफ, नसरू मीर, लक्ष्मी वैद्य, रघुवीर, अब्दुल डोम, आसाराम, श्यामा आदि अपने समय के प्रसिद्ध सांगी रहे हैं और मुक्त हृदय से स्वांग खेलते-खिलाते रहे हैं, इनमें प्राय: सभी के अखाड़े रहे हैं।

देवबंद के बेहू सिंह भी प्रसिद्ध सांगी हुए हैं। इनके लिखे लगभग ४० सांगी बताये जाते हैं। इनके परिवार में आज भी स्वांग लिखने की परम्परा है। इनके पुत्र धूमसिंह तथा पौत्र ज्योति प्रसाद मुख्तार ने भी स्वांग लिखे हैं। हरवंस लाल और वेगराज सिंह के लिखे मुद्रित स्वांग आज भी बाजार में मिलते हैं। प्रतिभा एवं लगन के अभाव में अब मौलिक रचनाएँ नहीं मिलती हैं। पहले लोग स्वयं ही रचना करते थे और स्वांग खेलते थे। उनमें आपस में प्रतिस्पर्द्धा भी होती थी।

स्वांग-नाटकों में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा लौकिक सभी वृत्तों को समाविष्ट किया जाता है। यद्यपि स्वांग-नाट्यकार पर कथानक का कोई बंधन नहीं होता, तथापि अधिकांश स्वांग-नाटक प्रेम कथाओं से सम्बन्धित हैं। इन कथानकों में कथा-प्रवाह होता है। इन जन-नाटकों के पात्रों में स्थानीय वैशिष्टय अवश्य होता है और इन पात्रों को अभिनय की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। स्त्रियों के अभिनय के लिए भी पुरुष ही जनाना वेश धारण करते हैं। विदूषक (नक्काल) अपने हास-परिहास से चरित्र की आन्तरिक बातों पर प्रकाश डालता है।

कुरु-क्षेत्र में रूप-बसंत, पूरन भगत, अमर सिंह राठौर, किरणमयी (पतिव्रता), चन्द्रहास, सरवर मीर, हीर-रांझा, नौटंकी, लैला-मजनू, राजा नल, मोरध्वज, शाही लकड़हारा, सोरठ, नर मुलतान, निहाल दे, नहल दे, कनक छड़ी, गोपीचन्द, भर्तृहरि, ढोला-मरवण आदि स्वांग नाट्य अत्यधिक प्रचलित रहे हैं।

स्वांग खुले मंच पर खेले जाते रहे हैं और अब भी यही परम्परा है। यह खुला 'सांग-मंच' 'ओपेन एयर थियेटर' का ही अनगढ़ रूप में मूलरूप है। स्वांग-अभिनय की तैयारी में अधिक साज-सामान की आवश्यकता नहीं होती। स्वांगों में

मच-सज्जा, वेशभूषा तथा प्रसाधन-योजना से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रभावी संगीत तथा सशक्त अभिव्यक्ति है। इन्हीं पर एक प्रकार से स्वांग की सफलता निर्भर करती है।

स्वांग का आधुनिक रूप भी वैसा ही है, जो पहले था। हाँ, इतना परिवर्तन अवश्य हुआ है कि उसकी तर्जों में अब फिल्मी गीतों को तथा उनकी तर्जों को भी ले लिया गया है। शब्दों में भी परिवर्तन होता जा रहा है। खेद है कि धीरे-धीरे स्वांग-परम्परा अब समाप्त होती जा रही है। स्वांग-अखाड़े समाप्तप्राय हैं।

कुरु-प्रदेश के स्वांग-लोक-नाट्य की विशेषताओं के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यह लोक-नाट्य समाज व समुदाय की वस्तु है, जो पद्य प्रधान होता है। इसमें अधिक आडम्बर नहीं होता। अतः यह जन-सामान्य की सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं व अभिरुचियों के अनुकूल है। स्वांगों में लोक-मान्यताओं का पूर्ण समावेश होता है। कथानक जनमन को अनुरंजित करने वाले होते हैं। पूर्व आधुनिक काल में प्रचलित आमोद-प्रमोद के साधनों में स्वांग का अपना एक विशेष स्थान रहा है। वास्तविकता तो यह है कि भारत में लोक-नाट्य-परम्परा अति प्राचीन और सुदीर्घ रही है। देश के विभिन्न अंचलों में इसके भिन्न-भिन्न रूप देखने में आते हैं, जिनपर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि इनके बीच अन्तर्धारा प्रवाहित होती रही है।*

इस प्रकार रास-परम्परा से उदित होकर यह लोक मंच एक लम्बे इतिहास, मंचीय परम्पराओं के प्रभाव, उतार-चढ़ावों में विभिन्न रूप-रंग धारण करता हुआ आज भगत-स्वांग और नौटंकी के रूप में लोक जीवन में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसके ये रूप हिन्दी की लोकधर्मी नाट्य विधा 'सांगीत' की प्रमुख शैलियों के प्रतिनिधि बने आज भी हजारों लोगों को मनोरंजन प्रदान करते हैं। वास्तव में 'सांगीत' एक ऐसा लोक-रंजक मंच है, जो सभी धर्मों और वर्गों को समान रूप से आकर्षित करता चला आ रहा है। □

---

* भोजपुरी भाषा के विशाल जनपदीय क्षेत्र में इस प्रकार के सैकड़ों 'स्वांग' खेल, तमाशा, नौटंकी के नाम से लोकप्रिय हैं जो गीत और पद्य प्रधान हैं। उनकी विषय-वस्तु सामाजिक, राजनीतिक, या पौराणिक, ऐतिहासिक है तथा प्रेम और जीवन के द्वन्द्वों का सपाट किन्तु मनोरंजक चित्रण उनमें हुआ है। ऐसे लोक-नाट्यों की रचना की परम्परा आज भी अक्षुण्ण है और लोक कलाकार स्वर्गीय भिखारी ठाकुर के 'विदेशिया' आदि नाटकों ने तो अपनी एक विशिष्ट शैली ही विकसित कर ली है। मैथिली क्षेत्र में भी ऐसे स्वांग हैं। भोजपुरी स्वांगों में गद्य का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। —सम्पादक

हमारे अवधी लोकगीत

□ त्रिभुवन नाथ शर्मा 'मधु'

लोकगीत शब्द के प्रयोग से हमारा ध्यान उन गीतों की ओर जाता है, जिन्हें हम ग्रामगीत या गँवई गीत कहते हैं। गीत अपनी संस्कृति के सजग प्रहरी होते हैं। इनसे जीवन के अनेक पक्ष उजागर होते आए हैं। ग्रामीण जीवन के अनेक मार्मिक प्रसंगों का ननोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है इनमें। यहाँ अवधी लोकगीतों की ही कुछ पंक्तियों का रसास्वादन अभिहित है--

मल्हार की रागिनी—

"जात नगरिया मैं भूलीं रे डगरिया, अब सुधि लेव मोरे राम हो।
तलवा माँ चमकै ताल कै मछरिया, रन चमकै तरवारि हो।
सभा बीच चमकै पिया कै पगड़िया, सेजिया पै बिंदिया हमारि हो।"

कजली की तान—

"सुन्दरि बैठी रे खिरकिया, खैंचै सिर चोटी के बार।
सुन्दरि के बार रेसम के लच्छा, चोटिया करत बहार।
सुन्दरि की आँखी आम की फाँकी, सुरमा करत बहार।
सुन्दरि के दाँत अनार के दाना, मिसिया करत बहार।"

आल्हा की वीर ध्वनि—

"सदा तोरय्या न बल फूलै, यारो सदा न सावन होय।
सदा न राजा रन पर चढ़िहैं, दुनिया सदा न जीवै कोय।"

जन्म के समय का गीत—

"भवानी मोरे अँगना ह्वै गईं हो।
होरिलवा दछिणा दै गईं हो।"

विवाह-गीत—

"मालिनियाँ! माता का फूल चढ़ाव।
नेवति मोरे मड़ये माँ लै आव।"

पचरा गीत—

"माई! मँगता का दैं दिऔ भीख हो।
ठाढ़ द्वारे पुकारै।"

देवी गीत—

"माता के दुवारे इक अँधरा पुकारै,
हमका नयन मिलि जाय हो, माता फुलवा चढ़ौबै।"

कहरवा—

"अँगनैया' बिच निबुला लगाय न गये।। अँगनैया० ।।"

चिकाराध्वनि—

"सुनौ री मोरी गोइयाँ गवन लगिचान।"

धोबिया राग—

"मोटी-मोटी रोटी लायो चना की,
ऊपर कुलफिया का साग, बरेठिन। ऊपर० ॥"

लहचारी—

"गोरिया तुमरा सँघाती नहिं कोय, जगतिया अपने मतलब की।
माई-बाप सब काम के लोभी चाम कै लोभी जोय,
भाई बंद सब दाम के लोभी गाँठि मरेव माँ रहे टोय। जग० ॥"

संघीय महाशक्ति का गुण गान—

"चारि जने चारिउ कोने से परबत चाहैं दियैं हिलाय।
जो छपरा दस हाँथ उठावैं तौ ऊ सहजै माँ उठि जाय॥
यक्कै बानी याक रवानी एकुइ पानी एकुइ बेसु।
जन-जन कै याकै मति जागी काहे न सुखिया बनी सुदेसु॥"

पतिव्रता पत्नी का आदर्श—

"रघुबर संग जाब हम ना अवध माँ रहिबै।
जो रघुबर बन फल खइहैं, छिलका बीनि खाब। हम० ॥
जो रघुवर पूजा करिहैं, चौका दइ द्याब। हम० ॥"

देवी-देवता पर आस्था—

"उड़ि जाव सुगना गंगा पार खबरि लाव देबिन की।"

पारिवारिक प्रथा—

"मोरा जियरा लहरिया लेय भवानी तोरे दरसन का,
मोरे ससुरा जान नहिं देयँ भवानी तोरे दरसन का,
बहुवर घर ही से माँगौ बरदान हाथ जोरि बिनती करी।"

राष्ट्रीय भावना की अंत: व्याप्ति—

"हम वहि देसवा के वासी भइया जहाँ बहै गंगा कै धार।
गौरी-गनेस करैं रखवारी का करै बैरी हमार॥"

भाषा के प्रति भावना—

"भाषा याक राखौ आपन जो चाहौ भला। जो० ॥

× × × ×

उत्तर-दच्छिन, पूरब-पच्छिम सबिहौ देसु तुम्हार।
ई कै भाखा-भाव बदलि कै पनपी न परिवार।
ध्यान दइकै द्याखौ आपन जो चाहौ भला॥ भाषा० ॥"

धर्म-निरपेक्षता का स्वर—

"हिन्दू मुसलमान हैं याकै का पाधा का पीर,
बबुआ ! का पाधा का पीर।
जो सबका दुख दर्द मिटावैं उहका सफल सरीर। बबुआ० ॥"

सब के प्रति प्रेम-भाव—

"तब्बै होई सुधार देसवा का।
प्रेम-भाव, जन-जन माँ जागी,
सब मनिहैं परतीति प्रीति कुटिलाई बिसारि। देसवा० ॥"

फाग-राग —

"कोई बचै न पावै बाल गलिन माँ, मारू रंग भरि, होली है।
उड़त गुलाल लाल भये बादर, जमुना ह्वै गई लाल। गलिन० ॥"

ग्रामवासी किसान का लहरा—

"बगिया माँ बोलै कोयलिया रे भैया, कोयलिया रे भैया,
मोरवा करत बन सोर।
मोरे घर चहकै सोने कै चिरैया,
लखि हुलसै जिय मोर॥"

क्या कमाल है, "सोने की चिरैया" में। रीति-शाखा के प्रकांड पंडितों में क्या दम है जो इसकी उपमा की होड़ मैं कोई नायिका ला पाएँ।

गाँव की छवि—

"हमार गाँव हमरे मनै भावै।
हियाँ तलैया-ताल कुल्यालैं, जिहि माँ सुरज-जोन्हैया ख्यालैं।
देउता उतरि सरग से रोजुई, धरती पर आवैं। हमार०।"

भिखारी के स्वर में लोक-कल्याण की कामना—

"घर के मैयन कै खैर माँगै चुनुवा फकीर।
गाई-भैंइसिन कै खैर माँगै चुनुवा फकीर॥"

और भी—.

"माई बाढ़ै तोहार परिवार भिखार का भीख मिलै।"

आवश्यकता है, लोक-गीतों के संकलन और संवर्द्धन की। लोक-गीत हमारे इतिहास और संस्कृति के मूल्यवान रत्न हैं।

ईसुरी-पूर्व का प्राचीन बुन्देली फाग-काव

—डॉ० श्याम सुन्दर ब

साहित्याचार्य, साहित्य वाचस्पति (पी-एच०

बुन्देलखण्ड-क्षेत्र में ही नहीं अपितु पूरे राष्ट्र में प्रत्येक भाषा एवं क्षेत्रीय में प्रत्येक अवसर पर पर्वों के गीत मिलते हैं और वे उसी अवसर एवं पर्व के से प्रसिद्ध हैं। बच्चा पैदा होने पर गाए जाने वाले गीत 'सोहर' के नाम से वसन्तोत्सव या फागोत्सव के गीत फाग-गीतों के नाम से प्रचलित हैं। वे उत प्राचीन हैं, जितने हमारे होलिकोत्सव के कार्यक्रमों के विधान। हाँ, भाषा जनपद की बोलियों में उनके उद्भव और विकास के साथ ही इन गीतों का उ और विकास होता रहता है। भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं के मत से—"अपभ्रंश ग्यारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक उत्तर-भारत एवं मध्यप्रदेश में रूप में व्यवहृत हुई वही बुन्देली है।"

इसी बुन्देली भाषा के फाग-गीत चौकड़िया-फागों के सुप्रसिद्ध एवं लोक गीतकार 'ईसुरी' से भी सात-आठ सौ वर्ष पूर्व से ही गाये जाते रहे हैं। जा दिनों में ग्रामीण लोग कौड़ों (आग का ढेर) को घेर कर तापते हुए ढोलक झाँझों के स्वरों के साथ-साथ फाग-गीतों को गा-गा कर जाड़े की लम्बी रातें से काट लेते हैं। आज तो यह परम्परा कहीं-कहीं ही चल रही है। जिस प्र चौकड़िया-फागों में वसन्तोत्सव के गीतों के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों के रसों से पूर्ण फागें मिलती हैं, उसी प्रकार प्राचीन फाग-गीतों में भी सभी प्रकार फागें मिलती हैं।

पुरोहितों द्वारा बताए गए सुमुहूर्त में फाग-मण्डलियाँ होलिका-दहन के अपने वाद्यों के साथ फाग गीतों को गाती हुई निकलती हैं। ये फाग-गीत महोत्सव के मंगलाचरण से प्रतीत होते हैं। यथा—

अरे हाँ, देवा ! सेवा तुम्हारी ना जानों।
गन्नेशा ! गरीबनिवाज !! देवा सेवा तुमारी ना जानों।
काहे के गनपति करौं, कहाँ देवें पौंढ़ाय ॥ देवा०।
अरे हाँ, गोबर के गनपति करौं, औ पटा देउँ पौंढ़ाय ॥ देवा०।
अरे हाँ, काहे के भोजन करौं, कहाँ देउँ अँचवाय ॥ देवा०।
अरे हाँ, दूध-भात भोजन करौं; औ गंगाजल अँचवाय ॥ देवा०।"

शंकर की वन्दना का फाग-गीत—

"कोऊ ऐसौ न जग में होय, महादेव बरदानी।
चन्दन चाँवर बेला की पाती, अज्जा धतूरे को फूल,
चढ़ाएँ जल पानी। कोऊ०।
इत बहैं गंगा, उत बहैं जमुना, प्रागराज में तिरबेंनी,
भागीरथ गंगा लै आए, तरन लगो संसार,
जटन में उरझानी। कोऊ०।

होलिका-दहन के समय पूर्व, उत्तर और पश्चिम की वायु बहे तो शुभ मानी जाती है और दक्षिण की वहे तो अनिष्टकर। यह ज्योतिष-शास्त्र-सम्मत भी है। यथा—

"पूर्वे वायुः होलिकायाः प्रजा-भूपालयोः सुखम्।
पलायनं च दुर्भिक्षं दक्षिणे जायते ध्रुवम्॥
पश्चिमे तृण-सम्पत्तिः उत्तरे धान्य-सम्भवः॥"

दूसरे दिन प्रातःकाल होलिका की विभूति (राख) माथे पर लगाने की भी शास्त्रीय-परम्परा है, जो सुखद मानी गई है एवं उसी का विकृत रूप आज की धुरेंडी या कीच-गिलावे (धुरखेल) की फाग है। जैसी कि हेमाद्रि की उक्ति है :—

"प्रवृत्ते मधुमासे तु प्रतिपदि उदिते रवौ।
कृत्वा चावश्य-कार्याणि संतर्प्य पितृदेवताः।
वन्दयेद् होलिकाभूतिं सर्वदुःखोपशान्तये॥"

धुरेंडी और कीच-गिलावे की फाग तो चैत्र-प्रतिपदा को दिन के पूर्वाह्न में होती है, एवं दिन के पराह्न में रंग-गुलाल की फाग होती है। द्वितीया को एवं कहीं पञ्चमी को भी रंग-गुलाल की फाग होती है। इस अवसर का एक राजस्थानी फाग गीत है :—

"होली आई रँगीली रुत ल्याई,
रमण चालौन खेलन खेलन न चालौ री।
फागुन की रुत आई, मिलजुल कैं खेलौ माई,
वाजे रँगीली ढप, बाजे रसीली ढप, वाजे जी।
भर पिचकारी मारी, भींज गई मेरी साड़ी—
रातो बोली यार कैसी होली?
मानों-मानों जी कुँअर कन्हाई, रँगीली रुत आई जी।
उड़े गुलाल सारा हो गया बेहाल,
गावै-गावै दै ताल, होली आई जी।"

बुन्देलखण्ड के ग्रामों में फाग खेलते समय कहीं-कहीं "अ र र र, मैया कबीरा।" कहते हुए फगवारे अश्लील दोहे और गीत भी पढ़ते रहे हैं। स राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्तजी ने इसका शिष्ट एवं संस्कृत रूप हमारे सा रखा है :—

> यों कह उठाके पिचकारी एक सोने की,
> केसर के रंग भरी देकर जयसिंह को --
> दूसरी ले आप अविलम्ब धनी-धोरी ने,
> स र र र धार छोड़ी अ र र र कर के।।
>
> (सिद्धराज से)

ऊपर जो मंगलाचरण के गीत दिए गए हैं वे प्राचीन फाग-गीत ही हैं। इ फाग की लय में गाने के लिए गायक लोग 'अरे हाँ' पद भी प्रत्येक पंक्ति के आ में जोड़ लेते हैं। यथा :—

> "अरे हाँ, अभय तिरसूला पै कासी रच राखी। अरे हाँ।
> ओइ में बसत हैं बम्मन बनियाँ, ओइ में बसत हैं संन्यासी। अरे हाँ।
> अरे हाँ, कहा करत हैं बम्मन बनियाँ, कहा करत हैं संन्यासी। अरे हाँ।
> पुन्न करत हैं बम्मन बनियाँ, तपो करत हैं संन्यासी।
> अरे हाँ, अभय तिरसूला पै कासी रच राखी।।"

'ईसुरी' की चौकड़िया की तरह प्राचीन फागें भी सभी विषय की पाई जा हैं। भगवान रामचन्द्र के विवाह से सम्बद्ध एक फाग की कुछ पंक्तियाँ य प्रस्तुत हैं :—

> "अरे हाँ, हरि की अगन मास लगुना भई, ओइ में रचे हैं वियाव।
> अरे हाँ, जनकपुर हरे बाँस मण्डप छाए।"

संसार-सागर में अपनी डगमगाती हुई जीवन-नैया से सम्बन्धित एक सुन्दर फा है, जिसकी कुछ पंक्तियाँ हैं :—

> अरे हाँ, डोली-डोली फिरै भवसागर में, मोरी बिन करिया की नाव।
> अरे हाँ, डोली-डोली फिरै भवसागर में।
>
> अरे हाँ, काहे की नैया बनी, काहे के बने किरवार। डोली॰
> अरे हाँ, चन्दन की नैया बनी, हरे बाँस किरवार। डोली॰
> अरे हाँ, को जो मोरी नैया बैठि है, को है खेवनहार। डोली॰
> अरे हाँ, राधा मोरी नैया बैठि है, श्रीकृष्णा खेवनहार। डोली॰

कुछ फाग-गीतों में 'अरे हाँ' के स्थान पर 'मोरे रसिया' भी लगाकर गाते है यथा :—

> "राधा की सहेली हो, मनमोहन पै आई। मोरे रसिया।
> जुरमिल कै इक ठौरी हो, पहुँची जितै गुपाल। मोरे रसिया।
> लाल गुलाल लगावैं हो, बरसाने की खोर। मोरे रसिया।

एक ऐसे ही अन्य फाग-गीत की कुछ पंक्तियाँ हैं :

> "राधा खेलैं होरी हो मनमोहन के साथ, मोरे रसिया।
> कै मन केसर गारी हो, कै मन उड़त गुलाल, मोरे रसिया।
> नौ मन केसर गारी हो, दस मन उड़त गुलाल, मोरे रसिया।"

आश्विन मास में उन्हारी फसल की बोनी के समय 'बिलवारी' नाम के जो गीत गाए जाते हैं, उनसे भी उपर्युक्त फाग-गीतों की लय मिलती-जुलती है। कहीं-कहीं ऐसी फागों को 'ढप की फागें' भी कहते हैं। इनका विशद-विवेचन 'बुन्देली का फाग-साहित्य' नामक लेखक के शोध-ग्रन्थ में पठनीय है। प्राचीन फाग-गीतों की विधाओं में एक विधा 'डिढ़ खुरयाऊ' फागें भी हैं। यथा :—

"अटा पै करिया बादर हो आए।
स्यामलिया तम्बुआ तान, अंटा पै करिया बादर हो आए।"

खुर पैर को (छन्द का पाद) कहते हैं। डेढ़ पाद होने से इस फाग का नाम 'डिढ़ खुरपाऊ' फाग हो गया। बुन्देली फाग-गीतों पर सर्वाधिक प्रभाव कबीर, सूर, और मीराबाई के पदों का जान पड़ता है। मीरा अपने गिरधर नागर के साथ होरी खेलते-खेलते उनके चरणों में किस प्रकार लोट-पोट हो जाती हैं, यह आगे के गीत में देखिए :—

"रंग भरी, रंग भरी, रंग सों भरी री,
होरी आई प्यारी, रंग सों भरी री।
उड़त गुलाल लाल भए बादर, पिचकारिन की लगी झरी री।
चोवा, चन्दन और अरगजा, केसर गागर भरी धरी री।
मीरा कहें प्रभु गिरधर नागर, चेरी होय पाँयन में परी री।।"

इसी गीत के वजन पर रचित एक फाग पढ़िए—एक कृषक युवती अपने बाबा से ज्वार को ग्राम से दूर के खेत में बोने का आग्रह कर रही है। कदाचित् उसे भय है कि—ग्राम के निकटस्थ खेत प्रायः उजड़ जाते हैं। उसका कृषि-कार्य में उत्साह एवं श्रमशीलता भी गीत में झलक रही है। गीत है :—

"दूर बौ दूर बौ दूर बौ रे, बाबा! जुनरिया दूर बौ रे!
जब जुनरी भई दो-दो पतौअन, लै खुरपी नींदन गई रे! बाबा०
जब जुनरी भइ करया ऊपर, तौ हर रे जेलन गई रे! बाबा०
जब जुनरी में मेंढा बनाओ, मार कछोटा चढ़ गई रे! बाबा०

सन्तान न होने के दुःख से दुखी नारी का भगवाम शंकर के प्रति विनय का एक निम्न फाग-गीत कितना करुणार्द्र है, पढ़िए :—

"तोरी सेवा करौं दिन रैंन महादेव!
इक फल मोई खाँ लगा दइयो। अरे हाँ, इक०।
ससुरा कहै बहु बाँझुलिया, बाँझ को नाव मिटाव, अरे हाँ, महादेव! इक०।
जेठा कहै बहु बाँझुलिया, बाँझ को नाव मिटाव, अरे हाँ, महादेव! इक०।
देवरा कहै भौजी बाँझुलिया, बाँझ को नाव मिटाव, अरे हाँ, महादेव! इक०।

करौली-निवासी नम्बरदार कुँअर अमोल सिंह भदौरिया ने कई प्राचीन फागों का संग्रह प्रकाशित कराया है। चौक, कानपुर के श्रीकृष्ण पुस्तकालय से प्रकाशित १—फाग रसरंग, २—फाग-महोदधि, ३—फाग मंजरी नामक तीन संकलन लेखक के पुस्तकालय में भी हैं। इनमें उन्होंने फाग-इकताला, फाग-दुताला; फाग-तिताला एवं फाग-चौताला आदि शीर्षक देकर फागें संकलित की हैं। एकताला, दुताला फागें तो पदों की लय-धुनि में हैं, आपके संग्रहों की तिताला और चौताला फागों में से एक-एक फाग यहाँ प्रस्तुत है :

१—फाग तिताला

"हमें ननदो ! जनि बोलौ बोल ? (टेक)
तुम सुनिए वचन कठौर। हमें ननदो० ।"

इत्यादि……(फाग मंजरी से)

२—फाग चौताला दहकवा

"दिल्ली माँ बेला कुँआरी, ऊदल ! चलौ ब्रह्मा कौं ब्याह लैवे।
काहे के खम्बा गड़े, गड़े खम्बा न हों, काहे लै माँड़व छवाव।
ऊदल, चलौ ब्रह्मा कौं ब्याह लैये।
आधे मँडवा परैं भाँवरी, आधे मँड़वा परैं हो।
आधे चलै तलवार, ऊदल, चलौ ब्रह्मा कौं ब्याह लैये ॥"

प्राचीन फागों के कवि श्री फकीरे लालजी की 'गाँधी-वहार' पुस्तक में—जो चिन्तक प्रेस, जबलपुर से प्रकाशित है—में राष्ट्रीय फागें रची गई हैं। यहां फागों की दो-दो पंक्तियाँ दी जा रही हैं :—

फाग श्री गान्धीजी की।

"समर जीते हैं गान्धी भारत में। फिर बिना तोप-तलवार।
बिना तोप-तलवार राज लैलओ है भारी।
कांगरेस-सरकार हुकुम सब में रओ जारी ॥ समर० ।"

फाग श्री चरखा चक्रव्यूह।

"फन्दा जो बांकौ लगो गान्धी जी कौ, चरखा भओ चक्राव्यूह ।"

× × × ×

"हो गई अनुचित भाई, जग में हो गई अनुचित भारी लाल।
गान्धी कौं गोली मारी। जग में हो गई अनुचित भारी लाल।"

फकीरे लाल जी की सभी फागें राष्ट्रीयता से प्रभावित हैं। 'फागकारों' पर काल का प्रभाव पड़ा है। एक गीत में एक वीरांगना की उक्ति सुनिए। पति र वीर गति को प्राप्त हो गया है, तब यह बुन्देली वीरांगना क्या कहती है :—

"सदा न तुरैया अरे ! फूलै हो, सदा न सावन होय।
सदा न राजा अरे रन जूझें, सदा न जीवै कोय ॥"

प्रसिद्ध जैनाचार्य जी श्री हेमचन्द्र जी ने भी इसी प्रकार की वीरांगना का निम्न दोहे में अंकित किया है :—

"भल्ला हुआ जो मारिया, बहिणि ! महारा कन्त।
लज्जेज तु वयंसि अहु, जइ भग्गा घर एन्तु ॥"

अन्तर केवल इतना है कि—"सदा न राजा अरे रन जूझें" में एक सहृदयता, शील और विनय भी सुरक्षित बना रहा एवं "भल्ला हुआ जो मारि और "जई-भग्गा घर एन्तु" में दूसरी की सहृदयता का पता ही नहीं चलता। बुं फाग-गीतकारों या लोक-गीतकारों के हृदय से नारी सुलभ सौकुमार्य तथा वे की तीव्रानुभूति तिरोहित नहीं हो सकी। इस प्रकार हम देखते हैं कि ह 'ईसुरी' के पूर्ववर्ती फाग-गीतकारों की रचनाएँ भी बड़ी महत्वपूर्ण हैं एवं बुं भाषा को गौरव प्रदान करनेवाली हैं। □

राम जन्म

□ **डॉ० रामशरण सिंह**

हिन्दू समाज में पितृऋण को विशेष महत्त्व प्राप्त है। बिना पुत्र के सद्गति नहीं मिलती। और पुरखों की मंगल कामना के बिना, वह परिवार सुखी और समृद्ध नहीं होता। वह दूध पूत से लसता है न विहँसता है।

इसलिए विवाह के अवसर पर पुरखे वर-वधू को आशीर्वाद देते हैं :—

बाढ़ो तो कवन देइ के नइहर;
दुलहिनि कवन देइ के सासुर।

और आगे कहते हैं :—

अमवा की नाईं बाबू बउरेउ,
महुअवा कुच लाग्यो।
पुरइन पात अस पसरै,
कँवल अस विहसै हो।

और फिर राम तो लोक-जीवन में सबसे आदर्श पुत्र हैं। राम सरीखे पुत्र घर-घर में हों, यही लोक की कामना है।

आज चैत के शुक्ल पक्ष की नवमी है। अयोध्या में लोक-नायक राम का जन्म हुआ है। अवध की नारियाँ भी न्यौछावर करने जा रही हैं :—

चैत के तिथि नवमी तो नौबति बाजइ हो,
बाजइ दशरथ राज दुवार कौसिल्ला रानी मंदिर हो।
चलहु न सखिया सलेहरि मिलि जुलि चलतियु हो,
जहाँ राजा के जन्में हैं राम करीं नेवछावारि हो।
केहू नावइ बाजूबन्द केहू कजरावट हो,
केहू नावइ दखिनवा कै चीर करहिं नेवछावरि हो।

आज अयोध्या में, बड़े तप और बड़े प्रयत्न के बाद राम का जन्म हुआ है। राजमहल के साथ-साथ लोक-जीवन में भी अभूतपूर्व उल्लास और उछाह है। लोक की नारियाँ राम को न्योछावर कर रही हैं।

जन्म होने पर फूल की थाली बजती है। धड़ाधड़ तोपें छूट रही हैं। गहगह बाजे बज रहे हैं। घर-घर सोहर का गीत गूँज रहा है। आज राम का निवासन

है। आँगन में मंडप बना है। चौक पूरी गई है। नाइन ने रानियों की ऐंड़ि में गहवर महावर भर दिया है। रानियाँ अधिक रमणीय हो उठी हैं। पाय नूपुर की झनकार के साथ इधर-उधर आ जा रही हैं। आँगन गूँज रहा है। रा दशरथ पुरोहित से राम के शुभ जन्म नक्षत्र ओर लक्षण के बारे में पूछ रहे हैं।

पुरोहित पंडित कह रहा है, कि राम का अन्म तो बहुत शुभ घड़ी रोहिणी नक्ष में हुआ है, किन्तु इनको वनवास लिखा हुआ है।

राजा दशरथ के पुत्र हुआ है, वे घर-घर घूम रहे हैं। पंडित को बुला रहे हैं:-

घर घर फिरई राजा दशरथ पंडित बुलावई।
पंडित खोलहु न पोथिया पुरान तो सुघरी विचारहु हो॥
वहुतै सुघरी रामा जनमे तो रोहनी नछत्र में हो।
राजा बरहा बरसि के जौ होइहैं तो बन का सिधारिहौं।
वमन के पूंत जौ न होतेउ त जियरा भरवतउ हो,
मोर यतना तपस्या कै राम तौ बन जइहैं भाखेहु हो।

पुत्र जन्म के उत्साह और उल्लास में कौशल्या रानी मगन हैं। खूब दान क रही हैं। न्योछावर लुटा रही हैं। कौशल्या का यह उछाह देख कर राजा दश कहते हैं:—

बाउर हो रानी कौसिल्या रानी, के न बउरावा हो,
रानी धीरे धींरे पटना जुटावउ तौ राम बन जइहैं हो।

राजा दशरथ कहते हैं, कौशिल्या रानी तुम पागल हो गई हो। धीरे-धी दान दक्षिणा करो, बारह बरस में राम वन चले जायेंगे। कौशल्या उत्तर देती हैं:-

बाउर हो राजा दशरथ, केन बउरावा हो,
राजा छूट बझिनिया के नाउं भले बन जइहें हो।

कौशिल्या कहती हैं, 'हे राजा दसरथ, तुम पागल हो गये हो। बाँझिन अभिशाप तो छूट गया भले राम वन जावेंगे।"

राम के जन्म का यह उछाह, एक लोक का उछाह है। इसमें राजमहल राज्य के उछाह और टीमटाम का चित्रण नहीं हैं। राम अपने विशिष्ट मर्या चरित्र के कारण ही लोक में व्याप्त हो गये। उसके फलस्वरूप भारत का प्र पुरुष राम, प्रत्येक नारी सीता और परिवार का प्रत्येक पुरुष दशरथ माना जाता और इनके नाम से ही आज भी लोकगीत गूँजते हैं।

□

राजस्थानी लोकगीत 'पणिहारी' का भारत-व्यापी महत्त्व

—डॉ० मनोहर शर्मा

राजस्थान लोक-साहित्य का रत्नाकर है, जिसमें अनेक प्रकार के अनमोल रत्न बड़ी संख्या में भरे पड़े हैं। हर्ष का विषय है कि पिछले कुछ समय से साहित्य-संशोधक विद्वानों का ध्यान इस दिशा में गया है और उनके श्रम का मधुर फल सर्व-सुलभ हुआ है परन्तु इस विषय में और भी अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है, जिससे कि इस साहित्य-सम्पत्ति का यथार्थ रूप में मूल्यांकन हो सके।

राजस्थान में जहाँ 'पवाड़े' आदि महा-गाथाएँ हैं, उसी प्रकार यहाँ अनेक 'झीड़े' (जनकाव्य) भी लोक-प्रचलित हैं। यहाँ अगणित 'कहावतें' हैं और उनके साथ ही बहु-संख्यक लोक-सुभाषित भी जनमुख पर अवस्थित हैं। यहाँ 'लोक-कथाएँ (वातें)' रुचिपूर्वक कही-सुनी जाती हैं तो 'लोकगीत' भी उतनी ही बड़ी संख्या में हुलास से गाए जाते हैं।

इस सम्पूर्ण साहित्य-सामग्री में सभी विधाओं का अलग-अलग अपना महत्त्व है परन्तु सरसता तथा रंजकता के विचार से यहाँ के लोकगीतों को ही सर्वाधिक महिमा-मय मानना उचित प्रतीत होता है। इन गीतों का विद्वानों ने अनेक प्रकार से वर्गीकरण प्रस्तुत किया है और वे सभी अपनी-अपनी दृष्टि से ठीक हैं। इसी क्रम में इनका एक वर्गीकरण इस प्रकार भी किया जा सकता है—(१) कथागीत और (२) कथा-रहित गीत। जिन गीतों में छोटा या कुछ बड़ा-सा कथा-सूत्र मिलता है, उन्हें 'कथागीत' की संज्ञा दी जा सकती है और जिनमें किसी प्रकार का कथात्मक अंश नहीं रहता, वे दूसरे वर्ग के गीत हैं। कथागीतों को भी सहज ही तीन विभागों में बाँटा जा सकता है—(१) पौराणिक (धार्मिक) कथागीत, (२) ऐतिहासिक कथागीत, और (३) कल्पित कथागीत।

कहना न होगा कि इन सभी विभागों के गीत बड़ी संख्या में लोक-प्रचलित हैं और वे यथावसर बड़े चाव तथा उमंग के साथ जन-साधारण में गाए जाते हैं। इनमें कई गीतों के साथ तो नृत्य भी हैं, जो इनकी रंजकता में विशेष वृद्धि कर देते हैं।

कथागीतों में कुछ अपनी विशेषताएँ भी हैं। इन गीतों में कथा-तत्त्व पर आधारित काव्य-रस में संगीत-रस समाविष्ट रहता है। कथावस्तु में विविध पात्रों का वार्तालाप और उनके गुण-कर्म का प्रकाशन सहज ही चित्त को आकर्षित कर लेता है तो उनका गेय रूप भी लोक-हृदय को रस-सागर में निमग्न कर देता है। इसी दृष्टि से आगे राजस्थान के 'पणिहारी' नामक कथागीत पर कुछ प्रकाश डालने

की चेष्टा की जाती है, जो इस प्रदेश के सर्वश्रेष्ठ लोकगीतों में से एक है औ
जिसका सांस्कृतिक महत्त्व मात्र प्रान्त-व्यापी ही नहीं परन्तु देश-व्यापी है तथा भार
की भावात्मक एकता का उज्ज्वल प्रतीक है। सर्वप्रथम 'पणिहारी' का मूल स्वरू
द्रष्टव्य है—

(१)

काली कलायण ऊमटी ए पणिहारी ए लोय,
मोटी-मोटी छांट्यां बरस्यो मेह, वाला जो।
भर नाडा, भर नाडिया ए पणिहारी ए लोय,
भरियो-भरियो समँद-तलाव, वाला जो।
किण जी खुदाया नाडा-नाडिया ए पणिहारी ए लोय,
किण जी खुदाया ए तलाव, वाला जो।
सुसरोजी खुदाया नाडा-नाडिया ए पणिहारी ए लोय,
पिवजी खुदाया ए तलाव, वाला जो।
किण सूं वधावां नाडा-नाडिया ए पणिहारी ए लोय,
किण सूं वधावां ए तलाव, वाला जो।
नारेलां वधावां नाडा-नाडिया ए पणिहारी ए लोय,
मोतीड़ां वधावां ए तलाव, वाला जो।

(२)

सात सहेल्यां रै झूमखै ए पणिहारी ए लोय,
पाणीड़ै नैं गई ए तलाव, बाला जो।
घड़लो न डूबै ताल में ए पणिहारी ए लोय,
ईंडूणी तिर-तिर जाय, बाला जो।
सातूं सहेल्यां पाणी भर चली ए पणिहारी ए लोय,
पणिहारी रही ए तलाव, बाला जो।
वैंवतै ओटी नैं हेलो मारियो, ओ लंजा ओठीड़ा ओ लोय,
घड़ियो तो उठावतो जाय, बाला जो।
ओरां रै काजल-टीकियां ए पणिहारी ए लोय,
थांरोड़ा फीका क्यूं नैण, बाला जो।
ओरां रै ओटण चूनड़ी ए पणिहारी ए लोय,
थांरोड़ो मैलो क्यूं वेश, बाला जो।
के तो सासू थांरै सावकी ए पणिहारी ए लोय,
के थांरो पीवरियो परदेस, बाला जो।

नां तो सासू म्हांरे सावकी ओ लंजा ओठीड़ा ओ लोय,
नां म्हांरों पीवरियों परदेस, वाला जो ।
ओरां रा पिवजी घर बसै ओ लंजा ओठीड़ा ओ लोय,
म्हांरो तो बसै परदेस, वाला जो ।
घड़ियो पटक दे नीं ताल में ए पणिहारी ए लोय,
चालै नीं ओठीड़ै री लार, बाला जो ।
बालूं तो जालूं थारी जीभड़ी-रै लंजा ओठीड़ा ओ लोय,
डसियो तनैं कालो ए नाग, वाला जो ।
चालै तो घड़ा द्यूं तनैं वाडलो ए पणिहारी ए लोय,
चालै तो नवसर हार, वाला जो ।
इसड़ा वाडलिया म्हांरै घर घणा रै लंजा ओठीड़ा ओ लोय,
खूंट्यां टंग्या नवसर हार, वाला जो ।
चालै तो चितरा द्यूं तनैं चूड़लो ए पणिहारी ए लोय,
चालै तो दिखणी चीर, वाला जो ।
चुड़लो चितरासी उण रो सायबो रै लंजा ओठीड़ा ओ लोय,
चूनड़ी उटासी म्हांरो वीर, बाला जो ।

(३)

घड़लो तो भर पाछी मुड़ी ए पणिहारी ए लोय,
आई-आई फलसै रै बार, वाला जो ।
घड़ियो पटक द्यूं ऊभी चौक में ओ म्हांरा सासूजी ए लोय,
वेगो-सो घड़ियो उतराव, वाला जो ।
किण थांनैं मोसो मारियो ए म्हांरा वहूजी ए लोय,
किण थांनैं दीनी छै गाल, बाला जो ।
एक ओठीड़ो इसड़ो मिल्यो ओ म्हॉरा सासू जी ए लोय,
पूछी म्हांरै मनड़ै री वात, थाला जो ।
किण तो सरीखो डीघो-पातलो ओ म्हांरा बहूजी ए लोय,
किण जी रै उणिहार, वाला जो ।
देवर जी सरीखो डीघो-पातलो ओ म्हाँरा सासूजी ए लोय,
नणदल बाईसा रै उणिहार, वाला जो ।
थे तो वहू भोला घणा ओ म्हांरा बहूजी ए लोय,
यो तो थांरो ही भरतार, बाला जो ।

इस गीत में तीन दृश्य हैं। प्रथम दृश्य में पृष्ठभूमि के रूप में वर्षा-वर्णन है, जो मरु-प्रदेश के लिए सौभाग्य का सूचक है। दूसरे दृश्य में सरोवर पर पनिहारिनों

के जमघट का चित्रण है, जो राजस्थानी जन-जीवन का एक सरल और स्वाभावि स्वरूप है। इसी दृश्य में गीत-नायिका और 'ओठी' (ऊंट-सवार) का वार्तालाप है। तीसरे दृश्य में पनिहारी के घर पर उसकी सास के साथ उसका वार्तालाप होता है। कथोपकथन के इन प्रसंगों ने गीत में आश्चर्य-जनक नाटकीयता प्रकट करके इसे विशेष आकर्षक बना दिया है।

'पणिहारी' गीत की 'वस्तु' का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—

एक युवती जल लाने के लिए अपनी सहेलियों के साथ सरोवर पर जाती है। सरोवर गांव के बाहरी भाग में है। सहेलियां तो पानी के घड़े भर कर घर आ जाती हैं परन्तु युवती वहीं रुक जाती है। वह चिंतित-सी है। इसी समय उस मार्ग से एक 'बटावू' आता है और वह युवती से उसके मैले वेश का कारण पूछता है। वह कहती है कि उसका पति 'परदेश' गया हुआ है अतः उसने शृंगार छोड़ रखा है। इस पर राहगीर उसे अपने साथ चलने के लिए कहता है तो उसे (युवती को) बड़ा क्रोध आता है और वह उसे बुरी तरह फटकारती है। राहगीर चुपचाप चल जाता है और युवती क्रोधित अवस्था में अपने घर आती है। घर पर उसकी सा उससे क्रोध का कारण पूछती है तो वह सरोवर वाला वृत्तान्त कह सुनाती है। पू बात सुनकर सास कहती है कि वह बटावू तो उसी का पति है, जिसे व पहचान भी नहीं पाई और जो घर में आ पहुँचा है। इस प्रकार यह गीत-कथ विनोद-रस के साथ पूरी होती है।

गीत-नायिका प्रोषित-पतिका है। वह शीलवती है परन्तु साथ ही बड़ी भो भी है, जो प्रवास से लौटने वाले अपने पति तक को नहीं पहचान पाती। उसक पति उसके शील की परीक्षा लेता है, जिसमें वह खरी उतरती है। इस प्रका दाम्पत्य-जीवन के प्रेमरस से सुवासित यह गीत आनंद के वातावरण में समाप होता है।

साथ ही ध्यान रखना चाहिए कि 'पणिहारी' गीत का नाद-सौन्दर्य अत्यधि आकर्षक तथा रंजक है। जिस प्रकार संगीत-शास्त्र में अनेक राग-रागिनियां अ निश्चित स्वरूप में सुप्रतिष्ठित हैं, उसी प्रकार लोक-संगीत की अनेक 'देशियां' (धु या ढालें) भी अपना एक निश्चित रूप धारण करके सम्मानित हो चुकी हैं। रा स्थान में इस प्रक्रिया ने विशेष प्रचार-प्रसार प्राप्त किया है। यहाँ 'घूघरी की ढाल 'सजनां की ढाल', 'जल्लै की ढाल' आदि के समान 'पणिहारी की ढाल' का अपना स्वतंत्र और सम्मानित स्थान है। यही कारण है कि इन 'ढालों' (तर्जों) अनुकरण पर अनेक 'स्तुति-गीत' या 'हरजस' ही नहीं, बड़ी संख्या में पारिवारि गीत भी बने हैं और वे यथावसर बड़े चाव के साथ गाए जाते हैं।

'पणिहारी' गीत का स्वर-माधुर्य तो अनिर्वचनीय है। वहाँ सरल लोक-सं

नहीं है। यह गीत पीयूष-वर्षी संस्कृत-कवि जयदेव के गीत गोविंद काव्य की सुप्रसिद्ध अष्टपदी 'जय जगदीश हरे' की गति के अनुसार चलता है और शास्त्रीय-संगीत तथा लोक-संगीत का संगम-सा प्रस्तुत करता है। इस 'देशी' का ऐतिहासिक संदर्भ भी ध्यातव्य है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) के इन्दौर अधिवेशन की अध्यक्षता राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी कर रहे थे। वहाँ स्वर्गीय मुंशी अजमेरी ने 'पणिहारी' गीत गाना प्रारंभ किया तो सारी सभा मंत्रमुग्ध हो गई। महात्माजी ने गायक को मात्र तीन मिनट का समय दिया था परन्तु वे भी इस गीत की स्वर-लहरी से इतने आह्लादित हुए कि दस मिनट का समय दे दिया।

सबसे बड़ी बात है, 'पणिहारी' गीत की जनप्रियता। वस्तुतः राजस्थान में तो इस 'कथानक' को इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई कि इसके आधार पर देव-दम्पति शिव-पार्वती तथा राधा-कृष्ण विषयक गीत तथा 'हरजस' भी तैयार हो गए और लोग उन्हें भक्ति के क्षणों में बड़े उत्साह के साथ गाकर धन्य होते हैं। शिव-पार्वती सम्बन्धी गीत का मुख्य अंश इस प्रकार है—

करवा रे करवा, गोरां जल भर बावड़ी,
करवा रे करवा, आई सासूजी कै पास।
गोरां ए गोरां, संग की सहेली सब बावड़ी,
गोरां ए गोरां, तूं क्यूं रही ए तलाव।
सासू ए सासू, एक बटावू मिल गयो,
सासू ए सासू, पूछी म्हांरें मनड़ै की बात।
गोरां ए गोरां, कूण सरीखो पातलो,
गोरां ए गोरां, कूण्यां कै हुणियार।
सासू ए सासू, देवर सरीखो पातलो,
सासू ए सासू, नणदल कै हुणियार।
गोरां ए गोरां, भाज सकै तो भाज ले,
गोरां ए गोरां, बो ही थांरो भरतार।

इसी क्रम में राधाकृष्ण विषयक 'हरजस' का भी कुछ अंश देखिए—

गम गई ईंडूणी हरे राम ।। टेक ।।
सात सैयां कै झूमखै ए, राधा राणी गई ए तलाव ।। गम० ।।
ओर सखी सब रंगी-चंगी ए राधा राणी थांरा क्यूं फीका नैण ।। गम० ।।
ओरां का परन्या घर बसै ओ, बटावू म्हांरो किसन परदेस ।। गम० ।।
चालै तो सागै ले चलूं ए, राधा राणी होय ज्यावो म्हांरी लार ।।गम० ।।
लाजै म्हाँरो पीहर सासरो रे, बटावू लाजै म्हांरो सब परवार ।। गम० ।।

कहना न होगा कि ये भक्ति-गीत स्पष्ट ही 'पणिहारी' लोकगीत के कथानक के साथ सप्राण हैं।

इतना ही नहीं, पणिहारी गीत की कथावस्तु भारत के अति-विस्तृत भूमाग में लोकप्रिय है और वह स्थानभेद के अनुसार साधारण रूपभेद में दूर-दूर तक बड़े उल्लास के साथ गाई जाती है। इस विषय में आगे कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जो भारत की भावात्मक एकता के उज्ज्वल निदर्शन हैं।

सबसे पहले राजस्थान के निकटवर्ती हरियाणा प्रदेश में गाए जाने वाले 'पणिहारी' विषयक लोकगीत का प्रमुख अंश देखिए—

मेरै सिर पर बंटा-टोकणी, मेरै हाथ में नेजू-ढोर,
मैं पतली सी कामर्णी।
एक राह-बटावू जा रैयो, छोरी एक घुंट पाणी प्याव,
मैं परदेसी दूर न्यो।
छोरा, नां मेंरी डूबै टोकणी छोरा नां मेरो लुलै ए सरीर,
मैं पतली सी कामणी।
छोरा, कूण्यां को तूं पावणो, छोरा कूण्यां को लणिहार,
मैं पतली सी कामणी।
छोरी तेरै बाप को पावणो, छोरी तेरो ही लणिहार,
मैं परदेसी दूर को।
छोरा अब मेरी डूबै टोकणी, छोरा अब मेरो लुलै ए सरीर,
मैं पतली सी कामणी।
मेरी माय खिनाई सासरै, मेरी तास खिनाई रंगम्हैल,
मैं पतली सी कामणी।

इस गीत में नायिका अपने पीहर में है और कुंए पर उसकी भेंट अपने प से होती है, जिसे वार्तालाप के बाद वह पहचान लेती है।

अब इसी विषय में पंजाब के लोकगीत का कुछ अंश द्रष्टव्य है—

खूटे ते पानी भरें दिये मुटियारेनी,
घुट्टक पानी पिला मुल्लिये मुटियारेनी।
× × × ×
"घड़ा तां तेरा भज्ज जाय तेरा मुटियारेनी,
इन्नूं तां रह जाय हथ्थ भोलिये नारेनी।"
"नीला घोड़ा तेरा मर जाय सिपाहिया वे,
चाबुक रह जाय हथ्थ मुल्लिया राहिया वे।"
× × × ×
"रत्तड़े पीढे बैठिये तुम मायेनी,
सिर लें घड़ा लुहा रानिये मायेनी।"

"घड़ा तां तेरा लुहा दियां सुन धीयेनी;
किथ्थों आईएं तिरकालायां रानिये धीयेनी।"

× × × ×

"शाबाशे तेरी बुद्ध दे मुटियारेनी,
धन्न जनेदड़ी मां मोलिये नारेनी।"

अब गुजरात में गाए जाने वाले 'पणिहारी' विषयक लोकगीत के कुछ अंश देखिए—

क्यां रे गाज्यो ने क्यां वरसीयो रे,
कये गांव भरीया तलाव, रे मेवाड़ा।
ओतर गाज्यो ने दखण वरसीयो रे,
राणपुर भरीया तलास, रे मेवाड़ा।

× × × ×

"मांई रे भाड़ाती वीरा वीनवूं रे,
मुज ने घड़्लो चडाव्य, रे मेवाड़ा।"
"फोडया कड़ी कर कांछला रे,
मारी वेल्ये वेसी आब, रे मेवाड़ा।"
"घड़ो फोड़े तारी मावड़ी रे,
वेल्य मां वैसे तारी बेन, रे मेवाड़ा।"

× × × ×

"वन रा ते वन ने मारगे रे,
गोरी, तारा बोलड़ीया संभारच, रे मेवाड़ा।"
"तमें ने वन ना मोरला रे,
अमें ढलकती ढेल्य, रे मेवाड़ा।"

अब इसी 'वस्तु' को ब्रज में गाए जाने वाले गीत में देखिए, जिसके प्रमुख प्रसंग नीचे लिखे अनुसार हैं—

वर के तो गोदें झूलती,
ए बटाऊ ढोला, सात सहेलिन बीच।

× × × ×

"संग चले तो ले चलूं,
ए मेरी पीहर-प्यारी, चलउ हमारे साथ।"
"डाटी रे मूंडूं तेरै बाप की,
ए बटाऊ ढोला, मोंछन डारूंगी अंगार।"

× × × ×

"एक बटाऊ ढोला न्यौं कहे,
ए मोरी सासुलि रानी, चलउ हमारे साथ।"
कैसे तो विन पै कापरे,
ए मोरी बहुअलि रानी, कौन उमरि उनिहारी।
"छोरे तो विन पै कापरे,
ए मोरी सासुलि रानी, ल्हौरे दिवर उनिहारि।"
"वे ई तो तोरे साहिबा,
ए मोरी बहुअलि रानी, चली क्यों न गई विन के साथ।"

आगे इसी 'वस्तु' को अवध के लोक-गीत में भी देखिए, जिसके कुछ प्रसंग लिखे अनुसार हैं—

राहइ पर एक कुंइयां, संवरि एक पानी भरै,
घोड़वा चढ़ल एक राजपुत, हम से खियाल करै।
× × × ×
"बहु, केसन उन कर घोड़वा, त कइसनि लगाम लागि।
बहु, कवने बरन बनजरवा, कवनि पाग बांधइ।"
× × × ×
गचियैं बैठी है सासु, विहँसि बतिया बोलइ।
बहु, तरि के तोरा हरा है, लिमांन विदेसिवा न चिन्हिऊ।

उपर्युक्त विविध उद्धरणों को देखने से स्पष्ट होता है कि स्थानभेद के अनुस इस 'वस्तु' में कुछ रूपभेद अवश्य हुआ है परन्तु मूलतः सर्वत्र इसकी आत्मा एक है।* स्वर्गीय नरोत्तमदास जी स्वामी ने 'पणिहारी' लोकगीत के सम्बन्ध में है—"राजस्थान की आत्मा इस गीत में सन्निविष्ट है। राजस्थान का हृदय ही स्थान पर देखना हो तो इस गीत को देखें।"

ऊपर दिए गए उद्धरणों के आधार पर स्वर्गीय स्वामी जी के वक्तव्य को प्रकार विकसित किया जा सकता है—"भारत की आत्मा इस गीत में सन्निविष्ट भारत का हृदय एक ही स्थान पर देखना हो तो इस गीत में देखें।"

□

---

* भोजपुरी क्षेत्र में गाए जानेवाले गीतों में 'पनिहारिन' के विविध उपलब्ध होते हैं। एक गीत में तो 'पणिहारी' का ही कथानक है अन्तर नायक की सवारी में है। भोजपुरी क्षेत्र का नायक विदेश से 'घोड़वा चढ़ल' है, घुड़सवार के रूप में आता है। —संपाद

एक पत्र

लोकवार्त्ता और जनपदीय आन्दोलन

कृष्णानन्द गुप्त
पो०—गरौठा, झाँसी, उ० प्र०

प्रिय श्री आंजनेय जी,

आपके दो कृपापत्र एवं जनपदीय अंक के सम्बन्ध में आपकी एक छपी हुई विज्ञप्ति मुझे समय पर मिल गई थी। उस सब की पहुँच उसी समय दे चुका था। मुझे बड़ा खेद है कि अपने पुत्र की अस्वस्थता के कारण मैं शीघ्र आपको कुछ लिख नहीं सका। वह अब भी पूर्ण स्वस्थ नहीं है।

जनपदीय अंक के प्रकाशन की बात जानकर मुझे विशेष प्रसन्नता हुई है। आप के इस परम कल्याणकारी एवं उपयोगी आयोजन की पूर्ण सफलता चाहता हूँ। जनपदीय कार्य मेरे हृदय के निकट रहा है। आज से ४० वर्ष पूर्व टीकमगढ़ में रहते समय प्रसिद्ध हिन्दी हितैषी और प्रेमी (अब स्वर्गीय) ओरछा नरेश श्री वीर सिंह जूदेव की आर्थिक सहायता से और उनकी संरक्षता में मैंने लोक साहित्य एवं लोक संस्कृतियों के वैज्ञानिक अध्ययन को प्रगति देने के उद्देश्य से लोकवार्त्ता परिषद् (फोकलोर सोसायटी) नाम की एक संस्था स्थापित की थी और उससे 'लोकवार्त्ता' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका भी प्रकाशित की थी। यह 'लोकवार्त्ता' शब्द मैंने अंग्रेजी फोकलोर के पर्याय के रूप में ग्रहण किया था। मेरे लिए यह परम हर्ष और संतोष की बात है कि यह शब्द अब हिन्दी में चल पड़ा है और लोकवार्त्ता नाम से दो-एक पुस्तकें भी हिन्दी में मेरे देखने में आई हैं। इन ४० वर्षों में हिन्दी अब पर्याप्त बढ़ गई है और लोक साहित्य अथवा कहना चाहिए फोकलोर पर ही कई उत्कृष्ट रचनायें प्रकाश में आई हैं। वे सब यद्यपि शालोपयोगी ही अधिक हैं किन्तु फिर भी उनकी अच्छाई एवं उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। फिर भी जहाँ तक मैं समझता हूँ 'लोकवार्त्ता' हिन्दी में अपने ढंग की पहली पत्रिका थी, जिसने लोक साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन को प्रेरणा दी और एक महत्त्वपूर्ण कार्य इस दिशा में किया। स्व० सुनीति बाबू ने समस्त भारतीय पत्रिकाओं में इसे निराली और अनोखी बताया था। वह जो कुछ हो। अध्ययन, अनुभव, अनुशीलन एवं आयु के प्रभाव से एक जागरूक व्यक्ति के विचारों में उल्लेखनीय परिवर्तन घटित हो जाता है। मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ है। लोक साहित्य एक साथ ही एक विज्ञान और एक कला भी है। उसकी पाश्चात्य ग्रन्थों में ४० से अधिक विभिन्न परिभाषायें मिलती हैं। इस कारण ठीक तौर से यह कहना कि लोक साहित्य अथवा फोकलोर आखिर है क्या और उसके अध्ययन अनुसंधान का क्षेत्र भी क्या है सहसा बड़ा कठिन और विपद् संकुल भी है। डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त ने केवल प्राणिजगत् के विशेष क्षेत्र को ही नहीं वल्कि अन्य क्षेत्रों को भी गहराई से प्रभावित किया। लोगों ने सोचा कि मानव जैसे एक जटिल जीव का विकास जब एक सूक्ष्म जीव से हुआ है तब निस्सन्देह मानव के रीति-रिवाज, विश्वास, धर्म, साहित्य और कला इन सब के क्रमिक विकास का इतिहास हमें मिलना चाहिए। इसके लिए उन्होंने संसार में जहाँ-जहाँ असभ्य और पिछड़ी जातियाँ विकास कर रही थीं, उनके रीति-रिवाजों और धार्मिक अनुष्ठानों का अध्ययन शुरू किया। साथ ही इस विषय पर उन्होंने कुछ ऐसी पुस्तकें भी लिखीं, जिनसे इस विषय में रुचि रखने वाले जिज्ञासु पाठकों

को स्वयं अध्ययन में सहायता मिल सके। शुरू-शुरू में ये सब पुस्तकें हिन्दी लोक साहित्य प्रेमियों और अध्येताओं के हाथ लगीं। उनके आधार पर ही सबने लोक साहित्य की परिभाषायें ही स्थापित नहीं की, अपितु पाश्चात्य विद्वा द्वारा निर्देशित अध्ययन की दिशाओं को भी, जो अधिकांश स्थलों पर बड़ी भ्राम थीं, ज्यों-का-त्यों अपना लिया। उसका परिणाम यह हुआ कि हम अपने देश अब भी लोक साहित्य के अध्ययन और अनुसंधान का स्वतंत्र मार्ग नहीं खोज हैं। यहाँ लोक साहित्य से मेरा अभिप्राय अधिकतर उस विषय से ही है जि अंग्रेजी में फोकलोर नाम दिया जाता है। इस फोकलोर नामक वस्तु के सम्ब में मेरे विचार अब बहुत कुछ बदल गये हैं और उसके साथ ही जनपदी आन्दोलन और जनपदीय कार्य के सम्बन्ध में भी।

इस जनपदीय आन्दोलन की—अब देखता हूँ—सब से बड़ी त्रुटि यह रही कि वह भावुकतापूर्ण अधिक रहा है। अध्ययन की कोई ऐसी निश्चित दिशा नहीं सुझाई गईं, जैसी कि पाश्चात्य विद्वानों ने अपने यहाँ सुझाई। इस आन्दोल में लोक-साहित्य और जनपदीय भाषाओं के साथ ही जन, भूमि, पशुपक्षी आ के अध्ययन के लिए प्रेरित तो किया गया किन्तु जहाँ तक मेरी जानकारी है लो गीतों, लोककथाओं अथवा कहावतों को छोड़कर किसी भी क्षेत्र में उक्त आन्दोल की प्रेरणा से अथवा उसके निरीक्षण में कहीं कोई कार्य नहीं हुआ। इस प्रका यह आन्दोलन केवल एक आन्दोलन बन कर ही रह गया है। यदि उसके अनुसा वास्तव में कुछ काम होना है, यदि एक इतने अच्छे आन्दोलन को मरने से बचान है तो यह अत्यन्त आवश्यक है। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लेक उन्नीसवीं के अन्त के मध्य में ईसाई मिशनरियों, यात्रियों, विभिन्न ज्ञान-पिपा व्यक्तियों एवं ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश सरकार के कर्मचारियों विभिन्न क्षेत्रों में जो यह महत्वपूर्ण कार्य यहाँ आकर किया और जो सब-का-स नहीं तो अधिकांश में शुद्ध रूप में और सच्चे अर्थ में जनपदीय कार्य के सिवा औ कुछ नहीं था उसका एक पूरा लेखा-जोखा लिया जाये उसका एक सर्वांग-सम्पू इतिहास लिखा जाये और साथ ही अन्वेषण और अध्ययन की जिस पद्धति औ जिस निष्ठा और लगन से यह सब काम हुआ उसका भी विवरण उपस्थित कि जाये।

पादरी जेम्स लौंग ने सन् १८६८ में दो हजार बंगाली कहावतों का ए बहुत बढ़िया संग्रह प्रकाशित किया। सम्भवतः वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इ देश में कहावतों के सामाजिक एवं भाषाई महत्त्व की ओर पाठकों का ध्या आकर्षित किया। उन्होंने भारतवासियों के सामाजिक जीवन का विभिन्न दृष्टि से अध्ययन करने में सहायता पहुँचाने के लिए ५०० प्रश्नों की एक सूची तैया की थी, जो उन्हीं दिनों छपी भी थी। वह इतनी महत्वपूर्ण है कि आज जनपदीय कार्य में रुचि रखने वाले कार्यकर्त्ताओं के लिए मार्गदर्शक का काम क सकती है। उसे हिन्दी में प्रकाशित किया जाना चाहिए। साथ ही पादरी जेम् लौंग की जीवनी भी उपलब्ध कराई जानी चाहिए। यद्यपि यह ठीक है कि जिल गजेटियर ब्रिटिश सरकार ने अपने सिविल सर्विस के कर्मचारियों के उपयोग लिए तैयार कराये थे, किन्तु इनकी प्रत्येक जिल्द जिले के सम्बन्ध में ज्ञातव्य तथ्य से भरी पड़ी है। मेरे गाँव की यह जो लखेरी नामक नदी है, वह कहाँ से निक और कहाँ जाकर गिरती है, इसका ज्ञान मुझे पहले-पहल अपने जिले के जिला गजेटियर से ही हुआ। ये बड़े श्रम और यत्न से प्रस्तुत किये गये थे। किसी

प्रकार के जनपदीय कार्य इन गजेटियरों की उपेक्षा की ही नहीं जा सकती। जनपदीय कार्य के अन्तर्गत इन गजेटियरों की तैयारी का इतिहास लिखा जाना चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ अंग्रेजों ने भारतीय भाषाओं और बोलियों पर बहुत ठोस काम किया। उनमें बंगाल सिविल सर्विस के एम० एस० डब्ल्यू फैलन भी एक हैं। उन्होंने आज से सौ वर्ष पूर्व दस हजार से भी कुछ अधिक कहावतों का एक कोश तैयार किया था जो सन् १८८६ में बनारस और लन्दन से छपा। यह संग्रह हिन्दुस्तानी कहावत-कोश के नाम से मेरे द्वारा सम्पादित और संशोधित होकर नेशनल बुक ट्रस्ट दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ है और हिन्दी पाठकों के लिए उपलब्ध है।

भारतीय लोक कथाओं के अंग्रेजी अनुवाद का कार्य भी उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हो गया था। सैकड़ों कहानियों के अनुवाद छपे। ओल्ड हैकन डेज (दक्षिण के बीते दिन) के नाम से मिस फ्रेरर का भारतीय लोक कथाओं का संग्रह सन् १८६८ में छपा था। मिस फ्रेरर बम्बई के तत्कालीन गवर्नर की पुत्री थीं। जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को सामने रखकर उन्होंने अपना यह संग्रह तैयार किया था, उसका आज भी हिन्दी में अभाव है।

पशु-पक्षियों पर तो एक-से-एक बढ़कर पचासों पुस्तकें लिखी गईं। भारतीय लोकवार्त्ता (फोकलोर) के सम्बन्ध में विलियम क्रुक और कप्तान आर० सी० टेम्पल ने तो अद्भुत काम किया। दुःख और लज्जा का विषय है कि हममें से अधिकांश उस कार्य से भलीभाँति परिचित भी नहीं। विलियम क्रुक की प्रसिद्ध पुस्तक 'दि पोपुलर रिलीजन एण्ड फोकलोर ऑफ नर्दर्न इण्डिया' का शायद नया संस्करण दिल्ली के एक प्रकाशक ने प्रकाशित किया है। किन्तु इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद उपलब्ध कराया जाना चाहिए। विलियम क्रुक की जीवनी भी लिखी जानी चाहिए।

स्व० श्री राहुल साँकृत्यायन जी 'गंगा' के पुरातत्व अंक में (सन् १९३३ जनवरी) 'हिन्दी के स्थानीय भाषाओं के वृहत् संग्रह की आवश्यकता' शीर्षक से एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा था। मैं समझता हूँ, वह पहला लेख था जिसमें सभी जनपदीय बोलियों के अध्ययन के साथ संग्रह और आवश्यकता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया था। वह आज भी अपना महत्व रखता है। जनपदीय आन्दोलन को जीवित रखने और उसे आगे बढ़ाने के लिए इस प्रकार की सभी सामग्री का पुनर्मुद्रण आवश्यक है।

मैं अब थक गया हूँ। अधिक श्रम नहीं कर पाता। मेरे इस पत्र में आप को काम की कोई बात जँचे तो आप उसका उपयोग कर लें। विशेष कृपा।

आपका ही
कृष्णानन्द गुप्त

□

मेरे गाँव का ब्रह्मवृक्ष

—डॉ० रामप्रवेश सिंह

मेरे गाँव का ब्रह्मस्थान लोक-जीवन की जीवन्तता और प्रेमानुराग का पवि स्थल है। गाँव की महिनाएँ जब इसके पूजन के लिए यहाँ आती हैं—उस सम नृत्य, गान और लोकानुराग का सात्त्विक उन्मेष काफी प्रभावशाली एवं मोह बन जाता है। हृदय को द्रवीभूत कर लेने और चेतना के तार को झंकृत कर दे वाली इनकी गेयता, मानव आस्था के विभिन्न सोपान बन गयी है। ग्रामी महिलाएँ मण्डलाकर रूप में स्थित होकर दूसरे के कंधे पर अपना हाथ डाल ले हैं और झूम-झूम कर गाती हैं :—

झक झूमर खेले अइलीं बढ़म रउरे अंगना।
हम्मर झूमका हेरा गेल बढ़म रउरे अंगना॥
हम्मर टिकवा हेरा गेल बढ़म रउरे अंगना।
बढ़म दिउ न असीस हम जायब अंगना॥

वस्तुस्थिति यह है कि जिस 'झकझूमर' की बात हमारी ग्रामीण महिला करती हैं—वह एक प्रकार का रास-गान ही है। संभव है इस गान की एक लौकि परम्परा रही हो और तन्मयता की पूर्ण स्थिति का बोध इसी के माध्यम से कि जाता रहा हो। पानी माँगने के क्रम में इसी मुद्रा में हमारे गाँव-घर की बाल 'इन्द्रगीत' गाती हैं—

"हाली हुल्ली बरसऽ हे इन्नर देवता, पानी बिनु परलई अकाल हो ना।
चँवर सुखल, चाँचर सुखल, सुखी गेल भइया के जिरात हो ना॥"

मेरे गाँव का वह ब्रह्मवृक्ष (वट वृक्ष) विशाल आकृति लिए हुए खड़ा है। जीव की समस्त रागात्मक मूल्यों को किंवदन्तियों में समेटे, इसने एक मिथक खड़ा क दिया है। लगता है, इसने कितने परिवर्तन देखे होंगे। कितने आये और काल-कवलि हो गये। कितने उत्थान और पतन की साँस लेते हुए शून्य में विलीन हो गये लेकिन यह वट वृक्ष उनकी आंतरिक प्रज्ञा को, अपनी स्मृतियों में समेटे आज एकाकी खड़ा है। इसकी दो शाखाएँ दक्षिण की ओर प्रार्थना की मुद्रा में फै हुई हैं—ये दो भुजाएँ, किसी अज्ञात अगोचर की शक्ति हैं। वे संरक्षक बनक भी करबद्ध हैं। लगता है, गाँव का यह ब्रह्म वृक्ष अपनी विनम्रता, शिष्टता स्थिरता में धैर्य का प्रतीक बन गया हो। उत्तर और दक्षिण की ओर पीपल

की दो मोटी डालें है। इनका फैलाव इस बात को पुष्ट करता है कि दक्षिण के देवता यम और उत्तर के सत्य इनकी पकड़ से बाहर नहीं हो सकते। सत्य और मृत्यु बनाम मृत्युरूपी सत्य पर ये विजय प्राप्त कर चुके हैं। इसकी सघनता, हरियाली, फैलाव—विभिन्न रूपों और गुणों में ब्रह्म की माया की तरह फैले हुए हैं। लेकिन इसी माया ने लोक को विद्या और अविद्या की दृष्टि दी है। जो सायोज्य जीव है वे इसके निकट कथा-पुराण सुनने के आदी रहे हैं। जो बद्ध हैं वे इसके निकट जुआ और ताश खेलते हैं और जो सामोक्ष हैं वे इसे ब्रह्म मानकर भी इसकी छाया से अपने को दूर रखते हैं। कोई इसकी डाल' पर 'डोलपात' खेल रहा है तो कोई इसके बड़गद की झूला झूल रहा है, कोई इसके कोटर में बैठकर प्रेमालाप कर रहा है तो कोई खाट बिछा कर आराम कर रहा है। पुरानी पीढ़ी के लोग समाप्त हो गये हैं। जो हैं भी वे निरक्षर और ठेठ गँवार हैं। उनके पास स्मृतियों की कोई धरोहर नहीं जो बता सकें—यह वृक्ष कितना पुराना है।

बचपन की मेरी अधिकांश रातें यहीं कटी हैं। अपने पितामह से महाभारत और रामायण की कथा सुनने के बहाने रात-भर जागने की आदत भी यहीं पड़ी। यहीं कॉलेज जीवन की छुट्टियों में रात भर लालटेन जलाकर स्वाध्याय करने की प्रेरणा भी मिली और अपने कर्त्तव्य के प्रति अटूट विश्वास रखने की आदत भी बनी।

इसकी डालियों पर गृद्ध और बाज नहीं आते लेकिन तोता, हरियल, कोयल, कौवा, गिलहरी, टिटही, आदि पक्षी अड्डा बनाए हुए हैं। गिलहरियों का किट-किट उल्लूओं का अंध-ध्यान, कौवे का काँव-काँव और तोते का माधुर्य—अपनी-अपनी मनोवृत्तियों और ध्वनि संवेदित रूवाढ़िवतियों में मनुष्य के स्वभाव और उसके बोध के ही परिचायक बन गये हैं। इसके नीचे पचासो गायें-भैंसे बँधी रहती हैं। चारों ओर गोबर के ढेर लगे हुये हैं। कहीं भी स्वच्छता नहीं, फिर भी इस देवल की पवित्रता पर कोई शंका नहीं। कारण गोबर में तो 'श्री' का निवास है। यहाँ विकर्षण नहीं, आकर्षण का भाव उद्भुत होता रहता है।

गाँव वाले कहते हैं—अब ब्रह्म बाबा यहाँ नहीं आते। पहले रात्रि की नीरवता में जब लोग सो जाते थे, तब वे आते थे। हवा बिलकुल निस्पन्द रहती थी। कहीं भी कुछ सुगबुगाहट नहीं। अचानक पेड़ के पत्ते खड़खड़ाने लगते थे। हवा का मण्डलाकृत रूप एक गोल वेग में काफी तेजी से बहकर इस ब्रह्मवृक्ष में विलीन हो जाता था। डालियाँ झुककर उसका स्वागत करती थीं और पंछी बन्दना के गीत गाने लगते थे। वह स्थिति अब नहीं रही। अब ब्रह्म के आने का भान गाँव के लोगों को नहीं होता।

भला उन्हें कौन समझावे—जिन वृक्षों से होकर वह हवा आती थी, वे अब एक भी वृक्ष शेष नहीं बचा। फिर हवा आने का भाव, पत्ते कैसे व्यक्त करें ब्रह्मस्थान से उत्तर एक ही कतार में सड़क से सटे पूरब चार पेड़ पीपल, जामुन, एक अशोक, दो महुआ और एक बर भी थे। जहाँ मैं रहता हुँ वह अर्थ में उपवन ही था। लेकिन, सब समाप्त हो चुके। वे समाप्त नहीं हुए, समा कर दिये गये। जिस वृक्ष को आत्मरूप मानकर गीता के कृष्ण ने अपने ईश्वरी का डिण्डिमघोष किया था; जिसके मूल में ब्रह्मा, मध्य में विष्णु, शाखाओं में और पत्तों में असंख्य देवताओं का अधिवास बताया गया था उन वृक्षों को लोभ में हमारे ग्रामीण लोगों ने बेच दिया। अब षोडष संस्कार में आस्था के वे वृक्ष नहीं देखे जा सकते। धरती पर मोती की तरह फल बिखेरने वाला अब नहीं रहा। अपने मीठे फलों से जन सामान्य की जिह्वा को तृप्त करने जामुन अब कहां हैं? जिस अशोक ने जगत्जननी सीता को आस्था के चरि ज्वलित होते रहने की सीख दी, जिसके पत्तों से देवताओं की वन्दियों का शृं होता था हम उससे वंचित हो गये। अब वन्दनवार कैसे सजेंगे? अब तो एक भी वृक्ष शेष नहीं रहा। वृक्षों के अभाव में न तो उसकी पत्तियाँ हिल और न ब्रह्म के आने का आभास लोगों को हो पाता है।

फिर भी मेरे गाँव का ब्रह्मवृक्ष बाहों को पसारे खड़ा है और गाँव की महि उसके नीचे पूजा करती हैं, मनौतियाँ मानती हैं। जब-तब 'झूमर' के स्व उनका भोला-भाला बोध देवता के जीवन्त होने का मान उनकी सहज साकार कर देता है।

न मालूम कितने वर्षों से यह वटवृक्ष चुपचाप खड़ा गाँव के इतिहास का रहा है। पूजा करने वाली बालाओं के दल-के-दल आए और चले गए किन्तु के थपेड़ों को सहता वह वृक्ष आज भी खड़ा है, शान्त, मौन। उसकी शीतल तले बहुतों ने ब्रह्म की आशीष का आस्वादन किया है। वह मानव की उसकी आस्था, उसके विश्वास के साथ-साथ निश्छल प्रेम का साक्षी रहा है आज गाँव के शहराते लोगों की अर्थलोलुप आँखों के लोभ की जलन को बूढ़ा ब्रह्मवृक्ष अब भी उसी प्रकार खड़ा है। उसकी दोनों विशाल बाँहें मानों असीसवे की मुद्रा में फैली हैं।

□

कोश-सन्दर्भ : एक पत्र

हिन्दी शिक्षा सदन
भुवनेश्वर

डॉ० चन्द्रसेन कुमार जैन
एम्० ए० पी-एच० डी०
निदेशक

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
इमर्ती देवी महिला महाविद्यालय
नया सड़क, कटक—२
दिनांक ६-१२-८३

श्रद्धेय डॉ० आंजनेय जी,

सादर नमस्ते।

राउर तीन गो चिट्ठी मिलल। अइसन बुझाइल जइसे औढरदानी भोले वावा प्रार्थी का झोली में अनाधून झोंकत जा रहल वानी तबहुओं उनकरा एही बुझाता कि कमे दिआइल बा। एह देस में कउनो शिक्षित व्यक्ति से एतना उदारता पावे के उदाहरण हमरा जीवन में तो एही अकेला वा दोसर कोई पवले होई ओहू में सन्देहे वा। एहू सौभाग्य खातिर हम रउआ के सराहीं कि अपना के समझ में नइखे आवत। राउर प्रत्येक चिट्ठो हमरा नया उत्साह आउर असीम आनन्द देले वा।

पहिलकी चिट्ठी के उत्तर में धन्यवाद देवे के अलावे हमरा आउर कुछुओ नइखे लउकत। दोसरकी चिट्ठी के जबाव अचक्के ना देल जा सके। ओकरा खातिर विशेष अध्ययन आउर मनन के जरूरत बा। अस्पष्ट सबदन के सूची हम चार आदमी के पास भेजले रहीं। तीन आदमी उत्तर भेजे के आश्वासन देले रहे ओकरा में राउर स्पष्टीकरण सबसे पहिले आइल बा। आउर दू विद्वानन के उत्तर आ गइला के बाद हम तीनों सुझावन के समन्वय करके आवश्यक खोजबीन करब ओकरा बाद आपन विचार रउरो के जनाइब। अबहीं हम राउर तीसरकी चिट्ठी में चर्चित विषयन पर आपन विचार दे रहल बानीं जेसे राउर विचार के आउर अधिक प्रस्फुटन के मउका मिलो।

कोश तो का कउनो काम के व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करे में तन; मन आउर धन के मोह छोड़े के पड़ेला। हम एह स्थिति में बानीं कि अबहुओं शरीर से रोज ८-१० घन्टा काम कर सकीला, आर्थिक दबाव भी हमरा पर कउनो नइखे काहे कि परिवार से सम्बन्धित सब उत्तरदायित्व पूरा कर चुकल बानीं आउर मन तो आज से ना विद्यार्थी जीवने से एही दिसा में रूझल बा। हमरा खातिर ई कउनो अनुष्ठान नइखे ई तो हमार दैनिक जीवन के मनोरंजन के साधन बा। कामना जस के नइखे, बरसन के परिश्रम के बहुजनहिताय रूप देबे के बा।

हम जउना रूप में कोश के नमूना भेजले बानीं ऊ हमार वास्तविक कृ नइखे। ऊ तो सेमिनार में पारित निर्णय के व्यावहारिक रूप देके रउआ सम के पास भेजे के चेष्टा मात्र बा जेकरा से पंचन के ई राय जानल जा सके कि सब सिद्धान्त वास्तविकता आउर उपयोगिता के कसौटी पर केतना खरा उत सकेला आउर भोजपुरी जनता ओकरा के कहाँ तक स्वीकृति देवे खातिर तैयार बा एह से कोशकार के काम सरल करे खातिर आउर कोश के उद्देश्य के पूरा क में सहायक बने खातिर रउआ सभे के ई कर्त्तव्य हो जात बा कि व्यक्ति के मूल बा देके काम के महत्व पर ध्यान दीं आउर निरपेक्ष भाव से आपन विचार प्रस्तु करीं। हम एतना विश्वास देतानीं कि राउर विचार हमरे तक रही। अगर बाहर होई भी त हमार विचार के रूप में, राउर विचार के रूप में ना। ए सम्बन्ध में हम आपन विचार भी रउआ सामने रख देतानी।

मानव कृति मूलतः दू प्रकार के होला—भावना-प्रधान आउर तथ्य-प्रधान पहिलका के रचना में सुन्दर-असुन्दर, हितकर-अहितकर, उचित-अनुचित इत्या रचनाकार के निजी व्यक्तितत्व से सम्बन्धित प्रेरणा स्रोत के प्रमुखता रहेला दोसरका कोटि के रचना में केवल 'अस्ति नास्ति' के प्रश्न के समाधान के चे होला। एकरा में 'अस्ति-नास्ति' के परिमाण आउर व्यापकता पर भी ध्यान दे जाला। एहीसे पहिलका रचना सब्जेक्टिव आउर कलाप्रधान होला तो दोसर रचना आब्जेक्टिव आउर वैज्ञानिक होला। हमरा विचार से कोश दोसरका श्रे के रचना बा। एकरा में सब्जेक्टिव तत्व मिश्रण जेतना अधिक होई ऊ ओ अपूर्ण आउर कृत्रिम हो जाई। एह से एकर सिद्धान्त निर्णय करे के बेरा व्यक्ति रुचि-कुरुचि से जेतना अधिक मुँह मोड़ल जा सके आउर अस्ति-नास्ति के त के जेतना अधिक महत्त्व देल जा सके, ओतना ई रचना आदर्श रूप धारण पाई।

कोश रचना के मूल प्रेरणा आत्म-सुखाय नइखे बहुजनहिताय बा। कोश जउन स्वरूप एह लक्ष्य के जेतना निकट पहुंच सकी ऊ ओतने आदर्श हो स प्रत्येक भोजपुरी-भाषी प्रत्येक भोजपुरी शब्द के माने, स्वरूप आउर प्रयोग से अवगत बा ई मान्यता हमरा विचार से तथ्यपूर्ण नइखे। जइसे हिन्दी भाषी तक कि हिन्दी विद्वानन के भी कोश के प्रयोग करे के पड़ेला ओइसहीं भोज कोश भी भोजपुरी साहित्य के समझे खातिर भोजपुरी जनता के व्यवहार करे जरूरत पड़ी। एकरा अलावे भोजपुरी के प्रचार आउर प्रसार के साथ-साथ ए साहित्य पढ़ आउर समझे खातिर गैरभोजपुरी लोग के भी भोजपुरी कोश प्रयोग के जरूरत पड़ी। ई दूनो प्रकार के पाठकन खातिर भोजपुरी कोश के होए के होई।

एह से कम-से-कम प्रकाशित साहित्य में भोजपुरी सबदन के जेतना रूप प्रयोग में आइल बा ओह सबका भोजपुरी कोश में स्थान मिलहीं के चाही। गैरभोजपुरी से ई आशा ना रखल जा सके कि ऊ प्रकाशित साहित्य में आइल कउनो शब्द के पहिले आदर्श रूप के विचार करी ओकरा बाद ऊ कोश में ओकरा के खोजी। ईहो आशा ना कइल जा सके कि भोजपुरी के प्रकाशित साहित्य में आइल संस्कृत, उर्दू अथवा अँगरेजी सबदन के जानकार भोजपुरी के सब पाठक होइहें। अइसनो पाठक होइहें जेकरा ई तीनों प्रकार के सबदन के कउनों जानकारी ना होई। ऊ इहो निश्चित ना कर सकी कि अमुक शब्द कउन भाषा वर्ग के बा। अगर जानतो होई तो ओकरा से ई आशा कइल कि ऊ भोजपुरी पढ़े के बेरा तीन गो, चार गो भाषा के कोश सरिया के बइठी कोश के अनुपयोगिता सिद्ध करे के ज्वलन्त उदाहरण होई। हाँ ई हो सकेला कि कोशकार एके शब्द के विभिन्न प्रयोगन में से कउनो एक अथवा दू रूप के मानक मान ले आउर ओकरे अन्तर्गत ऊ शब्द से सम्बन्धित सब जानकारी दे के अन्य रूपन के गौणता के संकेत दे दे। परन्तु सब प्रकाशित सबदन में विनिया-विछिया कइला से सबजेक्टिव तत्व के प्रभाव पड़ जाई और वैज्ञानिकता खंडित हो जाई।

'वइकल्पित' आउर 'संकर' सबदन के उदाहरण देके रउआ ई जनावे के चेष्टा कइले बानीं कि भोजपुरी में संस्कृत के तत्सम सबदन के भोजपुरी उच्चारण-पद्धति के अनुकरण कर के लिपि-पद्धति के अनुसरण उचित नइखे। हम राउर ई विचार से शत-प्रतिशत सहमत बानीं, उहें तक जहाँ तक एकर साहित्य में प्रयोग के सिद्धान्त निर्धारण करे के प्रश्न बा। काहें कि ई उचित-अनुचित सुन्दर-असुन्दर के प्रश्न बा जे कलात्मक प्रेरणा के विषय बा, वैज्ञानिक कृति के ना। अगर उच्चारण पद्धति के अनुकरण के उदाहरण प्रकाशित साहित्य में मिल रहल बा तो कोश ओकरा के त्याग कइला पर भावना के शमन कर सकी, मगर वैज्ञानिकता के त्याग के। पाठक से हमरा ई आशा करे के पड़ी कि ऊ अइसन सब सबदन के शुद्ध रूप जानता आउर ओही ज्ञान के आधार पर ऊ कोश के प्रयोग कर सकी ना त भटकत रही। अगर पाठक के भटकावहीं के बा अथवा केवल ज्ञानी पाठके खातिर कोश तैयार हो रहल बा तो बात दूसर बा। मगर अइसन कोश आदर्श कोश ना कहा सकी। हाँ प्रमुखता के संकेत देके कोशकार संस्कृत तत्सम बर्तनी के महत्व दे सकेला आउर ओकर प्रयोग के उत्साहित कर सकेला। मगर जानबूझ के तत्सम सबदन के प्रयोग के वास्तविकता के अभाव में अगर कोशकार उच्चारण पद्धति के प्रमुखता देता तो एकरा के अनधिकार चेष्टा कहल जा सकेला काहें कि एहिजो अस्ति-नास्ति के वैज्ञानिक तत्त्व नष्ट हो जा रहल बा।

एक बात हमरा आउर कहे के बा कि भाषा प्रयोग के यात्रा में साधारण जनता बहुत दूर आगे बढ़ गइल बा। परम्परा के यथासाध्य रक्षा करत-करत अग ओकरा साथे साहित्कार ना चली तो ऊ ओइसहीं पिछुआ जाई जइसे संस्कृत वाला लोग पिछुआ गइल आउर आज हिन्दीओ पिछुआ रहल बा। बोले वाला बहु दूर आगे बढ़ जाई एतना दूर कि ऊ लिखेवाला के ना देख सकी, ना सुन सकी। भाषा संस्कार उचित बा आउर केतना अंश में आवश्यक भी मगर संस्कार के नाँ पर प्रगति के रोकल स्थिरता के समान होई। भाषा जहाँ स्थिर भइल कि सि पानी नीयर सड़े लागल। भारतीय भाषा के इतिहास में दूनों प्रकार के उदाहरण मिल रहल बा। संस्कृत रूपनिष्ठा के चलते पुराना पड़ गइल आउर प्राकृ अपभ्रंश कृत्रिम प्रगति के नाँव पर स्वरूप में नयापन लावे के चलते समाप्त गइल। भाषा के रवानी सुरक्षित रखे खातिर ई दूनों अतिरेक से बचे के प अइसन हमार विचार बा।

राउर कहनाम के अनुसार हम कोश में रखल प्रत्येक शब्द के टेक्सचु रेफरेंस खोज निकाले के काम में पहिलहीं से लागल रहीं। अब हमार विचार कि प्रत्येक शब्द के साथ कम-से-कम एगो अइसन रेफरेंस दे देल जाओ तो लोग के सन्देह के शमन हो सकेला। तबहुँओं ई सम्भव नइखे कि प्रत्येक शब्द रेफरेंस मिल जाओ। अबहीं तक लगभग दू सौ किताबन आउर एक सौ पत्रि के आधार पर हम लगभग ८० प्रतिशत सबदन के रेफरेंस पावे में सफल बानीं। अगर राउर प्रयास से हमरा अधिकाधिक प्रकाशित सामग्री मिल तो हम ओकर प्रयोग करके आउर रेफरेंस निकाल सकीलां। एक तरह से के स्थापना भी अस्ति-नास्ति के वैज्ञानिक तत्त्व के आधार पर हो जाई।

'अतिथि' आउर 'अतीथ' सबदन के विवेचन कर के रउआ ई जनावे के कइले बानीं कि भोजपुरी में अनेक सबदन के तत्सम आउर तद्भव रूप अर्थगत अथवा भावगत अन्तर बा। एह अन्तर पर हमरो ध्यान गइल बा, अभ्यागत-अभागत, हृदयहीया-हियाव इत्यादि। फिर भी जानकारी के अभा अइसन कुछ त्रुटि रह जाए के सम्भावना बा। भविष्य में हम एहपर विशेष रखब आउर सन्देह भइला पर रउआ सभनि के सहायता लोढ़ब। पाठीय उदा खातिर रउआ मुहावरन के प्रयोग पर जोर देले बानीं। मुहावरन में सबद सटीक अर्थ व्यक्त तो होला मगर अधिकतर मुहावरन के अर्थ में रूढ़ता रहे वर्त्तमान वास्तविक प्रयोग से कुछ भिन्न भी हो सकेला। एह से जहाँ तक हो सकी हम मुहावरन के महत्व देब मगर जहवाँ वर्त्तमान प्रयोग में अन्तर ओहिजा प्रकाशित गद्य से उद्धरण देल जाई उपयोगी जँच रहल बा।

मानक सबदन का अन्तर्गत विवरण देके ओकरा के महत्त्व देवे के पक्ष में हमहूं बानीं आउर ओकर प्रयोग भी कइले बानीं। मगर हो सकेला कहीं-कहीं एह प्रमुखता से सम्बन्धित हमार विचार भिन्न अथवा भ्रमात्मक हो।

सबदन के अर्थ में अनन्तता रहेला। कहीं कुछ अर्थ छूट जाए के अथवा कहीं अर्थ में त्रुटि हो जाए के सम्भावना तो हमेशा बनले रही। अर्थ विस्तार इत्यादि भी होत रहेला। ई सब त्रुटि जहाँ तक सम्भव हो सकी मार्जन करे के चेष्टा कइल जाई। मगर ई तो भोजपुरी के प्रथम कोशवा अन्तिम तो ना।

आशा बा हमार विचार पर रउरा आपन बहुमूल्य मत देवे के किरपा करब। वैज्ञानिक पद्धति में कउनों बात अन्तिम न होए मगर वास्तविकता का ओर प्रगति के एगो चरण मात्र होला।

राउर बहुमूल्य समम आउर गम्भीर चिन्तन के लाभ हमरा मिलत रही एकर विश्वास हो गइल बा। एही से हम खुल के लिखले बानीं, निसंकोच होके आपन बात कहले बानीं। मत-भिन्नता वास्तव में सत्य के आंशिक ग्रहण मात्र बा। सम्पूर्ण सत्य तो एकान्त होला, जे मनुष्य के पहुँच के बाहर बा।

राउर कृपापात्र
चन्द्रसेन कुमार जैन

□

भोजपुरी लोकगीतों में शिव

□ सुश्री शारदा पाण्डेय

निगमागमों-जनकथाओं में शिव के अनेक रूप न जाने कितने कथावलयों बार-बार निरूपित हो चुके हैं। उनका प्रभाव जन-मानस पर भी पड़ा है। जनमानस ने शिव को कुछ इतना अपना माना कि इतर देवताओं के प्रति जहां मर्यादा, सम्भ्रम की रेखा खिची वहीं शिव तो स्वयं हममें से एक, हमारे सुख-दु के नित्य सहचर ही बन गये।

भोजपुरी लोकगीतों में; माङ्गलिक अवसरों पर देवी के गीत के बाद जो गीत जाते हैं, उनमें शिव का बड़ा ही मुखर, मांसल और लोकजनीन बहुरंगा चित्र प्र होता है। यह शिव न तो कृष्ण के ऐसा पालने पर झूलने वाला बाल और न राम के समान मर्यादा के प्रकाश-वृत्त में घिरी आभिजात्यमूर्ति। शिव लोकजन का ही प्रतीक है। यह शिव हमारे समान आशा, अभिला सरसता, रोष, आशंका और हास-परिहास से भरा हुआ है। आश्चर्य होता है जन की उस अक्षय शक्ति पर जो देवता को भी अपने ही वृत्त में बाँधने में समर्थ है। वैसे शिव का रूद्र रूप ऋग्वेद में प्राप्त होता है। किन्तु कूर्म पुराण, पुराण, वाराह पुराण, पद्म पुराण, स्कंद पुराण तक आते-आते रसिक मूर्ति योजन हो जाता है। लोकमानस उसे अपने रंग में रंग कर सरस मर्यादा देता है—

विवाह के लिए शिव चले या काल की बरात चली कुछ समझ नहीं सुदर्शन शिव की कुदर्शन वेशभूषा सबके मन में कितना भय एवं कितनी उत्पन्न कर देती है 'करिया से कूचु-कुचु महादेव, ओड़ा अइसन पेट बाटे' त्राहि मच जाती है। कैसा अनमेल विवाह! इतनी सुन्दर 'गौरा' क्या व्यक्ति को सौंपे जाने योग्य है? स्वर्ग के पारिजात को कर्दम क्लिन्न करना। इसे बुद्धिमानी कहेगा? माँ भले ही अपनी आत्मजा को लेकर आत्मघात कर दे किन्तु ऐसे बावले 'बौराह' से अपनी आँख की पुतरी गौरी को नहीं व्याहेगी।

भले ही वह गौरा को लेकर आकाश में उड़ जाये, पानी में डूब जाये, में समा जाये, किन्तु इस बावले से कदापि नहीं ब्याहेगी। चाहे गौरा कुंआरी रह जाये—

"गउरा लेइ में उड़बि, गउरा लेइ में बूड़बि
गउरा लेइ खिलबो पताल हे
आरे अइसन बउरहवा से गउरा नाहीं बिआहबि
बलु गउरा रहिहें कुआंर हे।"

माँ की आँखों से मोती झरने लगते हैं। पार्वती अवाक्, हिम अचल, बराती स्तब्ध; घराती स्तम्भित। मान-मर्यादा परिवार की धूलि-धूसरित। अब क्या हो? चाँदनी से ऊंचे, लिलार (ललाट) की अपरूप सुन्दरी कंपित-कदली पार्वती प्राण-प्रिय को अन्तर्मन से पुकारती हैं। शिव तो वहीं थे न उनके अंतर में। उनकी भय-कातर पुकार से उनका कौतुक-प्रिय अन्तर भर आता है। उनके अधरों पर हँसी की उजास छा जाती है और शिव कंदर्पदर्पहारी अभिराम रूप में दीखने लगते हैं। कराल सर्पहार के स्थान पर अद्भुत मंदार-माल, लोल हीरक शोभित कुण्डल, अंग-प्रत्यंग अद्भुत अलंकारों से मण्डित। माँ मैना तो जुड़ा गयी। सारा वातावरण महक उठा। उत्साह, उछाह के प्रकाश में जाने कहाँ दुःस्वप्नों-सी पूर्वविभीषिका डूब कर समाप्त हो गयी। मैना सोने की थाल सजा कर कपूरी आरती उतारती है। मंगल-वाद्य के बीच 'गाय के गोबर से लिपा हुआ आँगन, गज-मुक्ताओं से पूरी गयी चौक। वहाँ बैठाये गए शिव-पार्वती। विवाह हो रहा है। लगता है शिव ने उमंग में कुछ अधिक ही 'विजया' ले ली होगी। इसलिए इस शुभ अवसर पर जो न जाने कितनी रसोर्मियों से भरा होता है वे अलसा गये। लेकिन पार्वती? कितनी तपस्या के बाद यह क्षण आया तो उनका तो रोम-रोम जागृत था। प्रिय का यह भाव उन्हें अंतर्मथित कर गया। लोगों की आँखें बचाकर अँगूठे के दबाव से उन्हें जगा दिया—

'गाई के गोबरे महादेव, अँगना लिपाइ
गजमोती आहो महादेव चउक पुराइ, सुनी ए शिव, शिव के दोहाइ।
ताही चउके बइसेले महादेव, गइले अलसाइ
अँगुठन्हि मारि गउरा देई, लिहली जगाइ; सुनी ए शिव, शिव के दोहाइ॥'

शिव अलसा गए। 'गउरा' डर गयीं कहीं फिर न रूठ जायें। बनी बात न बिगड़े, बाँह बढ़ा कर मना लिया प्रिया ने। रूठिये नहीं। मैं तो आपकी हूँ ही, मेरे पिता आपको सम्पत्ति से भर देंगे (हिमालय रत्नों का कोष है)। कोई अभाव नहीं रहेगा। दिगम्बर—शिव के लिये गृहस्थी का जंजाल जुटाना सच में कष्टसाध्य ही रहा होगा—

"अँगूठा के मरले महादेव गइले कोहनाइ
बहियाँ लफाइ गउरा देई लिहली मनाइ, सुनी ए सिव····।
बाबा दीहें हाथी से घोड़ा, मइया धेनु गाई,
अम्मा दीहें पीअरी धोती, भउजिया हाथे अँगुठी; सुनी ए सिव····॥
खाये के थारी महादेव, अँचवे के झारी
सूते के पलंगरी महादेव, ओढ़े के रजाई, सुनी ए सिव ····।"

भरी-पूरी 'गृहस्थी का मनोरम चित्र आँखों में डोलने लगा। दायज (दहेज)

भोजपुरी लोकगीतों में शिव

□ सुश्री शारदा पाण्डेय

निगमागमों-जनकथाओं में शिव के अनेक रूप न जाने कितने कथावलयों बार-बार निरूपित हो चुके हैं। उनका प्रभाव जन-मानस पर भी पड़ा है। कि जनमानस ने शिव को कुछ इतना अपना माना कि इतर देवताओं के प्रति जहाँ ए मर्यादा, सम्भ्रम की रेखा खिची वहीं शिव तो स्वयं हममें से एक, हमारे सुख-दु के नित्य सहचर ही बन गये।

भोजपुरी लोकगीतों में; माङ्गलिक अवसरों पर देवी के गीत के बाद जो गीत गा जाते हैं, उनमें शिव का बड़ा ही मुखर, मांसल और लोकजनीन बहुरंगा चित्र प्रा होता है। यह शिव न तो कृष्ण के ऐसा पालने पर झूलने वाला बाल रू और न राम के समान मर्यादा के प्रकाश-वृत्त में घिरी आभिजात्यमूर्ति। शिव लोकजन का ही प्रतीक है। यह शिव हमारे समान आशा, अभिला सरसता, रोष, आशंका और हास-परिहास से भरा हुआ है। आश्चर्य होता है जन की उस अक्षय शक्ति पर जो देवता को भी अपने ही वृत्त में बाँधने में समर्थ हो है। वैसे शिव का रूद्र रूप ऋग्वेद में प्राप्त होता है। किन्तु कूर्म पुराण, शि पुराण, वाराह पुराण, पद्म पुराण, स्कंद पुराण तक आते-आते रसिक मूर्ति योजन हो जाता है। लोकमानस उसे अपने रंग में रंग कर सरस मर्यादा से देता है—

विवाह के लिए शिव चले या काल की बरात चली कुछ समझ नहीं पड़ता सुदर्शन शिव की कुदर्शन वेशभूषा सबके मन में कितना भय एवं कितनी वितृ उत्पन्न कर देती है 'करिया से कूचु-कुचु महादेव, ओड़ा अइसन पेट बाटे' त्रा त्राहि मच जाती है। कैसा अनमेल विवाह ! इतनी सुन्दर 'गौरा' क्या व्यक्ति को सौंपे जाने योग्य है ? स्वर्ग के पारिजात को कर्दम क्लिन्न करना। इसे बुद्धिमानी कहेगा ? माँ भले ही अपनी आत्मजा को लेकर आत्मघात कर ले किन्तु ऐसे बावले 'बौराह' से अपनी आँख की पुतरी गौरी को नहीं ब्याहेगी।

भले ही वह गौरा को लेकर आकाश में उड़ जाये, पानी में डूब जाये, पा में समा जाये, किन्तु इस बावले से कदापि नहीं ब्याहेगी। चाहे गौरा कुँआरी रह जाये—

"गउरा लेइ में उड़बि, गउरा लेइ में बूड़बि
गउरा लेइ खिलबो पताल हे
आरे अइसन बउरहवा से गउरा नाहीं बिआहबि
बलु गउरा रहिहें कुआँर हे।"

माँ की आँखों से मोती झरने लगते हैं। पार्वती अवाक्, हिम अचल, बराती स्तब्ध, घराती स्तम्भित। मान-मर्यादा परिवार की धूलि-धूसरित। अब क्या हो? चाँदनी से ऊंचे, लिलार (ललाट) की अपरूप सुन्दरी कंपित-कदली पार्वती प्राण-प्रिय को अन्तर्मन से पुकारती हैं। शिव तो वहीं थे न उनके अंतर में। उनकी भय-कातर पुकार से उनका कौतुक-प्रिय अन्तर भर आता है। उनके अधरों पर हँसी की उजास छा जाती है और शिव कंदर्पदर्पहारी अभिराम रूप में दीखने लगते हैं। कराल सर्पहार के स्थान पर अद्भुत मंदार-माल, लोल हीरक शोभित कुण्डल, अंग-प्रत्यंग अद्भुत अलंकारों से मण्डित। माँ मैना तो जुड़ा गयी। सारा वातावरण महक उठा। उत्साह, उछाह के प्रकाश में जाने कहाँ दुःस्वप्नों-सी पूर्वविभीषिका डूब कर समाप्त हो गयी। मैना सोने की थाल सजा कर कपूरी आरती उतारती है। मंगल-वाद्य के बीच 'गाय के गोबर से लिपा हुआ आँगन, गज-मुक्ताओं से पूरी गयी चौक। वहाँ बैठाये गए शिव-पार्वती। विवाह हो रहा है। लगता है शिव ने उमंग में कुछ अधिक ही 'विजया' ले ली होगी। इसलिए इस शुभ अवसर पर जो न जाने कितनी रसोर्मियों से भरा होता है वे अलसा गये। लेकिन पार्वती? कितनी तपस्या के बाद यह क्षण आया तो उनका तो रोम-रोम जागृत था। प्रिय का यह भाव उन्हें अंतर्मथित कर गया। लोगों की आँखें बचाकर अँगूठे के दबाव से उन्हें जगा दिया—

'गाई के गोबरे महादेव, अँगना लिपाइ
गजमोती आहो महादेव चउक पुराइ, सुनी ए शिव, शिव के दोहाइ।
ताही चउके बइसेले महादेव, गइले अलसाइ
अँगुठन्हि मारि गउरा देई, लिहली जगाइ; सुनी ए शिव, शिव के दोहाइ॥'

शिव अलसा गए। 'गउरा' डर गयीं कहीं फिर न रूठ जायें। बनी बात न बिगड़े, बाँह बढ़ा कर मना लिया प्रिया ने। रूठिये नहीं। मैं तो आपकी हूँ ही, मेरे पिता आपको सम्पत्ति से भर देंगे (हिमालय रत्नों का कोष है)। कोई अभाव नहीं रहेगा। दिगम्बर—शिव के लिये गृहस्थी का जंजाल जुटाना सच में कष्टसाध्य ही रहा होगा—

"अँगूठा के मरले महादेव गइले कोहनाइ
बहियाँ लफाइ गउरा देई लिहली मनाइ, सुनी ए सिव····।
बाबा दीहें हाथी से घोड़ा, मइया धेनु गाई,
अम्मा दीहें पीअरी धोती, भउजिया हाथे अँगुठी; सुनी ए सिव····॥
खाये के थारी महादेव, अँचवे के झारी
सूते के पलंगरी महादेव, ओढ़े के रजाई, सुनी ए सिव ···।"

भरी-पूरी गृहस्थी का मनोरम चित्र आँखों में डोलने लगा। दायज (दहेज)

का विपुल सम्भार वाहन के रूप में मरुत्वेगी अश्व, हिंदोल-सुखद झूमता गजराज, समस्त कामना सिद्धेश्वरी धेनु, शरीर को सज्जित करने वाला पीताम्बर (गजाजिन के स्थान पर) और रत्नजटित स्वर्णमुद्रिका ! असन के लिये सुवर्ण थाली, 'अँचवन' के लिये झारी (झमझर), शयन के लिये सज्जित पर्यंक और तुषाराद्रि कैलास पर शीतल शरीर को सुख देने के लिए रजाई ! और क्या चाहिए ? विलोल दृष्टि पार्वती के मुख पर टँकी रह गयी। रसज्ञ शिव ! अनायास उपलब्ध उपहार-उपकरण। तभी मदालस पुरुष का स्वर बज उठा—"लेकिन य सब झूठा आश्वासन क्यों ? कुछ तो नहीं देखता ! न हाथी, न घोड़ा, न कामधेनु !" पार्वती का मुँह मानो गुलाल से रंग गया। चन्चल नेत्र नमि हुए—'अभी ब्याह के समय नहीं। यह तो गौने में मिलेगा।'

"नाहीं देखों हाथी से घोड़ा, नाहीं धेनु गाइ
नाहीं देखीं पिअरि धोती, आहो अतना बड़ाइ, सुनी ए सिव ....।
बिअहे की बेरिया महादेव, कीछऊ ना पइब
गवने की बेरिया महादेव, सम कीछु पइब, सुनी ए सिव ....।'

प्रतीक्षा की आकुलता कोई पपीहे से पूछे। जन्मजन्मान्तर की प्रिया समु है तों भी एक प्रतीक्षा....। पपीहे की प्यास बादल को बरस-बरस जाने को बाधि कर देती है। तप की अग्नि से तन-मन दोनों कञ्चन हो जाते हैं। इसे शि पार्वती से अधिक भला और कौन जानेगा ?

'कोहबर' में 'शिव चन्दन की चौकी पर बैठे हैं'। साली-सलहज से हँसी-ठिठो चल रही है। आनन्द का क्षीरोदधि लहराने लगा। नीलम निर्मित दीपक सुवासित तेल, जगमगाता आलोक बिच्छुरित हो रहा है। 'शिव रह-रह कर ह रहें हैं।' परिहासप्रिय सखियाँ क्या इंगित नहीं समझतीं ? समझेंगी क्यों नहीं थोड़े समय के लिए यह अंगना-केलि कहीं अन्यत्र विरमना चाहती है। वर का निभृत एकांत। लाज से संकुचित गौरा उठना ही चाहती हैं कि यह क्या शिव ने लपक कर अञ्चल पकड़ लिया, आज तो कुछ चाहिए ही—

'चनन गाछ कटाइले, पीढ़ई गरहाईले रे,
ए ताही पिढ़ई बइसेले महादेव, घुरूमि-घुरूमि खाँसे रे।'

× × ×

'ए लपकि धरेले सिव आँचर, आजु कीछु चाहिले रे।'

गौरा तो लाज से हतप्रभ; यह क्या यह तो नैहर है। काई क्या कहेंगी आँखें छलक आईं; हृदय धड़क उठा; मान-मर्यादा, कुलशील की शिञ्जिनी झन उठी। वर-पट को थामे निहोरा किया 'अभी चेरी (चेरी, दासी) को भेजती हूँ। कुछ सहज प्राप्त है; अंग-मर्दन से आलिम्पन तक। शिव की आँखों में प्यास;

पर हास, और बाहुओं में चञ्चला चमकी, ना चेरी का हाथ तो जाने कितने कार्य-क्षणों की गंध से भरा है। मुझे तो तुम्हीं .... ।

चेरिआ के हाथ चेरिआइन गउरी गोबराइन हो।
‘ए तुहीं लाव तेल-फुलेल कस्तुरिया के बासल अबटन हे।’

गौरा और सिकुड़ गयीं। सातों घरों में सात भैया-भावज हैं, आठवें में माँ हैं। कहाँ पाऊँगी कस्तूरीवासित उबटन ?

‘सातहिं घरे सातो भइया भउजी
आठवें मुयरिया बाड़ी
ए गढ़ुआ संकट सिव दीहले त
कहाँ पइबो उबटन रे ?’

किसी की आँख पड़ी तो मैं कहीं की न रहूँगी। भौजाइयाँ भला हास्य-व्यंग्य की चिकोटी से चुकेंगी ! दास-दासियों का प्रच्छन कटाक्ष, सखियों की चुहल ! नहीं-नहीं; यह स्थान रास-रंग का नहीं। लड़की के लिए मायका तो मर्यादा भूमि है, श्रृंगार की रंगस्थली नहीं।

अरे, निष्कंप दीपशिखा के प्रकाश में यह छाया कहाँ से हिली ! गउरा चिहुँक उठीं। स्नेहमयी माँ का रूप सामने प्रत्यक्ष हो उठा। ऐसी शीतलता, अभयाह्लाद भी कहीं मिलता है। माँ ने बेटी की द्विविधा, धर्मसंकट सब जान लिया, स्नेह समीर से सभी शंकाओं और शील-लाज की घटाओं को कैसी सहजता से उड़ाकर उर प्रान्त को पेशल ज्योत्सना से भर दिया —‘अरे गौरा, यह तेल-फुलेल और कस्तूरी से वासित उबटन लो। पाहुन (प्रिय) घर आया है उसकी सेवा तो प्रिया का ही धर्म है न ?—

‘अतना बचन अम्मा सुनली, सुनहीं नाहीं पावेली हो।
ए लऽ गउरा तेल-फुलेल कस्तूरिया से बासल अबटन हो।’

मर्यादा पुत्तलिका उमा तो उस वर्षा में भींग-भींग गईं। माँ की मूर्त्ति जाने किस ओट में अन्तर्हित हो गयी। शिव की विकचित आँखों में अरूण-रेखा झूल गयी। सच, ‘मायका’ माँ से है। हृदय का एक-एक कण-क्षण बेटी को रस से भर देने को सजग-आतुर। यह कल्पवृक्षी छाँह कितनी सघन-शीतल-सुखद और अभिमतदातृ। उस छाँह में सब अभाव-दुःख समा जाते हैं। वह विराट् सब क्षोभ, कहा-अनकहा अपने में समो लेता है। (तभी तो एकान्त में पूछने पर गौरा शिव को सहज ही स्वीकार कर कह लेती है कि **‘पटनी-पटनी ए अम्मा नाग फुँफकारे, तखवनि-तखवनि ए अम्मा बिछिया टूँड़ मारे।’** हर पटनी पर सर्प फुँफकारता है और आलों पर शिव के कर्णफूल बिच्छू डंक उठाए घूमते हैं।

शिव के साथ चलीं शिवा, सहज रोमांच से भरी। कहाँ-कहाँ ले चला नन्दीश्वर ! सुख-समृद्धि के दोले पर हिन्दोलित पार्वती की आँखों में श्मशानी लपटें भरने लगीं;

विरूप गणों का नृत्य रोम सिहराने लगा। विरूपाक्ष ने तभी पुष्ट बाहुओं में सहेज लिया। शिव की आँखों से कैसा संगीत झरने लगा—लगा डमरू से कलाएं जनमने लगीं। गौरा कैलास पहुँच गयीं।

निस्सीम कैलास के हिमधवलित शृंग। स्वर्ण सौध न हो निविड़ गिरि गुहा तो है। प्रातः सूर्य की आभा जैसे सोना बरसा जाती है, संध्या की लाली अनुराग का अबीर उड़ा जाती है। धूम्र मेघ शावकों की धावमान पंक्ति सपनों का इन्द्रजाल रच जाती हैं, झरनों का स्वन किंकिण-सा वज उठता है। सिंह और नन्दीश्वर उस वैराट्य के प्रहरी बन जाते हैं जहाँ 'गौरा पानी भरने चलती हैं, जोगी आँचल पकड़ कर बेलमा (रोक) लेता है। 'छोड़ो मुझे', गौरा के गालों पर लाज की लाली गहरा जाती है। 'अरे मैं भी कुँआरा हूँ अब तो आँचल न छोड़ूँगा'—मनमौजी शिव की मनचली छेड़खानी !

'पानी भरे चलली गउरा देई जोगिया अँचरवा धरि बेलमाई।
छोड़-छोड़ जोगिया हमरो अँचरवा, हम बानी कन्या कुँआर।
ना छोड़बो गउरा आरे तोहरो अँचरवा, हम जोगी बानी कुँआर।'

जीवन का क्षण-छण प्रकाशित, महोत्सव पूरित। गौरा असीम प्रभामण्डल की किरण-सी समर्पिता बन जाती है। यह अद्वैतता जहाँ श्वासों में सुवास-सी छा जाती हैं। मयूर नाचने लगता है। यही तो तप-सिद्धि है। कामदेव अनंगी बन करता हो गया है। यह पार्वती-शक्ति की द्रविड़ पुरुषार्पण भक्ति है। लता का कोमल परिरम्भ है, जो परुषता की करुणा अशिव को शिवत्व और जड़ता को चेतना देती है।

'भंगिया पीसत ए अम्मा हथवा खिअइले'

'पार्वती का कोमल कर भाँग धतूरे का मद निषेचन करते-करते घिस गया,(छाले से भर गया) किन्तु शिव की प्यास तो अनन्त है। क्या कभी उसकी उदग्रता नि पाई है? पुष्पधन्वा का पंचशर पंचमुखी शिव की अविरल श्वासों में घुमड़ने लगा है। पार्वती आत्म विस्मृत।

शिव बड़े आत्मविनोदी हैं। प्रिया घर के कार्यों में व्यस्त है। मन कैसे लगे ऐसे में द्यूत से बढ़कर मनोरंजक और निरालस कोई क्रीड़ा नहीं। शीश पर जटा कण्ठ में रूद्रमाल, वक्ष पर चन्दन और भाल पर तिलक लगाए शिव चौपड़ खेलने बैठ गए। पार्वती का मन अनंगजित् की इस छवि में डूब-डूब गया। समय का भान किसे? सोने का दीपक, रेशम की वर्त्तिका, सरसों का स्नेह जलता रहा, प्रकाश झरता रहा, खेल चलता रहा। रसमग्नता विभोर, वातावरण निर्वाक् और पार्वती मुग्धा बन एकटक निहारती रहीं। तभी लगा तेल समाप्त हो गया, 'बाती' 'सम्पूर्ण हो गयी और शिव की यह क्रीड़ा आधी रात को 'उड़स' (उठ) गयी। शिव के भाल

अतृप्ति की रेखा खिंच गई। भ्रू कुंचित हो उठा। शिवा की अनथक सेवा जाग गयी। उन्होंने त्वरित गति से 'दीपक' को (मन) स्नेह-पूरित कर दिया, बाती (अनुराग) फिर उमग उठी, शिव हँस उठे और पार्वती की छाती विहँसने लगी—वातावरण सोम रस से नहा उठा।

'शिव अइले जटाजूट गले रुद्रमाल,
छतिया चनन सोभे तिलक लिलार हो,
मोरवले मोर गउरी हो—
कथी केरा दिअरा कथिअ केरी बाती
कथी केरा तेलवा जरेला सारी राती रे—
मोरवले मोर गउरी—
सोंना केरा दीअरा रेसम केरी बाती,
सरसो के तेलवा जरेला सारी राती हो, मोरवल मोर गउरी—
जरि गइले तेलवा, सपूरन भइली बाती,
सिव जी के खेलिआ उड़से आधी राती, हो मोरवले मोर गउरी—
लाई देबो तेलवा, जराइ देबो बाती,
हँसले महादेव बिहँसे मोरी छाती हो—मोरवले मोर गउरी—

समर्पण ही सेवा का सार है। मन की विकारगत समर्पित ही कार्त्तिक (शौर्य) और विघ्नहर (सिद्धिदाता, दयालु) जैसे आत्मज का दान पाती है। नारी जीवन की सम्पूर्णता भी यही है, उसके आत्मभाव का प्रसार। यदि वह पुरुष के पौरुष को समर्पित है तो वात्सल्य पर न्योछावर। किन्तु पुरुष जाने क्यों कभी अकारण द्वैतता की गंध पाने लगता है। उसकी मधुकरी वृत्ति कभी स्वेच्छया और कभी नियति की आड़ में नव-पुष्प रूप के कोमल-पाश की चाहना करने लगती है।

शिव पार्वती के गीतों में इस आवर्जित भाव, नारी की आशंका, विवशता, आक्रोश, असूया का बड़ा मार्मिक चित्र उरेहा गया है। पुरुष प्रधान समाज की इस प्रताड़ना ने नारी की अव्याहत रागधारा को अनादिकाल से दुःखावर्त्त से बोझिल ही बनाया है। अवधूत शिव को तपस्या से प्राप्त करके, अभावग्रस्त गृहस्थी को स्नेह से सँवार कर, अहर्निशि सेवा का व्रत पाल कर भी पार्वती शिव की निरंकुशता को बांध न पाईं।

"कमल के कोमल-पत्रों पर सोई गौरा ने अद्भुत स्वप्न देखा कि मोरंग देश में मंगल बाद्य बज रहा है, किसी का विवाह हो रहा है। जाने क्यों अपने हृदय पर रह-रह कर घन की चोटें पड़ रही हैं। सोते हुए भी जाग्रत मन की यह कैसी गति है? अपनी पड़ोसिन 'गोतिन, (प्रतिदेशिनी) से गौरा ने अपना स्वप्न बताया।

प्रतिवेशिनी ने कहा—'अरे गौरा ! तुम कैसी अयानी (अज्ञानी) हो ? मोरंग देश में जो वाद्य बज रहे हैं वे शिव के विवाह के हैं। अब तो पीताम्बर पहनो और 'सौत' का 'परिछन' कर के उतार लो। 'देखो; डोली द्वार तक आ पहुँची।' आँखें आँसुओं से भरी धुँधला गयीं। शिव के साथ बिताए एक-एक क्षण नेत्रों में त्रिशूल से चुभने लगे, विवशता पछाड़ खाने लगी, सेवा प्रश्न चिह्न बनकर उत्तरापेक्षी हो उठी—'हे महादेव ! क्या मैंने तुमसे कभी कुछ छिपाया था, मैं चटोरी थी, या मैं वन्ध्या थी, या तुम्हारी सेवा से कभी विरत हुई ? यह दूसरा विवाह क्यों किया ?' शिव का कण्ठ अवरुद्ध हो गया। पार्वती की आँखों के आँसू....शिव अपनी भ्रमर वृत्ति के कारण अपराध-बोध से भर गए। कारण क्या था ? पार्वती ऐसी सती, समर्पिता क्या इस छल के योग्य थी ? शिव की आँखें ठहर नहीं पाईं। उन्होंने भावी (नियति) की आड़ ले ली।

शिरीष से कोमल हृदय पर पत्थर रखकर मर्यादामूर्त्ति पार्वती सच में पार्वती ही बन गयी। शिविका का आवरण जैसे ही उठा कर देखा, एक वज्रनिपात और अंधकार छा गया, समस्त धरती घूर्णित हो उठी—'यह क्या ? यह तो मेरी बहन (गंगा) ही है !'

अपनों का विश्वासघात और छल तो शतमुखी दंश देता है। अरे बहन! किस जन्म का प्रतिशोध साधा ? क्या तीनों भुवन में कोई दूसरा वर नहीं मिला कि मेरी पीठ पर तुमने 'अंगार दर दिए ?' बहन भी इस अवांछित स्थिति के लिए किसको दोष दे ? स्वयं को, शिव को, समाज को, माता-पिता की असहायता-असमर्थता को या नियति को ? कहीं कोई शिथिलता है। इसका परिणाम हमें (स्त्री जाति, स्त्री को) ही भोगना पड़ेगा। मृदु व्यवहार से ही कदाचित् इस त्रासदी को झेला जा सकता है। स्वागत के प्रतिकूल पीड़ा और उत्पीड़न का भाव ही प्रबल हो उठता है। पराजय की फाँस चुभती रहती है।

अब जो हुआ सो हुआ, बहन झुक कर 'चरण स्पर्श कर 'आशीष' चाहती है जिससे वह 'अजोधिया' (संघर्ष रहित जीवन) का राज्य भोग सके।'

यह कैसा संधि-बिन्दु है जहाँ एक अपना अधिकार छोड़ना नहीं चाहती, उसने तो पलकों का कपाट बन्द कर वहाँ प्रिय, केवल प्रिय को ही देखना चाहा है, उस प्रिय को किसी और को देखने देना भी उसे सह्य नहीं, वहीं दूसरी घ्रात पुष्प से ही सही अपना अंचल सुगंधित करना चाहती है। गौरा की शिव की ओर से पराजय, सौत बनी बहन के लिए सौभाग्य प्राप्ति के लिए अभेद्य प्राचीर बन जाती है। बहन को दी जाने वाली 'आशीष' अभिशाप बन कर फूट पड़ती है—'माँग से भरी रहो (अखण्ड सौभाग्यवती), कोख (कुक्षि) से वन्ध्या रहो। गोशाला में

जाकर गोबर निकालना; रसोई का सब काम करना, हमारे बच्चों को खिलाना। लेकिन शिव की सेज पर कभी न जाना।'

"पुरइन पात पर सुतेली गउरा देई, सपना देखेली अजगूत रे।
मोरंग देसे बजन एक बाजेला केकर होला बिआह रे।
पार परोसिन तुहू मोरी गोतिन, सपना के करऽ ना विचार रे।
तुहउ गउरा देई आनी से ज्ञानी तुहऊँ पंडितवा के धीअ रे।
मोरंग देसे बाजन एक बाजेला, शिव जी के होला बिआह रे।
पहिरऽ गउरा देई इयरी से पिअरी, सवती परिछि बलु लेहु रे।
किया ए महादेव चोरिनी से चटनी, किया हम कोखी के बीहून रे।
किया ए महादेव सेवा से चुकनी, काहें कइलीं दोसर बिआह रे।
नाहीं ए गउरा देई चोरिनी से चटनी, नाहीं तूहू कोखी के बीहून रे।
नाहीं ए गउरा देई सेवा से चुकलू, भावी कइलसि दोसर बीआह रे।
डँड़िया उघारि जब देखेली गउरा देई ई त हई बहिना हमार रे।
तीनि भुवन बहिना वर नाहीं मिलले मोरा पीठि दरेलू अँगार रे।
अइसन 'असीस' तुहू दीह मोरी बहिना भुभुतीं अजोधिया के राज रे।
मँगिया के जुड़ि तूहू रहिह ए वहिना, कोखिया के होखहु बीहून रे।
सारि पइसिं बहिना गोबर कढ़िह, करिहऽ रसोइया वेवहार रे।
हमरो लइकवा खेलइह ए बहिना, शिव जी के सेजे जनि जाहु रे।"

यह दण्ड कितना भयावह, तीक्ष्ण मर्मवेधी है किन्तु साथ ही यह कितना सार्थक (अर्थयुक्त) है। यह सेज ही तो हैं जहाँ स्त्री रम्भा और उर्वशी बनती है। पीड़ा के कितने काँटे उगे हुए हैं इसमें? क्या यह व्रत निभेगा? बहन निभा पायेगी! यही था तो आयी क्यों? क्या शिव इसे मानेंगे, सहन करेंगे? ऐसा ही था तो ब्याह क्यों किया? गौरा का करुणा-भरा मन क्या इसे झेल पायेगा? उसका गर्व रहा ही कब? शिव ने जब-तब (वेश-परिवर्तन पर) त्याग दिया तो अब? शिव बंकिम अधरों से मुस्कुराये। लगा द्वितीया का चन्द्र खिला। शिव नहीं यह विधुशेखर विमोहक थे। उनका जटा-जूट भी प्रकाशित हो गया। शिव ने कुछ सोचा........एक को शीश पर धारण कर 'गंगाधर' हुए दूसरे को वामाङ्ग में बसा कर 'अर्द्धनारीश्वर' हुए। यह विषपायी यदि 'आहारक' है तों मुण्डमाली बना हृदय पर उर्वशी (हार) ऐसा झुलाने वाला भी। गौरा का हृदय गर्व से स्फीत हो उठा।

भोगी शिव में बैठा योगी अचानक आज जागा है। बारह वर्ष के लिये शिव उत्तराखण्ड के वनों में तप के लिये जा रहे हैं। बाहर से वज्र-कपाट बन्द कर

दिया। भोला कदाचित् सोच न पाये गौरा की सुरक्षा है या आशंकित हृदय की प्रतिक्रिया। शिव जी लौटकर आये। देखा; कपाट खुला; गौरा कपाट पर हाथ रखे अविकल प्रतीक्षा मुद्रा में स्थित। शिव अवाक्, गौरा प्रसन्नता से भर दौड़ कर आई। आँखों के आँसू थमते न थे, मुझये अङ्ग-अङ्ग में मानों बसंत फूल उठा। लेकिन यह क्या; शिव की मुखमुद्रा कठोर हो गई। वर्जना में उँगली उठी। पार्वती निस्पंद। शिव की आँखों में शंकाओं के सर्प फुँफकार उठे। 'यह वज्र कपाट खुला कैसे?' 'अपने आप।' 'नहीं यह विश्वास योग्य नहीं। तुम्हें अपनी पवित्रता के लिये शपथ लेनी होगी।' पार्वती सब प्रकार से आज कटिबद्ध हैं विश्वास दिलाने को। शिव ने कहा 'सूर्य की शपथ लो' पार्वती ने शिव की ओर देखा। उनके तेज के आगे ठहर न सके, छिप गये। 'नहीं' यह भी नहीं। तुलसी की शपथ लो।' तुलसी झँवा गयीं। 'सर्प की शपथ लो।' वह भी कुण्डली मार कर बैठ गया। 'गंगा जल हाथ में लो।' गंगा और यमुना के बीच रेत पड़ गई। 'अग्नि की पपथ लो। अग्नि सेरा (शीतल) गई।' पार्वती का क्षोभ उफन आया। सहन-सीमा अब समाप्त हो गई। ना अब नहीं। यह पुरुष का अविश्वास; नारी को अपनी सम्पत्ति समझने का दुराग्रह अब असह्य है। शिव को अब भी संतोष नहीं, अंतिम शपथ फिर दिलाया 'धरती को साक्षी बनाओ'! पार्वती आक्रोश से भर गयीं—'माँ धरती! फट जाओ, जिससे मैं तुम्हारी गोद में छिप जाऊँ। अब यह संसार देखने की इच्छा नहीं। मन भर गया अब तो। और....इस 'अपराधी' का तो अब मैं मुँह नहीं देखूँगी; जो इतने अविश्वास से भरा हुआ है। कदाचित् पार्वती का (स्त्री यह प्रथम विद्रोह है, वह भी आत्मघात द्वारा। स्वयं अनीति करके मुझसे शपथ का प्रमाण चाहता है!—

“सिव जी जे चलले रे उतरी बनीजिया रे दे गइले बजर केवाड़ी रे
बरहो बरिस पर अइले महादेव गउरा मंदिरवा धइले ठाढ़ रे
ए के खोलल बजर केवाड़ रे।
झर-झर नयना से लोर झरे लागल खुलि गइल बजर केवाड़ी रे'
इहो विचरवा गउरा में ना पतियाइबि सुरूज बिचरवा मोहि देहु रे
जब रे गउरा देई सुरूज हाथे लिहली रे, सूरूज भइले छपीत रे।
इहो विचरवा गउरा में ना पतिआइबि तुलसी बिचरवा मोही देहु रे।
जब रे गउरा देई तुलसी हाथे लिहली रे तुलसी जे गइली झँवाइ रे।
इहो किरिअवा गउरा में ना पतिआइबि सर्प बिचरवा मोही देहु रे।
जब रे गउरा देई सरप हाथे लिहली रे सरप बइसेला फेंटा मारि रे।
इहो किरिअवा गउरा में ना पतिआइबि गंगा बिचरवा मोही देउ रे।

जब रे गउरा देई गंगा हाथे लिहली रे गंगा जमुनवा बीचे रेत रे।
इहो किरियवा गउरा में ना पतिआइबि धरती विचरवा मोही देहु रे।
फाटहु धरती अलोप होई जाइबि अब ना देखबि संवसार रे।
एहि अपरधिया के मुँह नाहीं देखवि जिन्हि मोसे माँगेले विचार रे।"

यह है एक स्वयम्वरा की समर्पण से आत्मलयता और आत्मघात तक की जीवन यात्रा। यह है शिव पार्वती के माध्यम से प्रकृत-पुरुष और सम्पत्ति रूपी नारी की गाथा।

—शिव की स्मृति में विद्युत कौंधी 'एक बार आगे-आगे शिव और उनकी अनुगता पार्वती—दोनों गंगा स्नान करने जा रहे थे कि आधे मार्ग में ही बादल घिर आये। घुमड़-घुमड़ कर घटायें बरसने लगीं। शिव का जटाजूट भीगने लगा किन्तु गौरा पर एक बूँद भी न पड़ी। महादेव को विस्मय हुआ। गौरा पर एक बूँद भी नहीं! पूछा, कौन सी तपस्या का फल है कि एक बूँद भी तुम पर नहीं पड़ी?" पार्वती ने कहा—'कार्तिक में एकादशी करती हूँ। द्वादशी को पारण करती हूँ। माघ में रविवार का व्रत करती हूँ....। इसी साधना ने मुझ पर एक बूँद भी नही पड़ती।'—

'शिव जी चलले नहाये, आहो पाछा लागलि चलेली गउरा देई सुनी ए महादेव।
सिव जी के भींजेला जटाजूट, अहो गउरा देइ पर ना परेला बूँन त सुनी ए महादेव।
सिव जी जे गइले चिहाइ, आहो कवना तपे ना परेला बूँन त सुनी ए महादेव।
कातिक करीले एकादसी, दुआदसी के पारन, आहो माघ में करीले अतवार त सुनी ए महादेव....।'

पार्वती का जीवन एक-एक पल तप और साधना से पावन हो चुका है। तो भी इतना अविश्वास, प्रतारणा! कब तक सहेगी? स्वाभिमान किसमें नहीं होता?

शिव की गृहस्थी जमाने के लिए पार्वती ने क्या नहीं किया। दिन-रात खटती रही, उन्हें राह पर लगाने के लिए झगड़ा भी बेसाहती रही किन्तु भला घुम्मकड़ शिव माने कभी! हाथ में वंशी और गले में रूद्रमाल डाले आंगन-आंगन घूमकर डमरु बजाना नहीं छूटा उनका। पार्वती ने वंशी तोड़ दी, माला तोड़ दी, बाघम्बर को छिंगनी कर दिया किन्तु ढाक के वही तीन पात! वही कमण्डल, वही लंगोटी और वही, साँपों को दूध पिलाने की सनक!

हाथ लेल बंसी महादेव, गले रूद्रमाला।
अरे, अँगने-अँगने महादेव डमरु बजावे॥
तुरबो में बंसी महादेव, तुरबो में रूदरमाला।
खून-खून करबो महादेव, बघिनी के छाला॥

× × ×

जोड़बो में कमण्डल गउरा, लइबो लँगोटिया।
दुधवा पिअइबो गउरा, संपवा के मुँहवा॥

गौरी ने कौन-सी परेशानी नहीं झेली। घर में अन्न का दाना नहीं, कोई पायँच भी नहीं दे रहा। खिन्न होकर चूल्हा-चौका छोड़कर वे बिछावन पर लेट गई। शिव आए और खिन्नता का कारण ज्ञात होने पर हँसते हुए कहा—'अरे, कोठी में तो चावल भरा है; देखा नहीं क्या?' सचमुच कोठी का 'आन' खोलते चावल भमक-भमक कर गिरने लगा था! तब बड़ा आश्चर्य हुआ था गौरी को! शिव का भोजन भी क्या! दूध के अदहन में बढ़िया चावल बनाकर सोने की थाली में परोस कर दिया तो 'जेवना नाहीं बनल ए!' कहकर शिव ने अरुचि प्रकट कर दी! फिर तो मिट्टी की चरुइ में ही पानी का अदहन डालकर कोदो का चावल बनाया तो बड़े प्रसन्न हुए महादेव—'

जल के दिहली अदहनिया, कोदइया रंग चाउर ए।
जेवँहि बइठेले महादेव, जेवनवा बाड़ा नीमन ए॥

पार्वती ने पितृग्रह की अपनी रुची बदल डाली और शिव के ही रंग में रंग गई!—

शिवजी के टुटहि मड़इया, त देखते भेयावन है,
अरे, ताहि चढ़ि बइठेली गउरा देइ, मन पछतावेली ए॥

किन्तु मन के पछतावे और दुख को गौरा पी गई और जब 'कान्हे धोती लोर' लिए पिताश्री आए तो वह धधाकर पैरों पर गिर पड़ी, आँसू बरस पड़े और पिता जी ने 'पटुकवन लोर' पोंछ कर पूछ लिया—'कवन कवन दुख तोहरा ए बेटी, से दुख कह समुझाइ जी।'—'नहीं कोई कष्ट नहीं है यहाँ। बड़ा सीधा-सरल बालक जैसा है आपका दामाद!' और न जाने कितने कष्ट, कितनी वेदना सहती आई पार्वती किन्तु दाम्पत्य प्रेम की धारा में कहीं कोई कमी नहीं हुई। जब-तब नोंक-झोंक भी हुआ किन्तु हर बार—'सिव जे हरले गउरा देई जीतली!'

किन्तु इस अविश्वास को कैसे सहे नारी का कोमल मन! 'ईस्सर महादेव' का घर-परिवार बिल्कुल जन-जीवन का घर-परिवार है। वही दुख, वही सुख, वही अभाव!

ऐसे सैकड़ों गीतों की मुक्ता-माला भोजपुरी का कण्ठाभरण है। जिनमें जीवन, समाज की जाने कितनी समस्यायें गुम्फित हैं। भावों की कितनी तरङ्गें आलोड़ित हो गायक-श्रोता दोनों को निमज्जित कर देती हैं। शिव का यह अनगढ़ प्रकृत-पुरुष रूप जन-मन का प्रिय श्रृङ्गार है। कथ्य का साधन हैं। पीड़ित मन का आश्वासन है। कृष्णप्रिया राधा का कोई अनुष्ठान नहीं। कौन चाहेगा कि एक बार प्रिय मुँह फेर कर जाये तो फिर कुहरती छोड़ दे और कभी लौट कर न आये? राम की

सीता सती हैं, पतिप्राणा है ; किन्तु राम की अग्नि-परीक्षा और सीता का वसुमती को समर्पित होना—कहीं से खरोंच जाती है नारी के हृदय को। फिर राम की मर्यादा स्मिति में कहीं उन्मुक्त मन के विलास को आश्रय नहीं। कदाचित् इसीलिये नारी शिव को, शिवरात्री को, उन्मुक्त सर्पालिङ्गी (प्रेमातिशय्य) गजाजिन धारी (उन्मत्त), अगेही (वंधनमुक्त-निस्सीम), अशिव (श्मशान वासी) पिनाकपाणि (शक्ति) को समर्पित हो गई क्योंकि शिव ने पार्वती को आत्महत्या न करने देकर अपने अंगों में वसा लिया।

भोजपुरी लोकगीतों का यह शिव गायक मनीषी कितना अधिक विद्वान भावुक रहा होगा ; जिसने हमारे समाज की समस्याओं, नारी की सभास्थित विवशता; उसके मनोविज्ञान को इतनी गहराई से अनुभव किया और इतनी कोमल मनोहारी मर्यादित झाँकियों से सजाया कि ये गीत आज भोजपुरी की जीवंतता, भावसम्प्रेषणीयता, सांस्कृतिक धरोहर के साक्षी बन गये। यहाँ न कालिदास के शिव सा शृंगारी रूप हैं, न पुराणों का अश्लीलता की सीमा को स्पर्श करता वितृष्ण कामातुर भंगिमा है। वरन् भारतीय साँस्कृतिक गरिमा से स्नात पूर्णपुरुष का एक विमोहक संसार-सार रूप है।

ब्रजभाषा का राष्ट्रीय महत्व

☐ श्री शिवदत्त चतुर्वेदी

"दियौ सुकुल जन्म शरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को।
यह भरत खण्ड समीप सुरसरि थल भलो संगति भलो।
तेरी कुमति कायर कलपबेलि चहति बिस-फल फलो॥"

सुन्दर कुल में जन्म, सुन्दर स्वस्थ शरीर जिससे चारो फल की प्राप्ति हो औ मनुष्य विष्णुपद या शिवपद प्राप्त कर सके, भारतवर्ष में जन्म, गंगा के निकट सु स्थान और सुन्दर सात्विक संग-सत्संग—सभी सर्वोत्तम साधन प्राप्त, फिर भी मन्द बुद्धि, तू अपनी कुमति से कलपबेलि में विष के फल लगाना चाहता है। भा में जन्म लेने का यह गौरव !

ब्रजभाषा ने अपने अखिल राष्ट्रव्यापी सुप्रभाव से पूरे देश के प्रतिभाशा कवियों को आकृष्ट करने में तो कमाल ही किया है। अन्य धर्मावलम्बी इस्ला नुयायी जितने कवि ब्रजभाषा पर मुग्ध हुए उतने अन्य किस पर ? अब्दुर्र खानखाना, रसखान, आलम, ताज, शेख, रसलीन आदि सभी ने ब्रजभाषा के द्वा देश की मुख्यधारा से अपने को जोड़ते हुए और उससे तादात्म्य कर ब्रजभा पर उसके राष्ट्रीय महत्व की छाप सदा-सदा के लिए लगा दी। रहीम ने पौराणिक कथाओं के हवाले देते हुए नीति विषयक अत्यन्त लोकप्रिय दोहे लि कर इस देश की भाषा और संस्कृति व साहित्य के साथ ऐसा तादात्म्य स्था किया कि वे आज इस देश में राष्ट्रीयता के प्रकाश-स्तम्भ माने जाते हैं। हि मुसलमान का भेद यदि बिल्कुल विलीन हुआ कहीं दृष्टिगोचर हो सकता है ब्रजभाषा साहित्य में ही। रहीम का एक दोहा उदाहरणीय है, जिसे कोई परम आस्तिक हिन्दू कवि या भक्त का लिखा मान सकता है।

अच्युत चरण तरंगिनी शिव सिर मालति माल।
हरि न बनैयो सुरसरि, कीजो इन्दव-भाल॥

रहीम कहते हैं; हे माता गंगे, तुम विष्णु के चरणों से प्रकट हुई विष्णुपदी नाम से विख्यात हो और यह भी सभी जानते हैं कि भगवान शिव के सिर तुम मालती की माला की तरह शोभायमान हो। मैंने सुना है कि तुम अपने स्नान करनेवालों को तुरन्त विष्णुपद या शिवपद प्रदान कर देती हो ! मैं मैं स्नान करने आ रहा हूँ। हे माँ, मुझे विष्णुपद प्रदान मत करना क्योंकि

तो तुम मेरे चरणों में आ जाओगी, जो मुझे कदापि स्वीकार नहीं, हाँ मुझे शिवपद भले ही प्रदान कर दो क्योंकि तब तुम सदा मेरे शीश पर ही रहोगी। कोई कहे ब्रजभाषा साहित्य को छोड़कर ऐसा एकीकरण, ऐसा तादात्म्य, ऐसा अन्तर्मिलन, ऐसा एक रूप हो जाना और कहाँ दिखाई देता है ? यह राष्ट्रीय रूप एकपक्षीय नहीं उभयपक्षीय है। खानखाना की दानशीलता, उदारता, कवियों की सेवा-सहायता और उदात्त चरित्र की सात्विकता की अर्चना महाकवि विहारी ने की। परम सगुणोपासक भगवद्भक्त और शृंगार के रससिद्ध महाकवि विहारी रहीम के धवल यश, परोपकारी एवं उदार जीवन से ऐसे प्रभावित हुए कि उनके वर्णन में तीर्थराज, प्रयाग से उनके मुखमण्डल की समता करने में उन्हें कोई संकोच न हुआ :

गंग गौंछ मौंछें जमुन अधरन सुरसुति राग।
प्रगट खानखानान के तीरथ वदन प्रयाग ।।

रहीम जी के गलगुच्छों के बाल श्वेत हो गए थे अत: गौंछें श्वेत होने के कारण गंगा, मूँछें काली होने के कारण जमुना तथा दोनों ओठ लाल होने के कारण अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति हैं। मालूम होता है खानखाना का मुख तीर्थराज प्रयाग वन गया है जो सकल कामनापूरक है।

यदि बिहारी खानखाना रहीम के दरबारी कवि होते तो इसे कुछ और समझा जाता। परन्तु तथ्य यह है कि बिहारी कभी मुगल दरबार की ओर फटके तक नहीं। वास्तविकता यह है कि रहीम की दान-वर्षा और हिन्दी-हितैषिता की झड़ी ने धर्म-भेद व जाति-भेद की दिवालों को ढहा दिया था। हमारे साहित्य क्षेत्र या काव्य जगत् में राष्ट्रीयता का यह रूप हमें जायसी आदि सूफी सन्तों की कृतियों में भी दिखाई दे सकता है। मुसलमान होते हुए मुसलमानी शासन काल में भी उन्होंने अपनी रचनाएँ हिन्दी में लिखीं और उनमें हिन्दुओं के घर की कहानियाँ ऐसी लिखीं जैसी कोई हिन्दू लिखता।

ब्रजभाषा का एक क्षेत्र विशेष और है जिसने जाति-भेद व धर्म-भेद को मिटाने में सबसे बड़ी भूमिका निभाई है। उस क्षेत्र में आते हैं ब्रजभाषा के वे पद रचना करनेवाले कवि जिन्होंने गेय पद लिखकर उन्हें संगीत के पर लगाकर सारे देश में उड़ाया। संगीत शास्त्र की कोई राग-रागिनी नहीं, जिसमें सूर ने पद रचना न की हो। सूर और अन्य अष्टछाप के कवियों के पद, मीरा के पद व अन्य शृंगारी एवं भक्त कवियों के पदों को हिन्दू हों या मुसलमान सभी गायकों ने समान रुचि, समान स्नेह और समान आदर से क्या नहीं अपनाया ? हिन्दू-मुसलमान सभी गायक उन्हें शाही दरबारों, राजाओं की, महाकवियों और नवाबों-रईसों की कोठियों से लेकर मन्दिरों तक बिना किसी भेदभाव के शास्त्रीय पद्धति पर गाते

और राधा-कृष्ण के परस्पर प्रेममिलन और भक्ति रस की गंगा बहाते रहे हैं। ये ब्रजभाषा के मधुरतम पद मुगल दरबारों में हिन्दू-मुसलमान गायकों द्वारा शास्त्रीय संगीत के नियमानुसार जब गाये जाते थे तो उनकी मिठास के आगे उफनती हुई शीराजी के मादक उफान भी फीके पड़ जाते थे। ब्रजभाषा के पदों या गीतों ने शास्त्रीय संगीत से मिलकर संगीत जगत् में जो मेल बढ़ाते हुए अभेद स्थापित किया वह आज भी भारत भर में देखा जा सकता है। तात्पर्य यह कि ब्रजभाषा का साहित्य और संगीत देश में जिस राष्ट्रीय स्वरूप की स्थापना कर सका वैसा अन्य किसी भारतीय भाषा का साहित्य कदाचित् ही कर सका हो।

ब्रज की धरती श्रीकृष्णमय है और भक्तों ने इसके चप्पे-चप्पे में, यहाँ की मिट्टी के कण-कण में राधाकृष्ण के प्रेम की सुगन्ध अनुभूत की है। जो भी इस जीवन-सौन्दर्य की गरिमा के सम्पर्क में आया वह वैषम्य से ऊपर उठ गया। उसकी रहनी में भेद कहीं रहा ही नहीं। भगवान श्रीकृष्ण के 'समत्व' का उपदेश और सभी प्राणियों में उन्हीं को देखने का सन्देश मानों ब्रज में रस-बस गया है और इस जनपद की संस्कृति ही अभेद और एकत्व से भरे प्रेमरस से रससिक्त हो गई है। इसीलिए ब्रजभाषा का अकूत भण्डार भी प्रेम और समत्व के रत्नों से परिपूर्ण रहा है।

जिस ब्रजभाषा ने राष्ट्रभाषा को अखिल देशव्यापी लोकप्रियता के साथ उसके प्रचार-प्रसार और प्रभाव में सर्वाधिक वृद्धि की; दूसरे शब्दों में जिसने उसके राष्ट्रीय स्वरूप के निर्माण में सबसे अधिक योग दिया, यहाँ तक कि शताब्दियों तक हिन्दी का पर्याय बनकर राष्ट्रभाषा का दायित्व सम्पन्न किया उस ब्रजभाषा के प्रति आज हम कर्त्तव्य पालन न करें तो इस कृतघ्नता का प्रायश्चित्त क्या होगा इसका निर्णय तो आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के शब्दों में कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है!

□

ब्रज-जनपदीय प्रबन्ध लोकगीतिका 'जिकड़ी भजन'

□ डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा

भारत वर्ष के प्रत्येक जनगण प्रान्तर में लोक गाथाएँ प्रचलित हैं :— पंजाब में हीर-राँझा, मारवाड़ में ढोलामारू, उत्तर प्रदेश में आल्हा, बिहार में लोरिक और छत्तीसगढ़ में ढोला और रसालू अधिक लोकप्रिय हैं। परन्तु ब्रज प्रदेश में इन सभी विधाओं के दिग्दर्शन के साथ एक विशिष्ट गाथा परम्परा है जिसे 'जिकड़ी भजन' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह दुकलिया और चौकलिया दो प्रकारों में पाया जाता है। इस विधा के गायकों की टोलियाँ ग्राम-ग्राम में आज भी विद्यमान हैं। जिनके संगठन में एक हारमोनियम बजाने वाला, एक ढोलक बजाने वाला, एक खड़ताल बजाने वाला तथा इन के साथ ४ व्यक्ति आगे गाने वाले और ४ बालक सुरीली आवाज के, गणवेश से सुसज्जित पीछे गाने वाले होते हैं। ब्रज मण्डल में जिकड़ी भजनों की मंडलियाँ बंसत पंचमी से ही अपना कार्य प्रारम्भ कर देती हैं। ग्राम-ग्राम में निश्चित तिथियों में फूलडौल होते हैं, और रात्रि के समय जिकड़ी गायकों की विभिन्न स्थानों से आगत टोलियों की संगीत साधना को श्रवण करने के लिये ग्रामीण नर-नारी निर्धारित स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं। आगुन्तक समस्त नर-नारी उस स्थान के स्वामी तथा मुहल्ले वालों के अतिथि होते हैं, इसी लिये उनके बैठने तथा हुक्का पानी का प्रबन्ध बड़े चाव और मनोयोग से उस मुहल्ले वाले करते हैं। और यही नहीं, सुरक्षा बल की भी व्यवस्था करते हैं, जिससे कोई उपद्रव न हो जाय। सामाजिक भी आनन्द पूर्वक हुक्का गड़गड़ाते हुए जिकड़ी गायकों की कला का रसास्वादन करते रहते हैं।

जिकड़ी भजनों का विषय अधिकांशतः पौराणिक शौर्य गाथाओं-विशेष रूप से रामायण, महाभारत और भागवत से अभिनिष्ट है। जिनके माध्यम से लोक गाथाकारों ने गूढ़-से-गूढ विषयों को लोकभाषा में चित्रित कर ग्रामीण जनजीवन को इतना प्रभावी बनाया है कि वर्तमान के बदलते हुये मानवीय परिवेश में नैतिकता, सहानुभूति, पूर्णसहिष्णुता, कर्त्तव्यपरायणता, दयालुता, सच्ची धर्मनिष्ठा, आदि गुण इन भोले-भाले ग्रामीणों के चरित्र में आज भी विद्यमान हैं।

प्रत्येक जिकड़ी रचना में मंगलाचरण में दुर्गा माता की वन्दना है, जिसे भेंट नाम से अभिहित करते हैं :—

जय दुर्गे जगतारनी, भुज चार सस्तर धारनी।
वैरीन के दांत उखारनी, भवसागर पार उतारनी।
मैया! अस्ट भुजन में बान, गिन गिन दने—
मारती सो सो जोधा एक न दियो जान।
सो करि दे, पार सदा पन पारे री, तेरी महिमा तीनो लोक में"।

ग्रामीण परिवेश में जन्मी यह स्वयंभू परम्परा आज भी अप मूलरूप में अक्षुण्ण है, भले ही इसके अनाम-अज्ञात महान् रचयिताओं का नाम अतीत के गर्भ में विलीन हो चुका है। परन्तु इन गाथा जिकड़ियों की गेय शैली और संवेदना आज भी परिलक्षित है। ग्रामीण अंचल के प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह जिकड़ी-गीत उतने ही आनन्द रससिक्त और प्रेरणाप्रद हैं जितने की ये अपने आदि युग में थे। इन गाथाकारों की टोलियों को "चौपई" नाम से भी अभिहित किया जाता है। आधे चैत तक ब्रज के ग्राम-ग्राम में चौपइयों की भरपूर धूमधाम मची रहती है। नर-नारी चौपइयों के रागरंग में मद-मस्त हो चिन्ताओं से मुक्त हो जाते हैं। उस समय ब्रज के खेत-खलिहान, चूल्हे, चौपालों, गली-कूची में यौवन से गदराये किशोरों के इठलाते हुये अल्हड़ कदमों, घुटरूअन दौड़ते दधिस्नात निष्कलंक बाल-मुखों और अस्ताचल की ओर लुढ़कते परिपक्व बूँदों की सच्चाई, निष्कपटता, निश्छलता तथा हेला देते होठों और गालतनी-ग्रीवाओं से वीररस आश्रित शृंगारिक पुट सहज ही उपलब्ध होता है। जिसमें लौकिक जीवन की सुन्दर झांकी और लोक-हृदय का स्पन्दन स्त्री और पुरुषों की तरंगित भावनाओं में थिरक उठता है:—

मति चले मरोरा चाल नजर तोय लग जायगी।
घूँघट में चमकें नैन, नथुलिया मुरि जायगी।
पतरी-पतरी-पातरी, ब्यार चले लहराय।
कौन के जियराय लेगी, हंसिके कटरिया देगी।

वास्तव में ये जिकड़ियाँ श्रेष्ठ लौकिक वीरों के चरित्रों से सम्बद्ध हैं। इस नाते रस भी वीर तथा शृंगार ही हैं। जिसका आशय श्रोताओं को चमत्कृत कर वीर रस परम्परा को अक्षुण्ण रखना है। कभी-कभी तो इन गायकों में गायकी के विषय पर पारस्परिक सांस्कृतिक मधुर विवाद भी उठ खड़े होते हैं। जिन्हें 'वाद', नाम से अभिहित किया जाता है। और इनका समाधान भी गायकी के द्वारा प्रत्युत्तर के रूप में होता है। इन वादों के निर्णायक भी श्रोता ही होते हैं जो अपनी मूक निर्णायक प्रक्रिया द्वारा मध्यस्थता कर जिकड़ी की श्रेष्ठता, उपयोगिता का मूल्यांकन करते हैं। जो इस विधा के गायकों की गायकी का निकष होता है।

जिकड़ी चाहे दुकलिया हो चाहे चौकलिया उसका प्रारम्भ सदैव गाथा, गाह्या, गाह्या छन्द से ही होता है। चूँकि जिस गाथा को गायक सुनाने जा रहे हैं उसकी भूमिका यह गाह्या छन्द ही होता है जो सामाजिकों के हृदय में उत्सुकता का बीज रोप कर रस को अंकुरित करता है। बीच-बीच में प्रत्येक जिकड़ी के अन्त में रस परिवर्तन कर ये गायन रसिया या होली गायन का प्रयोग करते रहते हैं ताकि सामाजिकों में प्रर्याप्त जागरूकता और कौतूहल का वर्धन होता रहे। श्रेष्ठ वीरों की वीर रसोक्तियों के उभार का ऐसा चित्रण आवश्यक भी होता है। चूँकि शृंगार और वीररस अन्योन्याश्रित हैं। सम्भवतः वीरगाथा कालीन साहित्य में शृंगार को इतना महत्व इसी आशय की पूर्ति के लिए मिला हो :—उदाहरणार्थ रामाश्वमेध यज्ञ की रामायण-कालीन शृंगार रस के सान्निध्य में वीर रस परिपूर्ण एक जिकड़ी का दृश्य प्रस्तुत है—

गाह्या : — सस्तर धुने घोड़ा छोड्यो, गाहत आयौ विपिन में।
सेना वेपरमान, पहुँच्चौ गंगाधाम में, जहाँ बाल्मीकि अस्तान,
सुन्दर ब्रिरछ बने गुमटी के, चक बाय गयौ घोड़ा मझ को ॥टेक॥
परभात चढ़यौ दिन थौरो।

चौंक :— प्रात के हौम के काज, सियासुत लैन समन्द भयानगता
ऋषीन के संग कुमार घने तुरबाय रहे दुम की सुखी लता
सो वाजी टाप विजय घोड़ा की, चौकि उठयौ मत भौरो ॥
परभात चढ़यो दिन थौरो (।)

सती साध्वी सीता के पुत्र "लव" ने घोड़े को पकड़ कर उसकी गर्दन में बँधे पट्टे को पढ़ा तो ज्ञात हुआ कि सूर्यवंशी महाराज दशरथ के पुत्र "राम" के अश्वमेध-यज्ञ का घोड़ा है, जिसमें सूर्यवंश के क्षत्रीय कुल की विशिष्टता के अतिरिक्त शेष सभी क्षत्रीय कुलों की वीरता की अवमानना की गई है। साथ ही एक प्रतिज्ञा भी अंकित है कि जो इस घोड़े को पकड़ेगा उसे युद्ध करना पड़ेगा।

जैसे ही ऋषि कुमारों ने उस सुसज्जित सुन्दर घोड़े को देखा तो वे उसके सौन्दर्य पर विमुग्ध हो पारस्परिक चर्चा करते हुये कहने लगे :—

" कोऊ कोऊ कहत स्वरण कौ घोड़ा, कै भूलि गयो मघवा वन में,
कै काऊ भूप ने यज्ञ करी, घुमें गज बाज विहंगन में ॥
सौ घोड़ाऐ छोड़ि सिया के बेट, नायें कछु लड़कि पटोरों।"
परभात चढ़यो दिन थौरो ॥

ऋषि कुमारों को प्रत्युत्तर देते हुये "लव" की क्षत्रीय सुलभ गर्वोक्ति तो सुनते ही बनती है—

मारूँ बान दिशा दहलाय दऊँ खुलिजाय गैल रसातल की।
स्वरग फटै ब्रह्माण्ड विलाय जाय, है जाय छार धरातल की ।।
सो रघुकुल को उन्मान कहाऐ करि दऊं री पट रोरो ।।
परभात चढ़यों दिन थोरो ।।३।।

रामायणकालीन चित्रण की भाँति ही महाभारत कालीन श्रेष्ठ वीरों के चरित्र चित्रण में भी इन लोकगीत गाथाकारों ने तत्कालीन सामाजिक सांस्कृतिक परम्पराओं को उजागर करने में अपनी उन्मुक्त कवित्व शक्ति का पूर्ण परिचय दिया है जिसमें श्रृंगार के सान्निध्य में वीर रसका स्रोत फूट पड़ा है। गाथा का विषय धर्मराज युधिष्ठिर के राज्य के राज्यसूय यज्ञ के घोड़े का सौन्दर्याकर्षण है जिसने जनसाधारण को आश्चर्यान्वित किया है, उसी चर्चित घोड़े को अलूपी के पुत्र बभ्रूवाहन पकड़कर लाते हैं—

गाहा :— गहयौ कुमरनै बाज फेरि मन पुर आयौ
जुरयौ नगर को लोग तमाशी देखन आयौ ।।
हीरा मुख्ताल, बार बार मोती गुहे, सो गुहरहे जवाहरात हीरा लाल।
चरचा होन लगी नगर में, काऊ सौदागर की द्रव्यै ।
टक : दाखिल भयौ बाज पवँर पै ।।
चौक : सरवन सात सुपेदी रंग कौ, बाज कहाते आयौऐ ।
कै कोऊ सौदागीर मुसाफिर लूटयौ, वाय नागिन को सुन लायोए ।।
घोड़ा हाथ दयौ चाकर के, पहुँच्चौ नागकुवंरि पै ।।
दाखिल भयौ बाज पवंर पै ।।

और यही नहीं घोड़े के दिव्य सौन्दर्य ने दर्शकों के हृदय में अनेक सन्देहों को जन्म दे दिया है :—

कै जिय बाज उल्लका नगरी, देवनके भण्डारी कौ ।
इन्दुपुरी इन्द्रको घोड़ा, मघवा की असवारी कौ ।।
सो; मिरत लोक में घोड़ा आवै कहाँते ऐसो ।।
लखि बाज विपिन वन कैसो ।

उस सुन्दर घोड़े को लेकर बभ्रूवाहन जब अपनी माता अलूपी के पास पहुँचते हैं तो वह उस घोड़े को पहचान लेती हैं और अपने वीर पुत्र को साथ लेकर पाण्डुनन्दन के पास, भेंट सहित घोड़े को वापिस ले जाती हैं। पर अर्जुन वीर प्रसूता अलूपी के इस आचरण से असन्तुष्ट ही नहीं होते वरन् गर्वके साथ अपशब्द भी कह उठते हैं कि न तो तुम मेरी पत्नी हो और न यह मेरा पुत्र ! चूँकि जिसमें अर्जुन का अंश हो और वह प्राणों की भीख माँगे यह असम्भव है :—

भिच्चक डोम, कढ़ेरो, कुम्हरा, परि गयो नारि नज़र तेरी ।।
गनिका किसबिन भई तू, बाला आज बनें मेरी ।।
सो कै सतसंग करी काहिरते, कै कऊ बनिया बगर तिहारे
लटि खोलि चरन पग झारे ।।

और इतना ही नहीं पुत्र को भी दुत्कारते हुये लात मारी, :

बालिक के सिर ठोकर मारी, तू होतई दुष्ट मरयो नाओ,
जामें अंश परयो अर्जुन को, रन ते नैंक मुरयो नाओ ।।
सो तू काऊ और अर्जुन को बेटा बदिकैं उजिन विचारे ।।

अर्जुन के व्यंगबाणों के प्रत्युत्तर में बभ्रूवाहन का कथन भी नहले पर दहला वाली उक्ति को चरितार्थ करता हुआ प्रतीत होता है :—

कबके मर्द भये कौंती सुत, तपत विपिन बिन धनीरे ।।
जीज़ निरप जियो जरजोधन, तिलभरि भुम्य न दीनीरे ।।
सो मैंने सुनि चित्रा नगरी ते तुम भीख मांगि के खाओ ।

इतना ही नहीं :—

गरज़ गजा दस दण्ड हटयो, यानें वज्जुरत दस भुजा मसकी
फूल भुजा गरगज्ज भई, याके मुरवा फूलि धरा घसकी ।।
सो सम्हरो पण्ड् उठी आसन से, वान गहयो सर आयो ।।

उक्त दोनों गाथा दुकलिया जिकड़ी से उदघृत है जिन में शृंगार तथा वीर दोनों रसों का परिपाक हुआ है पर प्रमुखता वीर रस को प्रदान की गई है। विशिष्टता केवल इस बात की है कि रामायण तथा महाभारत के गूढातिगूढ़ प्रसंगों को कितना सहज और सरलभाषा के माध्यम से साधारण-से-साधारण व्यक्ति तक पहुँचा दिया है जो आज भी भोले-भाले ग्रामीणों के हृदय में घर किये हैं। वृद्ध-बाल श्रुतपरम्परानुसार इस विधा को बनाए हुए हैं, यही कारण है कि जिकड़ी की द्वितीय विधा चौकलिया ब्रज के जन-जीवन में इतनी चर्चित और विकसित हो चुकी है कि प्रत्येक ग्रामीण अपने लोक और व्यावहारिक जीवन में इसे साधे हुये है। इसमें भी "गाहा" छन्द उतना ही महत्पूर्ण है जितना कि दुकलिया में : —

गाहा :— सुन जनमेज महीपति राजा, बा छटये दिन के जुज्झ को ।
महाभारत की ओर दोऊ लगते सेना चली, भई शंखन की घन घोर ।
भई शखन की घन घोर कटक पाण्डन को साज्यो ।
जरजोंधन की ओर परेते भीसन गाज्यो ।।
अब्धुनि बाँधि रही रे दलन में अब धुनि बाँधि रही रे,
वित शंख भीम को बजि गयो ।।

चौपई :—तरकस बान हाथ में लीए, रथ में बैठयों सम्हरि कैं ॥
।। हाके रथ स्याम जती को ।।टेक ।।

उक्त छन्द में दोनों तरफ की सेनाओं की तैयारी का वर्णन रससिद्ध लोक कवि द्वारा प्रस्तुत हुआ है। कवि ने अपनी विशिष्ट प्रकृत प्रतिभा से एक ऐसा नाद सौन्दर्य उपस्थित कर दिया है जिसका श्रवण कर श्रोता उमंग में डूबने-झूमने लगता है :—

"ज़रासिंध कौ कुमर बढ़ाय रथ लायौ।
राजा कमल नैंन वैराट पुरी तैं आयौ ।।
द्रुपत के सुत सजे शंख जब बाजे।
काशी भूप नरेश कटक में गाजे ।।
महाभारत की ओर भई घनघोर, चली जब सेना,
रन भुम्मियन के बीच, चलें दल टहना के टहना ।।
भयौ दोऊ लंगते चक-चौथा, दलन में मारि रहयौ कौधा ।।
छौहनी सात सजी न्यारी, राजा तीस हजार संग में, छन्तुर के धारी ।।
टेक :— सजि गई फौज आरतो कीयौ, द्रोपति नारि पती को ।।
हाकै रथ स्याम जती को ।।

इस प्रकार की दुकलिया और चौकलिया जिकड़ी भजनों की परम्परा ब्रज के गाँव-गाँव में अनादि काल से चली आ रही है। गायकों तथा रचयिताओं का परिचय भी इन जिकड़ी भजनों में सहज सुलभ हो जाता है। कभी-कभी समाज में व्याप्त कुरीतियों का चित्रण भी इन जिकड़ी गायकों ने दृढ़ता से किया है।

इसी प्रकार का एक चित्र भागवत से देवासुर संग्राम का प्रस्तुत हैं। इसके वक्ता सुखदेव मुनि मुख्य श्रोता राजा परीक्षित को अष्टम स्कन्ध की कथा सु रहे हैं।

राजा सुन अष्टम अस्कंध बढ़ै आनन्द,
बड़ो सुखकारी यामैं अध्याएँ छत्तीस
मचैगी समुदर की ख्वारी।
सेस की नेती करलीनी करइया पर्वत की कीनी,
धमरका देव असुर मारयौ
चौदह रतन निकार समुदुर खाली करि डारयौ।
सो कह रहे असुर लड़ी देवन तै
हम तैं दैं गई फेर दगाऐ।
पी ले झिक वीरसुधाऐ।

जिकड़ियों में समाज का प्रत्यक्षतः प्रतिबिम्ब होता है जिसे लोकभाषा के माध्यम से इन रचयिताओं ने इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि सर्वसाधारण सुगमता पूर्वक ग्रहण कर बुराई से पीछा छुड़ा सकें। कभी-कभी तो ऊँचे-से-ऊंचे आदर्श चरित्रों और उनकी वीर प्रशस्त गाथाओं को सामान्य जीवन में ऐतिह्य करा दिया है। कभी-कभी गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों का उद्घाटन प्रचलित भाषा में इस प्रकार निरूपित किया गया है कि आज का अनुभव-शून्य शिक्षित व्यक्ति समझने में सर्वथा असमर्थ है। परन्तु श्रुतपरम्परा के आधार पर इन सौम्यता की प्रतिमूर्त्ति ग्राम्य देवताओं ने कठिन-से-कठिन रहस्यों को अपने जीवन का अंग बनाकर धारण कर लिया है। इस प्रक्रिया में जिकड़ी अपना अनूठा स्थान रखती है, सम्भवतः भाव, कला और भाषा की दृष्टि से जितना सुगठन जिकड़ी रचयिताओं ने किया है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। रामायण तथा महाभारत के कथानक परिणाम स्वरूप आज भी अपढ़-से-अपढ़ ग्रामीण के मुख से निःसृत होते रहते हैं जब कभी जिकड़ी गायक किसी ग्राम में अपने सुर ताल और लय के साथ जिकड़ी गाता है तो ढोलक के ऊपर हाथ पड़ते ही ग्रामीण अपनी शय्या पर करवट बदलना प्रारम्भ कर देता है और अन्ततोगत्वा अपना हुक्का उठाकर उस स्थान की ओर खिचा जाता है जहाँ जिकड़ी का आयोजन हो रहा होता है। बिना किसी पुलिस प्रबन्ध के और बिना सरकारी तंत्र की किसी सहायता के ग्रामीण ये बड़े-से-बड़े आयोजन अपनी मर्यादा के अन्तर्गत उन्मुक्त प्रकृति के सान्निध्य में सम्पन्न कर ही लेते हैं। वहाँ किसी प्रकार का वैमनस्य प्रतीत नहीं होता और न कोई भेद प्रश्रय पाता है। सभी एक ही स्थान पर जमीन पर बैठकर सम्पूर्ण रात जिकड़ी का रसास्वादन करते रहते हैं।

आधुनिक युगीन नव मूल्यानुसंक्रमण के गहमागहमी भरे दौर में जहाँ प्राचीन मूल्यों में निरन्तर ह्रास होता दिखाई दे रहा है;एक गाँव में कई-कई गाँव हो गये हैं; समरस भ्रातृत्व-बन्धुत्व-भाव तिरोभूत हो चुके हैं, लोक जीवन को आज भी ये 'जिकड़ी' एक स्थान पर बिना वर्णभेद, आयुभेद और स्तरभेद के एकत्र करने में सफल होते हैं। क्या राष्ट्रीय एकता, सर्वधर्म समभाव और एकजुटता के लिए इस जनपदीय धरोहर का मूल्य कूता जा सकता है? प्राचीन मूल्यों की रक्षा करते हुए नवीन मूल्यों की स्थापना में क्या ये तत्त्व सहायक नहीं हो सकते? हमें इसका उपाय करना आवश्यक जान पड़ता है।

□

मिथिला जनपद और मैथिल

☐ पण्डित श्री तारिणीश झा,
व्याकरण, वेदान्ताचार्य

मिथिला नाम बहुत प्राचीन है। पुराणों में, तन्त्रों में इसका उल्लेख ही नहीं इसका भव्य भाव भरित माहात्म्य वर्णित है। वेदों में, शतपथब्राह्मण (१४-५-१), कौषीतकी उपनिषद् (४-१), बृहदारण्यक (३, १, १), तैत्तिरीय (३, १०, ९९), में मिथिला नरेश विदेह की कथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पुराणों में मिथिला की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—

'मथ्यन्ते रिपवो यत्र सा मिथिला प्रकीर्तिता।'

अर्थात् जहाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य रूप छह शत्रुओं का मन्थन किया जाता है, वह मिथिला है। वस्तुतः मिथिला के प्राचीन राजा और विद्वानों का ऐसा ही चरित्र सुना जाता है। जीवनमुक्त परमज्ञानी शुकाचार्य ने अपने पिता श्रीभगवान् वेदव्यास के आदेश के अनुसार महाराज जनक से ही ज्ञानोपदेश ग्रहण किया था। अनन्त शेषावतार भगवान् बलभद्र मिथिला के निवासी आत्मदेव नामक ब्राह्मण से सत्संग करने के लिए गये थे। मिथिला के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् महर्षि याज्ञवल्क्य की स्मृति तथा उसकी मिताक्षरा टीका की सर्वाधिक मान्यता प्राचीन काल से अभी तक सभी न्यायालयों में प्रचलित है। प्राचीन काल से ही वैदिक क्रिया-कलाप का प्रचुर प्रचार भारत में सर्वत्र हुआ है, किन्तु भव-भीति भंजक ब्रह्मतत्त्व का यथार्थ रहस्य जो आर्य संस्कृति की सर्वश्रेष्ठ विभूति एवं वेद-वेदान्त का तात्पर्यार्थ माना जाता है, मिथिला का ही मुख्य धन है। इस सम्बन्ध में दिग्दर्शन के लिए मिथिला के एतद्युगीन दो-तीन मूर्धन्य विद्वानों का परिचयोल्लेख करना आवश्यक होता है—

(१) श्री वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०)

वाचस्पति मिश्र मिथिला के रहने वाले थे। सभी दर्शन-शास्त्रों पर उनका समान अधिकार था और सभी दर्शनों पर उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान 'वेदान्त दर्शन' के 'शांकर भाष्य' की टीका 'भामती' का है। टीका का यह नामकरण उन्होंने अपनी पत्नी के नाम पर किया है।

उनके विषय में प्रसिद्ध है कि वे एक बड़े विरक्त और सच्चे दार्शनिक विद्वान् थे। विवाहित होते हुए भी वे सदा गृहस्थ धर्म से पराङ्मुख रहे और अनवरत रूप से गम्भीर मनन और दार्शनिक साहित्य की सृष्टि में प्रयत्नशील रहे। वृद्धावस्था के आने तक उनके कोई सन्तान न हुई तो एक दिन उनकी पत्नी ने दुःखी होकर वंश की रक्षा और नाम चलाने की आवश्यकता की ओर उनका ध्यान

दिलाया। इस पर उन्होंने पत्नी को जो उत्तर दिया वह विश्व साहित्य में सर्वोच्च भावनाओं में से एक है।

उन्होंने कहा—'पुत्र के होने पर भी तुम्हारा नाम और वंश चलता रहे इसका क्या ठिकाना। मैं अब तक इस ओर नहीं गया, अब क्या जाऊँ। पर हाँ तुम्हारे नाम को अमर करने के लिए मैं अपनी सर्वोत्तम कृति वेदान्त भाष्य की टीका का नाम तुम्हारे नाम पर रख देता हूँ। तुम्हारा पुत्र संभव है एक या दो पीढ़ी तुम्हारा नाम चलाता, परन्तु अब तुम्हारा नाम सदा के लिए अमर हो जाएगा।'

और सचमुच आज 'वाचस्पति मिश्र' और 'भामती' की इस युगल जोड़ी का नाम भारतीय साहित्य में सदा के लिए अमर हो गया है। विद्वानों ने ब्रह्मसूत्र पर 'शांकर भाष्य' से भी अधिक आदर 'भामती' को दिया है और श्री वाचस्पति मिश्र को 'षड्दर्शनवल्लभ' की उपाधि से सम्मानित किया है। ऐसे महापुरुष का पावन चरित्र पढ़कर हमारा हृदय गद्गद् और शरीर रोमांचित हो उठता है। यह त्याग, यह तपस्या, यह शास्त्रनिष्ठा और एकाग्रता सचमुच स्वर्गीय विभूति है। वाचस्पति मिश्र' के जीवन में इन विभूतियों ने उनको देवकोटि में पहुँचा दिया है।

(२) श्री उदयनाचार्य (९८४ ई०)

न्यायशास्त्र के स्रष्टाओं में श्री वाचस्पति मिश्र के बाद श्री उदयनाचार्य का स्थान है। बौद्ध दार्शनिकों ने श्री वाचस्पति मिश्र की आलोचना की। उसके उद्धार के लिए श्री उदयनाचार्य ने 'न्यायवार्तिक-तात्पर्य टीका परि शुद्धि' नामक ग्रन्थ की रचना की। अनन्तर बौद्ध दार्शनिकों से संघर्ष के कारण ही उन्होंने 'न्याय कुसुमांजलि' और 'आत्म तत्त्व विवेक' नामक दो अत्यन्त उच्च श्रेणी के दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से 'कुसुमांजलि' में ईश्वर-सिद्धि का सफल और स्तुत्य प्रयास किया गया है। इस प्रकार बौद्धमत के खण्डन में उन्होंने अनेकानेक ग्रन्थों की रचना की और बौद्धों के साथ बहुधा शास्त्रार्थ भी किया।

एकबार तो युक्तियों के द्वारा बौद्धों के पराजित होने पर भी बौद्ध ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करते थे। तब परस्पर शर्त करके वे अपने प्रतिद्वन्द्वी बौद्ध पंडित को लेकर एक पहाड़ की चोटी पर गये और वहां से 'ईश्वरः अस्ति' कहकर नीचे गिर पड़े। ईश्वर की कृपा से वे बच गये और जब बौद्ध पंडित 'ईश्वरः नास्ति' कहकर नीचे गिरा तो वह मर गया। जिससे लोगों ने ईश्वरवाद की सत्यता स्वीकार की।

इसके बाद नरहत्या का प्रायश्चित करने की दृष्टि से वे जगन्नाथ पुरी को गये, परन्तु वहाँ जगन्नाथजी का पट बन्द हो गया और उनको दर्शन नहीं मिला। इसे उन्होंने

अपना अपमान समझा और उस समय जगन्नाथजी को सम्बोधित करते हुए सदर्प-सगर्व कहा—

‘ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय तिष्ठसि।
समायाते पुनर्बौद्धे मदधीना तव स्थितिः ॥’

अर्थात् हे भगवान ! आप ऐश्वर्य के मद में मत्त होकर आज मेरा अपमान कर रहे हैं, किन्तु जिस समय बौद्ध आपका खण्डन करने आयेंगे उस समय आपकी स्थिति मेरे ही द्वारा होगी।

इस पर जगन्नाथजी का पट खुल गया। इस प्रकार बौद्ध मत को भारत से निर्वासित करने में सर्वाधिक श्रेय श्री उदयनाचार्य को ही है। श्री उदयनाचार्य के वंशज आज भी मिथिला में विद्यमान हैं।

(३) श्री गंगेश उपाध्याय (१२०० ई०)

श्री गंगेश उपाध्याय मिथिला के सर्वश्रेष्ठ नैयायिक माने जाते हैं। उन्होंने 'तत्त्व चिन्तामणि' नामक एक युगप्रवर्तक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ को ही नव्य न्याय का आधारभूत ग्रन्थ और गंगेशोपाध्याय को नव्य न्याय का पिता माना जाता है। केवल इस ग्रन्थ का पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए लोग अपने जीवन के १२ वर्ष प्रसन्नतापूर्वक व्यय कर सकते थे और उसमें गौरव का अनुभव करते थे। १६वीं शताब्दी में 'वासुदेव सार्वभौम' ने बंगाल के प्रधान विद्यापीठ 'नवद्वीप' में इस ग्रन्थ का प्रचार किया। वासुदेव सार्वभौम मैथिल विद्वान् 'पक्षधर मिश्र' के शिष्य थे। उन्होंने 'नवद्वीप' जाकर इसके पठन-पाठन को प्रचलित किया। १५०३ में 'नवद्वीप' विद्यापीठ की स्थापना होने के बाद इस ग्रन्थ का 'रघुनाथ शिरोमणि' आदि के द्वारा सारे बंगाल में प्रचार हो गया। इस प्रकार मिथिला और नवद्वीप यह दोनों नव्य न्याय के प्रधान केन्द्र रहे और आज भी इन दोनों विद्यालयों को अपने नव्य न्याय के पाण्डित्य पर गर्व करने का उचित अधिकार है। नवद्वीप के बाद धीरे-धीरे महाराष्ट्र, मद्रास और कश्मीर में प्रचार होते-होते सारे भारत में नव्य न्याय का प्रचार हो गया।

संसार के सारे दार्शनिक ग्रन्थों में जितनी टीकाएँ इस ग्रन्थ की हुई हैं उतनी किसी दूसरे ग्रन्थ की नहीं। श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण के लेखानुसार यह ग्रन्थ लगभग तीन सौ पृष्ठों का है और इस पर जो टीकाएँ लिखी गई हैं उनकी सम्मिलित पृष्ठ संख्या लगभग दस लाख से ऊपर है। इतनी अधिक टीकाएँ विश्व साहित्य के कदाचित् किसी ग्रन्थ पर नहीं मिल सकेंगी। इससे इस नव्य न्याय के रत्न का महत्त्व आँका जा सकता है।

उपर्युक्त मिथिला की सीमा (चौहद्दी) कवि चन्दा झा के मैथिली भाषा पद्य में इस प्रकार वर्णित है—

गंगा बहथि जनिक दक्षिण दिशि, पूर्व कौशिकी धारा।
पश्चिम बहथि गण्डकी, उत्तर हिमवत वन विस्तारा॥
कमला त्रियुगा अमृता धेमुरा वागमती कृतसारा।
मध्य बहथि लक्ष्मणा प्रभृति से मिथिला विद्यागारा॥

अर्थात् पूर्व में कोशी नदी, दक्षिण में भागीरथी गंगा, पश्चिम में गण्डक नदी (जिसे नारायणी और शालीग्रामी भी कहते हैं) और पश्चिम में हिमालय की विशाल वनश्रेणी है। इस प्रान्त के मध्य की भूमि मिथिला (तीरमुक्ति—तिरहुत) नाम से प्रसिद्ध है। आजकल इसको उत्तरी बिहार भी कहते हैं। पूर्व से पश्चिम कोशी किनारे से गण्डक पर्यन्त ९६ कोश अर्थात् १८२ मील लम्बा और हिमालय वनश्रेणी से भागीरथी गंगा पर्यन्त उत्तर से दक्षिण ६४ कोश अर्थात् १२८ मील चौड़ा यह पावन प्रदेश है।

इस प्रदेश में कदली और रसाल वनों से सदा हरियाली छाई रहती है। अमरूद, अनार, कटहल और लीची के भी बड़े-बड़े बगीचे होते हैं। स्वच्छ मीठे जल पूर्ण तालाब और नदी-नालों की तो इधर कोई कमी ही नहीं है। साधुओं में कहावत है कि 'तिरहुत मण्डल, हाथ कमण्डल' अर्थात् तिरहुत की यात्रा में डोरी साथ में न हो तो केवल जलपात्र से भी काम चल सकता है। तिरहुत का भोजन दाल-भात, दही, तरकारी और चूड़ा-दही प्रसिद्ध है। वहाँ आम के महीने और अगहन मास विशेष आनन्दप्रद हैं। कहावत प्रसिद्ध है कि—'मिथिला के दही-चूड़ा कटहल आम। वर्णत पंथ चले श्री राम'—अर्थात् वहाँ का आम, कटहल, लीची, दही-चूड़ा और अमावट प्रसिद्ध है। और भी कहावत है—'कोकटी धोती पटुआ, साग, तिरहुत गीत बड़े अनुराग।' वहाँ के लोकगीतों में 'समदौन' गीत तो नीरस किंवा पाषाण हृदय को भी रूला देता है।

मिथिला में कमला, त्रियुगा, अमृत, धेमुरा, बागमती आदि पन्द्रह नदियाँ प्रधान हैं, जो उस प्रदेश को सजल-सरस बनाकर शस्यश्यामला भूमि की शोभा विस्तार करती हैं।

'मिथिलायां भवः मैथिलः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मिथिला में उत्पन्न होने वाले सभी मैथिल हैं, किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि वहाँ के मैथिल ब्राह्मण को छोड़कर अन्य सब जातियाँ अपने को मैथिल विशेषण विशिष्ट कहना या लिखना छोड़ चुकी हैं। पर उन्हें अपना सौभाग्य समझना चाहिए कि उनकी जन्मभूमि मिथिला राजर्षि जनक, महर्षि याज्ञवल्क्य एवं कपिल आदि की उग्र तपश्चर्या से परम पावन होकर जगज्जननी जानकी की जननी बन चुकी है, जो 'मिथिलायां सीता मैथिली'—मैथिली जनकात्मजा' के नाम से अभिहित की जाती हैं।

□

भारतीय पूर्वांचल की लोकनाट्य परम्परा

□ डॉ० चन्द्रसेन कुमार जैन

किसी समय अनादि लीलाविहारी को सूत्रधार बनने की लालसा जाग उठी। उसने एक महानाटक की योजना की। इस महानाटक का आरम्भ कब, कहाँ और किस रूप में हुआ, इस् का अन्त कब और कैसे होगा इस रहस्य की जानकारी पाने के फेर में दुनिया के न जाने कितने चिन्तक और अन्वेषक पच-खप मरे, परन्तु यह अभी तक रहस्य ही बना हुआ है। इस अनन्त रहस्यमय नाटक के रंगमंच नगर, गाँव, जंगल, पहाड़ और समुद्र संसार के कोने-कोने में बिखरे पड़े हैं। निरन्तर अबाध गति से पट-परिवर्तन होते रहते हैं और अभिनय का क्रम एक क्षण के लिए भी नहीं रूकता। इस महानाटक में हम सभी अभिनेता हैं और दर्शक भी, कलाकार हैं और सहृदय भी। स्वयं सूत्रधार भी अभिनय का लोभ संवरण नहीं कर पाता। वह भी कभी-कभी रंगमंच पर कूद ही पड़ता है। जो अभिनय करने में संकोच करते हैं उन्हें समझा देता है कि अभिनय बस अभिनय है, नाटक केवल नाटक है इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। इसी विशाल रंगमंच के अन्तर्गत सजाये जाने वाले कुछ रंगमंचों की, नाटक का नाटक के प्रयासों की एक झलक आप के सामने रखने की चेष्टा की जा रही है। भारतीय पूर्वांचल में यहाँ की जनजातियों ने जीवन में अभिनय को क्या स्थान दिया है, उसके माध्यम से अपने को प्रकाशित करने में कहाँ तक सफलता पायी है और इस दिशा में उनके प्रयास किस ओर इंगित करते हैं इसका संकेत मात्र प्रस्तुत करना यहाँ अभीष्ट भी है।

भावातिरेक की अवस्था में अंगसंचालन के द्वारा भावाभिव्यक्ति संगीतात्मक प्रक्रिया, और अनुकरणात्मक चेष्टा मानव स्वभाव का अभिन्न अंग है। इसे हम मानव प्रकृति कह सकते हैं। इन्हीं के सहारे मनुष्य ने व्यक्तिगत और सामाजिक विकास की सीढ़ियाँ पार कर संसार के सबसे विकसित प्राणी के रूप में स्थान पाया है। संसार के प्राचीनतम भित्तिचित्रों में मनुष्य की इस स्वाभाविक चेष्टा के प्रमाण मिलते हैं। सभ्यता के प्रारम्भिक चरणों में मनुष्य इसी प्रकार की चेष्टाओं के द्वारा पारस्परिक विचार-विनिमय करता था, देवी-देवताओं को प्रसन्न करता था, कभी सुख-दुख को व्यक्त करता था, रोगों और विपत्तियों से छुटकारा पाने की चेष्टा करता था, और अपने आदर्शों को रूपायित करता था। सामूहिक भावातिरेक को प्रोत्साहन देने वाले अवसर भी मानव-जीवन में आते रहते थे। किसी प्राकृतिक सम्पदा की उपलब्धि में सामूहिक अथवा व्यक्तिगत उत्सवों के अवसर पर या धार्मिक अनुष्ठानों में मनुष्य एकत्र होकर सामूहिक रूप में नाटकीय अभिव्यक्ति करते

है। इनके माध्यम से धार्मिक विश्वासों में आस्था, प्राप्ति का आनन्द, अथवा मात्र सामूहिक मनोरंजन के उद्देश्यों की पूर्ति होती है और कुछ समय के लिए मनुष्य जीवन के संघर्षमय घात-प्रतिघातों को भूल कर अगले संघर्षों के लिए अपने को तैयार कर लेता है। कोई भी समाज सभ्यता के किसी भी चरण में क्यों न हो सामूहिक मनोरंजन के अवसरों का आयोजन अवश्य करता है। ऐसे आयोजन परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार नृत्य, गीत, वाद्य और अभिनय की एक परम्परा विकसित करते हैं। भारतीय पूर्वांचल के सभी समाजों में ऐसी परम्पराएं मिलती हैं।

पूर्वांचल में प्राप्त लोकनाट्य की परम्पराओं को मुख्यतः चार वर्गों में रखा जा सकता है—

क—आनुष्ठानिक लोक-नाट्य
ख—सामाजिक या ऐहिक लोक-नाट्य
ग—धार्मिक लोक-नाट्य
घ—आनुषंगिक लोक-नाट्य

क—आनुष्ठानिक लोकनाट्य

प्रायः सभी जनजातियों में एक प्रवृति पायी जाती है कि वे किसी महत्वपूर्ण र्य में सफलता पाने के लिए उसका एक अनुकरणात्मक अभ्यास करते हैं। उनका सा विश्वास होता है कि ऐसे अभ्यास से दैवी शक्ति प्रसन्न होती है और उन्हें र्य में सफल होने में सहायता देती है। ऐसे साभिप्राय प्रयास या आयोजन को नुष्ठान कहते हैं। अनुष्ठानों की अपनी विशिष्ट कार्य-विधि होती है, आयोजन के शिष्ट अवसर होते हैं और प्रायः विशिष्ट कार्यस्थल भी। पूर्वांचल के सभी भागों ऐसे अनुष्ठान भी आयोजित होते हैं जिनमें नृत्य, गीत, अभिनय और संवाद जैसे कीय तत्व उनके अभिन्न अंग होते हैं। इनका स्वरूप बहुत कुछ ऐसे रिहर्सल के ान होता है जिसके द्वारा उस वातावरण का एक प्रतिरूप प्रस्तुत करने की चेष्टा ती है जो वास्तविकता अथवा एक आदर्श को प्रतिबिम्बित करता है। प्राचीन ाओं के भित्तिचित्रों से शिकार इत्यादि से सम्बन्धित ऐसे अनुष्ठानों के संकेत ते हैं। प्राचीन देवालयों की स्थापत्य कला में भी जीवन से सम्बन्धित अनेक ों के प्रतिरूपों का अंकन मनुष्य की इस प्रवृति का ही उदाहरण है।

भारतीय पूर्वांचल में ऐसे आनुष्ठानिक लोक-नाट्यों के आयोजन लगभग वर्ष त होते रहते हैं परन्तु उन अवसरों पर उनकी व्यापकता बढ़ जाती है जब की कृषक जनता को खेती की व्यस्तता से कुछ अवकाश मिलता है। फागुन और में नयी फसल कटती है, बसन्तकालीन प्राकृतिक वातावरण की मोहकता

मनुष्य में भी कोमल भावनाओं को प्रस्फुटित करती है और एक छोर से दूसरे छोर तक गाँव तथा जंगल नृत्य की थिरकन से आन्दोलित हो उठते हैं, संगीत के स्वर से गुंजायमान हो जाते हैं। बिहार के गाँव-गाँव से फगुआ और चैती की ताल पर रात-रात भर मनुष्य का अंग-अंग तरंगित होकर शृंगारिक भावनाओं के प्रवाह में डूबने-उतराने लगता है। जोगीड़ा के दल घर-घर घूम कर अपने रस-सिक्त नृत्य, गीत और अभिनय से मन की सोयी कुहुक को मुखरित कर देते हैं। आसाम में बिहु नृत्य, बंगाल, बिहार उड़ीसा के सम्मिलित सीमावर्ती अंचल में छउ नृत्य, उड़ीसा में चइती घोड़ा और वीणाकार नृत्य, हो जाति में बाइत्रोंग नृत्य, मुण्डा जनजाति में सरहुल नृत्य, जैसे सैकड़ों प्रकार के नृत्य सारे पूर्वांचल की रातों को दिगदिगन्त तक उन्मादित करते रहते हैं। ऐसे कुछ लोक-नाट्यों का आधार धार्मिक होते हुए भी उनका व्यक्त रूप मुख्यत: शृंगारिक भाव ही जाग्रत करता है जैसे कृष्ण-भक्ति पर आधारित मणिपुरी नृत्य, शैव धर्म पर आधारित ओड़िसा का पाटुआ नृत्य या दण्ड नृत्य तथा आसाम का धूलीया नृत्य, शाक्त धर्म पर आधारित वंगाल की चंडी यात्रा, बौद्ध धर्म पर आधारित खामती जनजाति का गौतम नृत्य इत्यादि। रामनवमी के अवसर पर आयोजित रामलीला में भी ऐहिक तत्त्वों का पर्याप्त समावेश देखा जाता है।

आषाढ़ में पूर्वांचल में कृषिकर्म आरम्भ हो जाता है। कृषिकार्य में सफलता की कामना और खेतों में परिश्रम को भुलाने के लिए अनेक प्रकार के लोक-नाट्य आयोजित होते हैं। ग्रीष्म के उत्ताप से तृषित धरती को जलदान से सिक्त करने का आह्वान करते हुए पूर्वी बिहार में जट-जटिन नृत्य आयोजित होता है। उड़ीसा में रज पर्व पर कन्याएँ दोल रानी को झूले में झुलाकर नाचती गाती हैं, बिहार की ओराँव जनजाति दिन भर के परिश्रम के बाद रात में करमा नृत्य के द्वारा अपना श्रम भुलाती है। इसी मास में पुरी में रथयात्रा के अवसर पर उड़ीसा के विभिन्न भागों में बड़े पैमाने पर अनुष्ठित नृत्य, गीत और अभिनय के अनेक आयोजनों में ऐहिकता की ही प्रधानता रहती है। वर्षा में विलम्ब होने पर सावन महीने में बिहार की ग्रामीण स्त्रियाँ खेतों में नाच-गाकर वर्षा लाने के लिए हरपरौरी गाती हैं। पश्चिमी उड़ीसा में वृक्ष पूजा के रूप में करमा पर्व पर स्त्री-पुरुष मिलकर नाचते गाते हैं। भादो में कृष्ण जन्माष्टमी के अवसर पर सारे पूर्वांचल में रासलीला, कृष्णलीला, गोपलीला, रसकेलि, कालियादमन इत्यादि विभिन्न नामों से कृष्णचरित के प्रसंगों का नृत्य-गीतमय अभिनय होता है। पन्द्रहवीं शताब्दी में आसाम के वैष्णव सन्त शंकरदेव ने अंकीया नाट की परम्परा स्थापित की, जिसका आयोजन कृष्ण से सम्बन्धित पर्वों पर नाचघरों में होता है।

इसी मास में बंगाल में मनसा भगत या बिहुला यात्रा के रूप में सर्पपूजा के साथ-साथ बिहुला के चरित्र पर आधारित नृत्य गीत और अभिनय होते हैं। आश्विन दुर्गाष्टमी के अवसर पर उड़ीसा की विवाहित स्त्रियाँ ढोल-मजीरे की ताल पर 'डालखाइ' गीत गा-गाकर नाचती हैं। इसी महीने में सारे पूर्वांचल में दशहरा और दुर्गापूजा का पर्व मनाया जाता है। नौ दिनों तक जगह-जगह पर नृत्य, गीत और अभिनय के आयोजन होते हैं जिनमें रामलीला सबसे अधिक व्यापक है। उड़ीसा का सैनिक वर्ग इसे युद्ध-अभियान के रूप में पर्व का आयोजन करता है। इसमें डडावली नृत्य के माध्यम से गीत-नृत्य युक्त शस्त्रपरिचालन की दक्षता का प्रदर्शन करते हैं। इसी अवसर पर विन्ध्य प्रदेश की कन्ध जाति में भी दो दलों के बीच कृत्रिम युद्ध के रूप में युद्धनृत्य की प्रथा प्रचलित है। युद्ध नृत्य के बाद कन्ध स्त्रियाँ विजय नृत्य भी करती हैं। उड़ीसा में आश्विन पूर्णिमा के दिन घर-घर में कुमार-कुमारियों की पूजा के रूप में कुमारोत्सव मनाया जाता है। इस पर्व की प्राचीनता की मौर्य साम्राज्य में पालित कौमुदी महोत्सव से स्थापित की जा सकती है। इस अवसर पर सामाजिक आयोजनों में नृत्य, गीत और अभिनय के द्वारा सार्वजनिक मनोरंजन की भी परम्परा है। कार्तिक में बिहार की स्त्रियाँ साम-चकेवा गीतों के द्वारा नयी फसल की प्रचुरता की कामना करती हैं। उड़ीसा में बालियात्रा के रूप में मध्ययुगीन आड़िया नाविकों के द्वारा पूर्वी द्वीपसमूह में वाणिज्य के लिए प्रस्थान करने की ऐतिहासिक घटना की स्मृति की जाती है। इस दिन नृत्य गीत के साथ जलाशयों में नाव छोड़ने और आकाशद्वीप जलाने की जाता है. जो नौका-प्रयाण के अवसर का प्रतिरूप है। बिहार, बंगाल और उड़ीसा की जनजातियों में माघ-संक्रान्ति सबसे महत्त्वपूर्ण जातीय पर्व है। इस अवसर पर पूर्वांचल का समस्त वनप्रान्त लगभग एक महीने तक युवक-युवतियों के मुक्त गान, नृत्य, गीत और ढोल-वशी के स्वर से निनादित हो उठता है। इनमें मुण्डारी जनजाति का जदुर नृत्य अपनी मोहकता के लिए उल्लेखनीय है।

इस प्रकार लगभग वर्ष पर्यन्त पूर्वांचल किसी-न-किसी प्रकार के लोक-नाट्य प्रदर्शन में व्यस्त रहता है। इनके माध्यम से मनुष्य जीवन की विषमताओं को पाकर कर्मक्षेत्र में नित्य नवीन उत्साह के साथ पदार्पण करने की शक्ति प्राप्त करता है।

कुछ आनुष्ठानिक नृत्य मानवजीवन के महत्त्वपूर्ण अवसरों पर आयोजित होते हैं। बिहार, बंगाल और उड़ीसा की जनजातियों में विवाह के अवसर पर सामूहिक के साथ नृत्य-गीत के आयोजन बड़े समारोह के साथ होते हैं, जिनमें समाज सभी स्त्री-पुरुष मुक्त रूप से भाग लेते हैं। बिहार की स्त्रियाँ बरात जाने के

बाद वर के घर में डोमकच का आयोजन करती है, जिसमें वैवाहिक जीवन के सभी पक्षों का निःसंकोच अभिनय होता है। उड़ीसा की कन्याएँ विवाह के बाद पति-गृह जाते समय कान्दणा गीत के माध्यम से कन्या के हृदय की मार्मिक व्यथा अभिव्यक्त करती हैं। यह एक प्रकार का आनुष्ठानिक और अभिनयात्मक गीत है। असम की मिसमी जाति में मृतक संस्कार के समय नृत्य, गीत और अभिनय के माध्यम से सर्प द्वारा निरीह व्यक्ति के दंशित होने और यमदूतों द्वारा उसे उठा ले जाने का अभिनय प्रस्तुत करते हैं। बिहार के पँवरिया पुत्रजन्म के अवसर पर नवजात शिशु को गोद में लेकर उसके दीर्घ जीवन और समृद्धि की कामना करते हुए नाचते-गाते हैं, जिसमें वे अनेक हास्यात्मक अभिनय भी करते हैं। असम की खामती जनजाति गीतमय नृत्य में बालक-बालिकाओं की गर्भावस्था और जन्मकाल का सजीव अभिनय करती है। वे बच्चे का चीत्कार उत्पन्न करती है और अपने वस्त्रों में से कुत्ते या बिल्ली के बच्चे को निकालकर प्रसव का प्रतिरूप प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त रामनवमी और कृष्ण जन्माष्टमी के दिन भी पुत्र जन्मोत्सव का अभिनय किया जाता है।

कुछ आनुष्ठानिक लोक-नाट्य ऐसे भी हैं जिनके लिए निश्चत समय निर्धारित नहीं है। बंगाल में भारथलीला और उड़ीसा में घोड़ा नाच कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित होते हुए भी समय सापेक्ष नहीं है। इसी प्रकार रामलीला और रासलीला के आयोजन असामयिक भी होते रहते हैं।

अनुष्ठानिक लोक-नाट्य के प्रेरणा-स्रोत भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। धार्मिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से पाटुआ नृत्य, दंड-नाट्य, धूलीया नाट्य इत्यादि शैव धर्म से, चंडी यात्रा और डालखाइ नृत्य शाक्त धर्म से, बिहुला और मनसा भगत सर्प-पूजा से, गौतम नृत्य बौद्ध धर्म से जनजातियों का करमा पर्व वृक्ष पूजा से और चड़ती घोड़ा वांशुली देवी की पूजा से सम्बन्धित है।

आनुष्ठाननिक लोकनाट्य में से अनेक जीवन के व्यावहारिक पक्षों से घनिष्ठतः जड़ित हैं। रामलीला और रासलीला में आनुषंगिक रूप से पारिवारिक, सामाजिक या राजनीतिक समस्याओं या असंगतियों का प्रदर्शन कर हास्य-व्यंग की सृष्टि की जाती है। बिहु को युवतियों द्वारा वरचयन के पर्व के रूप में यौवन और प्रेम के व्यावहारिक पक्ष से सम्बद्ध किया जाता है। श्याम-चकेवा में पारिवारिक जीवन के सुख-दुख और भाई के प्रति बहन की शुभ कामनाओं की व्यंजना होती है। और करमा और माघ पर्व में आदिवासी जीवन के विभिन्न पक्ष रूपायित होते हैं। डोमकच में वैवाहिक जीवन का सुख व्यंजित होता है। कान्दणा में विवाहिता कन्या के पितृगृह छोड़ने से उत्पन्न भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। जट-जटिन नृत्य में दाम्पत्य जीवन का हास्यमूलक प्रदर्शन होता है। हो जनजाति माघ पर्व में

घर-घर घूम कर बुरी आत्माओं को भगाने का उद्यम करती है। गौतम नृत्य में गर्भावस्था और प्रसव से सम्बन्धित वास्तविकताओं का अभिनय होता है। पँवरिया शिशु के भावी जीवन की सुखद कल्पना प्रस्तुत करता है। सारांश यह है कि लगभग सभी लोक-नाट्य वास्तविक जीवन की आशा-निराशा, सुख-दुख, और कल्पना-आदर्शों को व्यंजित कर जन-जीवन के अभिन्न ही नहीं अनिवार्य अंग बन जाते हैं।

सभी आनुष्ठानिक लोक-नाट्य में चारो तत्व अर्थात् नृत्य, गीत, अभिनय और संवाद पूर्णत: विकसित नहीं मिलते। रामलीला, रासलीला, बिहु, जट-जटिन जोगीड़ा, डोमकच्च, वीणाकर नृत्य और कुमारोत्सवै में किसी-न-किसी मात्रा में चारों तत्वों का समावेश हो जाता है। परन्तु जट-जटिन, डोंमकच और वीणाकार नृत्य अभिनय प्रधान, जोगीड़ा नृत्य-गीत प्रधान और रामलीला या रासलीला गीत-अभिनय प्रधान प्रदर्शन हैं। कान्दणा और दोल-गीत दोनों गीत-प्रधान हैं। इनमें अभिनय केवल मुद्रा प्रदर्शन तक ही सीमित है। छउ नृत्य, मृतक नृत्य, दंडावली, कलश यात्रा, रथ-यात्रा, पँवरिया, माघ-पर्व और गौतम नृत्य में संवाद तत्व का पूर्णत: अभाव रहता है। छउ नृत्य में मुद्रा-प्रदर्शन का ही विशेष महत्व है। इनमें गीत या संवाद का प्रयोग अपेक्षित नहीं है। पाटुआ, चंडी-यात्रा, धूलीया नृत्य अभिनय-प्रधान हैं। इनमें संवाद या गीत का प्रयोग नहीं होता। डालखाइ, करमा, नट्टती घोड़ा, विवाह नृत्य, दंड-नाट्य, सरहुल, बिहुल, बाइवांग, श्याम-चकेवा सरोरी इत्यादि अधिकांश आनुष्ठानिक लोक-नाट्य नृत्य-गीत में ही गणनीय हैं। इनमें क्रियाएं प्रतीकात्मक तो अवश्य हैं परन्तु इनमें सप्रयास अभिनय का अभाव है। अभिनय के नाम पर अनायास मुद्रा-प्रदर्शन से अधिक कुछ नहीं मिलता।

जीवन का अभिन्न अंग होने के कारण अधिकांश लोक-नाट्यों में विशिष्ट वेश-भूषा या साज-सज्जा की कोई निश्चित परम्परा नहीं मिलती। भरत लीला, रामलीला और रासलीला में चरित्र के अनुसार कुछ वेष-परिवर्तन होता है। जट-जटिन में स्त्रियां पुरुष का अभिनय तो करती हैं परन्तु वेष-सज्जा की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। डोमकच्च में भी यही अवस्था है। जोगीड़ा में पुरुष स्त्री का वेष धारण कर नाचता है परन्तु दल के अन्य सदस्य अपने वेष में साधारण सी विचित्रता लाने के अतिरिक्त कुछ नहीं करते। घोड़ा नाच में काठ के घोड़े पर सवार पात्र मध्य-कालीन राजकीय वेष में रहता है और साथ की नर्तकी वस्त्राभूषण से सुसज्जित रहती है। मृतक-नृत्य में वातावरण में भयानकता का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए विकट वेष बनाए जाते हैं। छउ नृत्य में चरित्र के अनुसार वेष-सज्जा के अतिरिक्त अनुकूल भावाभिव्यक्ति के लिए मुखौटों और रंगों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है क्योंकि स्वयं नर्तक को भाव-भंगीमा प्रदर्शित करने की शक्ति नहीं रहती। पाटुआ, दंडावली, चंडी-यात्रा और धूलीया नृत्यों के अभिनेता साधारणत: भक्तों द्वारा व्यवहृत गेरुए, लाल या पीले वस्त्र धारण करते हैं और

गला, हाथ तथा शिर पर मालाएँ भी धारण करते हैं। पँवरिया मध्यकालीन चारणों द्वारा व्यवहृत दरबारी वस्त्र धारण करता है। अन्य सभी आनुष्ठानिक लोक-नाट्यों की साज-सज्जा साधारण दैनिक जीवन की वेष-भूषा से पृथक नहीं होती। जनजातियों में नृत्य के समय पुरुष प्रायः केवल अधोवस्त्र धारण करते हैं और स्त्रियाँ सादी या रंगीन साड़ियाँ पहनती हैं तथा फूलों से शृंगार करती हैं।

लोक-नाट्यों में वंशी, ढोल या मृदंग सबसे अधिक व्यापक वाद्य-यन्त्र हैं। नाटक के चारो तत्वों से समन्वित लोक-नाट्यों में कुछ वाद्य-यन्त्रों के साथ आर्केस्ट्र का भी प्रयोग होता है। धार्मिक पृष्ठभूमि से युक्त लोक-नाट्यों में प्रायः केवल ढोल, मृदंग या नगाड़ का प्रयोग होता है। छउ नृत्य में अंग्रेजी बैंड के प्रयोग की प्रथा विकसित हो गयी है।

लोक-नाट्यों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनके प्रदर्शन के लिए किसी नियमित रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। भोजपुरी प्रान्त में रामलीला अधिकतर खुले मैदान में होती है। बनारस की रामलीला में विभिन्न प्रसंगों के लिए अलग-अलग स्थान नियत हैं। मैथिली-भाषी अंचल में रामखेलिया या रासलीला के लिए दृश्य-विहीन कोई ऊंची जगह रंगमंच के रूप में प्रयुक्त होती है और दर्शक उसके चारो ओर बैठते हैं। कुछ पेशेवर यात्रा दलों ने एक दो परदों का प्रयोग भी आरम्भ कर दिया है। उड़ीसा और बंगाल में रामलीला और रासलीला का प्रायः यही रूप प्रचलित है। रामलीला के आनुष्ठानिक प्रदर्शन में प्रसंगों के वर्णन के लिए पश्चिमी बिहार में रामचरितमानस का, मिथिला और बंगाल में कृत्तिवास रामायण का, उड़ीसा में बलराम रामायण का और आसाम में माधवकन्दली रामायण का पाठ होता रहता है और विभिन्न चरित्र तदनुकूल मूक अभिनय करते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में आसाम के वैष्णव सन्त कवि शंकरदेव ने अंकिया नाट के प्रदर्शन की परम्परा स्थापित की जिसमें नर्तक, गायक, वादक, रंगमंच, प्रेक्षा-स्थल इत्यादि नाटक के सभी उपादानों का प्रयोग मिलता है। इनमें केवल दृश्य-परिवर्तन नहीं होता। जनजातियों में प्रायः सभी गांवों में एक ऐसा स्थान निश्चित रहता है जहाँ गाँव के सभी लोग एकत्र होकर लोक-नाट्य में भाग लेते हैं। ऐसा स्थान चारों ओर वृक्षों से घिरा एक मैदान या प्राकृतिक रंगस्थली के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। जनजातियों में गाँव-गाँव या घर-घर घूम कर नृत्य-प्रदर्शन की भी प्रथा है जिसमें अतिथि और गृहस्थ सभी मिल कर नाचते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वांचल के आनुष्ठानिक लोकनाट्य अपने प्रदर्शन काल प्रदर्शन-स्थान, प्रेरणा-स्रोत और उद्देश्य सभी दृष्टियों से स्वाभाविक जीवन की अभिव्यक्ति करते हैं। वे एक विशिष्ट समाज की जीवन-व्यवस्था, व्यक्तित्व, मनस्तत्व और, परम्परा को अभिव्यंजित करने के सशक्त साधन हैं।

ख—सामाजिक लोकनाट्य

आनुष्ठानिक लोकनाट्य केवल मनोरंजन के साधन न होकर उद्देश्यमूलक ते हैं। अनेक ऐसे लोकनाट्य भी पूर्वांचल में विकसित हुए हैं जिनका किसी र्म या जातीय अनुष्ठान से सीधा सम्पर्क नहीं है। ये समाज के दैनिक जीवन, हिक मनोविकार अथवा किसी सांस्कृतिक घटना की स्मृति के रूप में अपनी म्परा स्थापित करने में समर्थ हो सके हैं। ऐसे लोकनाट्यों को हम सात वर्गों रख सकते हैं, परन्तु यह वर्गीकरण भी किसी लोकनाट्य की मौलिक प्रेरणा-त पर निर्भर है, अन्यथा इनमें एक-दूसरे की विशेषताएँ कुछ इस तरह घुली-ली हैं कि इन्हें पूर्णतः अलग नहीं रखा जा सकता। फिर भी अध्ययन की विधा के लिए इनकी प्रमुख विशेषता को आधार मानकर वर्गीकरण अपेक्षित है।

१—जातिगत लोकनाट्य
२—पारिवारिक लोकनाट्य
३—शृंगारिक लोकनाट्य
४—जीवन-संघर्ष सम्बन्धी लोकनाट्य
५ - सांस्कृतिक लोकनाट्य
६—-ऐतिहासिक लोकनाट्य
७—परिनिष्ठित लोकनाट्य

१. जातिगत लोकनाट्य—प्रायः सभी जनजातियों में और उन जातियों में हें अपने दैनिक जीवन में कठिन परिश्रम करना पड़ता है, कुछ ऐसे लोकनाट्य लित हैं जिन्हें श्रम की क्लान्ति अथवा संघर्षपूर्ण जीवन की विषमताओं को ने के लिए यदा-कदा आयोजित किया जाता है। इनमें से कुछ को आनुष्ठानिक भी मिल गया है, परन्तु मुख्य उद्देश्य केवल मनोरंजन होता है। ऐसे लोक-ट्यों में नृत्य ही प्रमुख तत्त्व है और वाद्य उसका संचालक तत्त्व। अनेक नाट्यों में गीत तत्त्व भी मिलता है किन्तु उसकी न तो प्रमुखता है और न न्त आवश्यकता। अभिनय तत्त्व अनायास भाव-मुद्रा में ही सीमित रहता है। द तत्त्व का प्रायः सभी में अभाव रहता है। कुछ सम्मिलित नृत्यों में जैसे र का नापित-नापितानी नृत्य या धेसरा-धेसरानी नृत्य में संवाद तत्त्व तो ता है परन्तु नृत्य तत्त्व गौण होकर अभिनय तत्त्व उभर आता है।

पूर्वांचल के ग्राम्य और वन्य अंचलों में नित्य प्रति आयोजित होने वाले ऐसे ड़ों नृत्यों में से कुछ का ही उल्लेख यहाँ सम्भव है। राजमहल की पहाड़ियों ल्टो जाति के नृत्य, पश्चिमी उड़ीसा में जुआंग नृत्य, दक्षिण उड़ीसा का ा और शेरा नृत्य, आसाम का नागा या खासिया नृत्य तथा बहुआ नृत्य, र में गोंड़, चमार, दुसाध, खटिक, अहिर या नेटुआ जातियों के नृत्य, पलामू

और छत्तीसगढ़ के वन्यांचल में दव, तेरिया और करम नृत्य, मुण्डा जनजाति का जदुर नृत्य, सन्तालों का झूमर नृत्य, पश्चिमी वंगाल का भूयां नृत्य, दक्षिण बिहार और उड़ीसा की हो जनजाति का नृत्य, वंगाल का मेघराना नृत्य, घेसरा-घेसरानी नृत्य और नापित-नापितानी नृत्य, बिहार और उड़ीसा का धोबी नृत्य, विन्ध्य अंचल के सेला, कन्ध और खरवट नृत्य कुछ ऐसे ही प्रसिद्ध नृत्य हैं।

प्राय: इन सभी नृत्यों में दो प्रकार की विशेषाताएँ व्यापक रूप से मिलती हैं। जनजातियों के सभी नृत्यों में युवक्-युवतियाँ सम्मिलित रूप से भाग लेती हैं और बच्चे तथा बूढ़े दर्शक होते हैं। गाँवों की कर्मकर जातियों के नृत्य प्राय: पुरुष वर्ग तक ही सीमित हैं। द्वितीयत: इन नृत्यों में अधिक-से-अधिक अंग संचालन, आगे-पीछे या वृत्ताकार से गति तथा रह-रहकर सीत्तकार या चीत्कार उत्पन्न करना सामान्य विशेषताएँ दिखलाई पड़ती हैं, जो तीव्र आन्तरिक उल्लास की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति से अधिक कुछ व्यक्त नहीं करतीं। जनजातियों के जिन नृत्यों में स्त्रियाँ सम्मिलित होती हैं उनमें पुरुष वंशी, ढोल या खंजड़ी जैसे वाद्य-यंत्र के द्वारा नृत्य की गति का संचालन करता है और स्त्रियाँ एक समूह में उसकी ताल का अनुकरण करती हैं। सन्तालों के झूमर नृत्य में पुराणों में वर्णित रास नृत्य का-सा वातावरण मिलता है। पुरुष बीच में वंशी और ढोल वजाता है और स्त्रियाँ एक-दूसरे के पीछे किंचित् नतमस्तक होकर वृत्ताकार चक्कर लगाती हैं। दव, लेरिया और करम नृत्यों में पुरुष स्त्रियों की ओर संकेत करते हुए नाचते-गाते हैं और स्त्रियाँ सादी साड़ियों में और फूलों से सुसज्जित होकर उनके सामने अधोमुखी नाचती हैं। जदुर नृत्य में पीठ के पीछे से एक दूसरे के हाथ पकड़ कर पंक्तिबद्ध होकर पुरुषों के सामने नाचती हैं। भूयां स्त्रियाँ अपने शरीर ढककर, कमर पर हाथ रखे आगे की ओर झुककर नाचती हैं और पुरुष उनके सामने खंजड़ी बजाकर वृत्ताकार नाचते हैं। हो जाति की स्त्रियाँ भी एक सम्मिलित वस्त्र से अपने को ढक कर नाचती हैं। कन्ध स्त्रियाँ दो अर्धवृत्तों में विभक्त होकर नाचती हैं। विन्ध्यप्रदेश के नृत्यों में भी स्त्रियाँ लम्बे घूंघट से अपना मुख ढँक लेती हैं। इस प्रकार जनजातियों के सभी नृत्यों में स्त्रियाँ नाचते समय नारी-सुलभ लज्जा और शालीनता का पालन करती हैं। कन्ध नृत्य में अन्त के समय स्त्री-पुरुष एक-दूसरे से मिलकर छेड़खानी भी करते हैं। इनमें स्त्रियों को कंघी, शीशा, फूल जैसी सामान्य छोटी चीजें उपहार में देने की भी प्रथा है।

खंजड़ी, ढोल और वंशी इन नृत्यों के प्रधान उपकरण हैं। कहीं-कहीं अनगढ़े एकतारा जैसे यन्त्र का भी प्रयोग होता है। नृत्यकाल में गीत आवश्यक तत्त्व नहीं है। परन्तु अनेक नृत्यों में स्त्रियाँ मन्द-मन्द गुनगुनाने जैसा स्वर भी निकालती

रहती हैं। सायास अभिनय और संवाद का सर्वथा अभाव रहता है। सम्पूर्ण नृत्यकाल में एक प्रकार की एकरसता का बोध होता है।

बिहार में गोंड़, चमार, दुसाध, खटिक, और अहीरों के नृत्यों में स्त्रियाँ सम्मिलित नहीं होतीं। गोंड़ नृत्य में कमर लचकाने को प्रधानता दी जाती है। अहीर डंडे लेकर नाचते हैं और डंडेबाजी के अनेक अद्भुत करतब भी दिखलाते हैं। आनुष्ठानिक रूप में गोधन के दिन इनका गायडाँड़ नृत्य उल्लेखनीय है। नेटुआ जाति के पुरुष स्त्री वेष धारण कर द्वार-द्वार नाच-गाकर भीख मांगते हैं। बिहार उड़ीसा के धोबी नृत्य तथा बंगाल के नापित-नापितानी और घेसरा-घेसरानी नृत्यों में स्त्री-पुरुष के जोड़े होते हैं। इनमें संवाद की प्रधानता रहती है और अभिनय तत्व का भी प्रयोग होता है परन्तु नृत्य और गीत गौण हो जाते हैं।

इस प्रकार आधारभूत समता होते हुए भी जातिगत नृत्य अपनी-अपनी जाति के अन्तर्गत अपनी सांस्कृतिक विशेषता भी सूचित करते हैं।

२. **पारिवारिक लोक-नाट्य**—यद्यपि प्रायः सभी लोक-नाट्यों का प्रदर्शन सार्वजनिक होता है परन्तु कुछ ऐसे लोक-नाट्य भी हैं जिनका प्रदर्शन और उद्देश्य पारिवारिक परिधि में ही सीमित रहता है अथवा सार्वजनिक रूप में विकसित होते हुए भी इनका मौतिक स्वरूप पारिवारिक ही था। बिहार का डोमकच और पँवरिया नृत्य तथा उड़ीसा का कान्दणा गीत विशुद्ध पारिवारिक वातावरण में ही सीमित रहते हैं। डोमकच में घर के परिवार से आन्तरिक सम्पर्क रखनेवाली स्त्रियाँ ही भाग लेती हैं। पँवरिया भी पारिवारिक परिवेश में ही अपना प्रदर्शन करता है। कान्दणा में कन्या परिवार के समक्ष ही अपना हृदय खोलती है। सामा-चकेवा और कुमारोत्सव समाजव्यापी अनुष्ठान अवश्य हैं परन्तु इनका आनुष्ठानिक स्वरूप अलग-अलग परिवारों में ही आयोजित होता है। कुमारोत्सव के अवसर पर आयोजित सार्वजनिक प्रदर्शनों से उसके आनुष्ठानिक रूप का कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ ऐसे लोक-नाट्य हैं जिनका प्रदर्शन सार्वजनिक है और जिसमें समाज के सभी लोग भाग लेते हैं, परन्तु ऐसे अवसर पर पारिवारिक प्रसंग जड़ित हैं जैसे आदिवासियों में प्रचलित विवाह-नृत्य अथवा असम की मिसमी जाति में आयोजित मृतक नृत्य एक विशिष्ट परिवार की एक महत्त्वपूर्ण घटना में सारे समाज के सहयोग के प्रतीक हैं। कुछ अन्य लोक-नाट्यों का विषय पारिवारिक जीवन से घनिष्ठतः सम्पृक्त है जैसे उड़ीसा के दंड-नाट्य में शिव-पार्वती के माध्यम से दाम्पत्य कलह की अभिव्यक्ति होती है; बिहार के जट-जटिन नृत्य में दाम्पत्य जीवन की असंगतियों का हास्यमय व्यंग मिलता है; मिथिला के सलहेस न-नाट्य में दो कौटुम्बिक जीवन के खट्टे-मिठे अनुभव व्यंजित होते हैं; बंगाल की बिहुला यात्रा या मनसा भगत में सतीत्व की महिमा का चित्रण होता है;

कछारी लोगों में प्रचलित हंस-हंसी नृत्य में दाम्पत्य प्रेम की मधुर अभिव्यक्ति होती है, उड़ीसा के वीणाकार नृत्य में गायक और नर्तकी के माध्यम से दाम्पत्य प्रेम और पारिवारिक जीवन की समस्याओं का चित्रण होता है। सार्वजनिक मनोरंजन होते हुए भी उड़ीसा के आदिवासियों में प्रचलित धांगड़ा-धांगड़ी नृत्य, आसाम का बिहु नृत्य अथवा विन्ध्य प्रदेश का भगोरिया पर्व मौलिक रूप से वर-कन्या के परस्पर चयन और नये परिवार के गठन की परम्परागत विधि का विकसित रूप है। पश्चिम बिहार में में अति जनप्रिय विदेसिया और मिथिला में प्रचलित दरबारीदास के गीत-नृत्य प्रधान नाटकों में भी विधवा-विवाह, बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, पति-प्रवास, पारिवारिक कलह इत्यादि ऐसे प्रसंगों की प्रमुखता पायी जाती है, जिनके कारण ये पारिवारिक नाटक ही कहे जा सकते हैं। पारिवारिक समस्याओं से सम्बन्धित ऐसे लघुनाटकों का अभिनय इस समय सारे पूर्वांचल में विभिन्न सांस्कृतिक अवसरों पर होते रहते हैं जो अब परिनिष्ठित रूप भी ग्रहण करते जा रहे हैं। भोजपुरी लेखकों में जनकवि भिखारी, प्रि० मनोरंजन, रामेश्वर सिंह कश्यप, राहुल सांस्कृत्यान जैसे नाम ऐसे लघुनाटककार के रूप में जनप्रिय हो गये हैं।

३. **शृंगारिक लोकनाट्य**---शृंगारिक लोकनाट्य से तात्पर्य ऐसे प्रदर्शनों से है जिनका उद्देश्य स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक यौन-आकर्पण की अभिव्यंजना हो। भारतीय परम्परा में शृंगार भावना को सर्वव्यापक और मानव-हृदय का सर्वाधिक शक्तिशाली मनोभाव माना गया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने तो यौन-आकर्षण को ही सभी मानव क्रियाओं का मूल प्रेरणा स्रोत सिद्ध करने की चेष्टा की है। लोकनाट्य मनुष्य की नैसर्गिक भावनाओं की निश्छल और निःसंकोच अभिव्यक्ति है। अतः इससे शृंगार की प्रमुखता स्वाभाविक है। चाहे किसी भी श्रेणी का लोकनाट्य क्यों न हो उसमें स्पष्ट या सांकेतिक या आनुषंगिक रूप में शृंगार को स्थान मिल ही जाता है। जनजातियों के जिन लोकनाटयों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है उन सबमें स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण यहाँ तक किसी-किसी लोकनाट्य जैसे झूमर, भूयां, हो और कन्ध जातियों के लोक-नृत्यों तथा छड़ीस के प्रचलित रसकेलि, सन्तालों में प्रचलित धांगड़ा-धांगड़ी नृत्य और बिहार के जोगिड़ा में यौन क्रियाओं के स्पष्ट वर्णन और सांकेतिक अभिनय भी मिलते हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे लोकनाटय हैं जिनका मुख्य विषय ही शृंगारिक होता है। असम का बिहु पर्व, और विन्ध्य अंचल का भगोरिया पर्व मूलतः नृत्य-गीत के माध्यम से स्त्री-पुरुष में पारस्परिक यौन आकर्षण को प्रोत्साहित करने वाले पर्व हैं। ऊपर जिन जातिगत नृत्यों के उल्लेख हुए हैं, उनका भी मुख्य विषय यौन-प्रधान प्रेम ही होता है। बिहार में विदेसिया, मिथिला में शंखों ओझा, नाचारी झा और कमला नाच प्रदर्शनों में जनरंजन के लिए शृंगारिक तत्वों को

र्वाधिक प्रश्रय मिल जाता है। थारू जाति में प्रचलित हरिलता की प्रेमकथा; हारी जाति में हंस-हंसी नाट्य, बंगाल में घेसरा-घेसरानी और नापित-नापितानी त्य, बिहार में प्रचलित स्वांग, और उड़ीसा के रसकेलि आदि नृत्यों का मुख्य विषय प्रेम होता है और उनके प्रदर्शन में यौन-भावना की अभिव्यक्ति कभी-कभी श्लीलता की सीमा तक भी पहुँच जाती है। बिहार के पूर्वी गीत शृंगार के योग और वियोग दोनों पक्षों की अभिव्यक्ति के लिए सबसे सशक्त माध्यम ना जाता है। कुछ लोकनाट्यों के दलों ने इन गीतों का अभिनयात्मक स्वरूप कसित करने में भी सफलता पायी है। उड़ीसा का कुमारोत्सव मूलतः एक रिवारिक पर्व है, परन्तु इस अवसर पर सार्वजनिक नाट्य प्रदर्शनों के आयोजन ते हैं। उनमें प्रेम-कथानकों की ही प्रमुखता है। यह कहा जाय कि पूर्वांचल के लोकनाट्य यहाँ के जन-जीवन में शृंगारिक भावना के सभी पक्षों को उन्मुक्त कर रूपायित करते हैं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

४. जीवन-संघर्ष-सम्बन्धी लोकनाट्य

जीविकोपार्जन और आत्म-रक्षा मानव जीवन के दो ऐसे अनिवार्य पक्ष हैं, नका सामना प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ता है। जीवन की सम्पूर्ण अनुकृति अभिव्यक्ति होने के नाते लोकनाट्य इस तत्त्व से अछूता नहीं रह सकता। तिगत उल्लास और प्रेम-व्यंजना के साथ-साथ पूर्वांचल के लोकनाट्य में यह भी व्यापक रूप से पाया जाता है। पूर्वांचल की जनता के जीविकोपार्जन प्रमुख साधन हैं शिकार, वन्य-उत्पादनों का संग्रह और कृषि। समुद्रतटवर्ती बंगाल और आसाम के नदी-बहुल अंचलों में मत्स्य-पालन भी एक प्रमुख विका है। दक्षिण बिहार और उड़ीसा की कुछ जातियों में सैनिक-वृत्ति भी विका के मुख्य साधन के रूप में ग्राह्य है। प्राचीन काल में तटवर्ती अंचल सी नौवाणिज्य के लिए भी प्रसिद्ध थे। पूर्वांचल के लोकनाट्यों में इन सभी यों का प्रदर्शन होता है। बिहार, उड़ीसा और बंगाल की जनजातियों में सभी सार्वजनिक नृत्य उसी समय आयोजित होते हैं जब इस अंचल के जंगल आ, साल, पुष्प, मधु, धूना इत्यादि अपनी प्राकृतिक सम्पदा से सम्पन्न होकर ष्य सबमें भावी समृद्धि की आशा का संचार कर देते हैं। छत्तीसगढ़ की गा जाति शिकार के उपकरण तीर-धनुष और लकड़ी काटने का साधन कुल्हाड़ी ों में लेकर वृत्ताकार नाचते हैं। वे नृत्य के दौरान शिकार और अपनी वन्य र्या से सम्बन्धित क्रियाओं के अभिनय प्रस्तुत करते हैं। असम की कछोरी का मत्स्य नृत्य सजीवता और अभिनेयता के लिए प्रसिद्ध है। उसी प्रकार सा के तटवर्ती अंचल में भी मछली पकड़ने की विभिन्न प्रक्रियाओं का सजीव करने वाले नृत्य मछुआरों में प्रचलित है। जुआंग जनजाति का भालू-

नृत्य मालू के क्रिया-कलाप और उनको पकड़ने की प्रक्रिया का अभिनय प्रस्तुत करता है।

पूर्वांचल की जनजातियों में माघ का सारा महीना नृत्य, गीत, अभिनय और मनोरंजन का विशिष्ट महीना माना जाता है। नयी फसल पाकर गांव-गांव का हर व्यक्ति प्रसन्नता से उन्मत्त हो जाता है। सन्तालों में झूमर-नृत्य, पलामू और छत्तीसगढ़ की बिरहुर जनजाति के अधिकांश नृत्य इसी महीने में अपने सम्पूर्ण वैभव और उल्लास के साथ आयोजित होते हैं। बिहार का चैती गीत खेती से उत्पन्न उल्लास का ही द्योतक है। उड़ीसा की केवट जाति का चइती-घोड़ा नृत्य भी उनकी वृत्तिगत समृद्धि का द्योतक है। बिहार का श्याम-चकेला फसल की समृद्धि और पारिवारिक सम्पन्नता की कामना को अभिव्यक्त करता है। जब खेती में असफलता के आसार दृष्टिगोचर होते हैं तो उसकी अभिव्यक्ति भी लोकनाट्य के माध्यम से होती है। बिहार में हरपरौरी और जट-जटिन इसी श्रेणी के नृत्यों में रखे जा सकते हैं।

सैनिक वृत्ति या युद्ध-कौशल आत्म-रक्षा का एकमात्र साधन है। उड़ीसा का सैनिक वर्ग दंडावली नृत्य है, नागा जनजाति अपने नागा नृत्य में शस्त्र प्रयोग की दक्षता, युद्ध-कौशल और शारीरिक करतब का ही प्रदर्शन करते हैं। बिहार की अहीर जाति गायडाँड़ के अवसर पर डंडेवाजी के अद्भुत करतब दिखलाती है। पश्चिमी पूर्वांचल में युद्ध के सजीव वर्णनों से युक्त आल्हा-ऊदल के गीत उत्साहवर्धक अभिनय के साथ गाये जाते हैं।

५. लोकनाट्य

पूर्वांचल में कुछ ऐसे लोकनाट्य भी प्रचलित हैं जिनके माध्यम से साधारण जनवर्ग अपने अतीत का किसी महत्त्वपूर्ण घटना का स्मरण कर नयी पीढ़ी में सांस्कृतिक गौरव और उसकी रक्षा की प्रेरणा उत्पन्न करती है। इन लोकनाट्यों में से कुछ के कथानक आधार तो इतिहास-सम्मत भी है, परन्तु कुछ अन्य लोक-परम्परा की श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

इतिहास-सम्मत लोकनाट्यों में बिहार में प्रचलित आल्हा-ऊदल, राजा भरथरी, राजा गोपीचन्द और वाबू कुअँर सिंह के नृत्य-गीत आते हैं। भरथरी और गोपीचन्द के नृत्य-गीत वंगाल में भी प्रचलित हैं। आल्हा-ऊदल और कुअँर सिंह शौर्य के आदर्श के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं और भरथरी तथा गोपीचन्द दाम्पत्य विच्छेद की करुणगाथा का मर्मांकण करते हुए वैराग्य भावना की प्रेरणा देते हैं। इनके प्रदर्शन में कथात्मक गीत की प्रधानता है, जिसके बीच-बीच में अभिनय द्वारा सजीवता उत्पन्न की जाती है।

लोक-परम्परा में प्रचलित ऐतिहासिक कथा-गीतों में अधिकतर प्रेम कथानक पर आधारित हैं, जैसे मिथिला में ढोला-कुअँर, बिहार में सोरठा-बृजभान, बिहार के

अहीरों में जनप्रिय लोरिकायन, थारू जाति में हरिलता इत्यादि के गीत। ढोला-कुअँर में प्रेम का आदर्श प्रस्तुत किया गया है, सोरठा वृजभान में दो प्रेमियों के मिलन में बाधक तत्त्वों और उनके मार्मिक कष्टों का चित्रण किया गया है, लोरिकायन वीरता प्रेम से मिश्रित और अहीरों के जातीय गौरव की कहानी है तथा हरिलता में चित्रसेन और धर्मवती की प्रेम-कथा को संवादात्मक गीतों में प्रस्तुत किया गया है। मिथिला में प्रचलित सलहेस अभिनय प्रधान कथा-गीत है जिसमें कौटुम्बिक जीवन का उच्च आदर्श रूपायित है। विहार और बंगाल में प्रचलित विहुला के कथा-गीतों में सतीत्व का आदर्श गीतात्मक अभिनय के द्वारा प्रस्तुत होता है। उड़ीसा में प्रचलित चढ़ाया नृत्य मध्ययुगीन उड़ीसावासियों के द्वारा विदेशों में नौवाणिज्य की गौरव गाथा का अभिनयात्मक प्रदर्शन है। उत्तरी उड़ीसा में मुस्लिम, शासन के समय मोगल तमाशा के नाम से एक नाट्य-प्रदर्शन की परम्परा विकसित हुई जिसमें हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के संघर्ष और समन्वय से सम्बन्धित कथानकों का अभिनयात्मक प्रदर्शन होता है। बिहार में प्रचलित शोभनायक बनजारा भी एक प्रेमकथा ही है, परन्तु इसमें मध्यकालीन सार्थवाह जीवन का चित्रण है और सामाजिक कुरीतियों तथा पारिवारिक कलह से उत्पन्न परिस्थितियों को प्रस्तुत किया गया है।

इनके अतिरिक्त पूर्वांचल के सभी भागों के छोटे-छोटे लघुनाटकों या एकांकियों के माध्यम से अनेक ऐतिहासिक अथवा लोक-परम्परागत कथानकों को नाटकीय रूप देकर समाज की असंगतियों को दूर करने तथा नयी पीढ़ी में सांस्कृतिक जागरण उत्पन्न करने की चेष्टा होती रहती है। ऐसे प्रयास प्रायः किसी पर्व पर अथवा शिक्षा-संस्थाओं में विशिष्ट अवसरों पर अभिनीत होते रहते हैं।

६. सांस्कृतिक लोकनाट्य

ऊपर जितने भी नाट्य-गीतों और अभिनयों का उल्लेख किया गया है वे सभी किसी-न-किसी रूप में पूर्वांचल की संस्कृति की अपनी-अपनी विशिष्टताओं को व्यंजित करते हैं। परन्तु रामलीला, रासलीला और जनजातियों के लोकनाट्य सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें संस्कृति के मुख्य तत्त्वों अर्थात् जीवन-पद्धति, विचारधारा, कला-कौशल और आध्यात्मिक विश्वासों की अभिव्यंजना होती है। सन्तालों के झूमर नृत्य को ही ले लें। ये गाँव के सरदार के घर के सामने किसी खुली जगह में होता है। इससे सन्तालों के समाज में सरदार के महत्त्व और सामाजिक अनुशासन का संकेत मिलता है। स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लेते हैं अतः समाज में स्त्रियों के समान स्थान की सूचना मिलती है। नृत्य में स्त्रियों का नतमुखी होना उनकी शालीनता और नारी-सुलभ लज्जा का द्योतक है। पुरुषों के द्वारा संचालित ताल पर स्त्रियों का नाचना पारस्परिक

सहयोग का प्रतीक है। झूमर का समय प्रकृति से प्राप्त आजीविका के साधनों के प्रति उनकी निर्भरता सूचित करती है। इन जनजातियों के सभी नृत्यों में उनका समय, स्वरूप और प्रक्रिया सांस्कृतिक विशेषताओं के प्रतीक हैं। रामलीला और रासलीला तो इस अंचल के सभ्य समाज में जीवन के प्रत्येक क्षण, प्रत्येक समस्या और प्रत्येक कार्यक्रम में दिशासूचक यन्त्र के समान हैं। पूर्वांचल का दैनिक जीवन और प्रगति का लक्ष्य पूर्णतः इन्हीं पर निर्भर कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं।

७. परिनिष्ठत लोकनाट्य

ऊपर जितने भी लोकनाट्यों का उल्लेख किया गया है वे सभी मनोरंजन-प्रधान है। उन्हें धार्मिक, आनुष्ठानिक, जातीय, सांस्कृतिक अथवा ऐतिहासिक इत्यादि आधारों पर अवलम्बित तो पाया जाता है और उनमें से अधिकांश का उद्देश्य भी उनके प्रदर्शन के बाह्य रूप से भिन्न है परन्तु साधारण जनता को कुछ देर के लिए उल्लासपूर्ण वातावरण में भुला देना उनकी तात्कालिक उपयोगिता है। कुछ ऐसे लोकनाट्य भी है जिनमें मनोरंजन का उद्देश्य गौण है और जनता में साहित्य, संस्कृति और धार्मिक विचारधारा को प्रतिष्ठा करना मुख्य उद्देश्य है। बिहार की रामलीला के इस दृष्टि से दो रूप मिलते हैं। एक मनोरंजन प्रधान है तो दूसरा परिनिष्ठित। बंगाल और उड़ीसा में भी यात्रा और रामलीला या रासलीला के दोनों रूपों के प्रदर्शन की परम्परा जीवित है। इनके अतिरिक्त उड़ीसा में पाला और दासकाठिया दो ऐसे मतप्रधान अभिनयात्मक नृत्य हैं जिनका साहित्यिक स्तर अत्यन्त उच्च कोटि का है। पाला में एक प्रमुख होता है और चार-पांच सहायक होते हैं। मुख्य गायक किसी एक पौराणिक प्रसंग का विस्तृत वर्णन करने के लिए विभिन्न मान्य कवियों की रचनाओं से उद्धरण प्रस्तुत करता है और उनका सर्वबोधगम्य विश्लेषण भी करता है। सहायक संगीत के द्वारा उसका अनुकरण करते हैं और बीच-बीच में आवश्यक संवाद और अभिनय के द्वारा विषय को मनोरंजक बनाने और स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं। असम के ओझापाती नृत्य की प्रक्रिया भी यही है परन्तु उसमें पाला के समान सजीवता नहीं पायी जाती। दासकाठिया में केवल दो ही गायक होते हैं। इसमें साहित्यिक उद्धरण और विश्लेषण तो होता है परन्तु अभिनयात्मक तत्त्व कम रहता है। ये तीनों गीत-नाट्य उड़ीसा और आसाम के गांवों में अपने-अपने क्षेत्रों के अन्तर्गत अत्यन्त जनप्रिय हैं। इनके अतिरिक्त आजकल सामयिक अथवा सांस्कृतिक समस्याओं के आधार पर अनेक ऐसे लघुनाटकों के प्रदर्शन की प्रथा भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इनसे शिक्षित और अशिक्षित दोनों ही वर्गों के लोग समान रूप से आनन्द प्राप्त करते हैं।

ग—धार्मिक लोकनाट्य

प्रायः सभी आनुष्ठानिक लोकनाट्य धार्मिक महत्त्व भी रखते हैं। परन्तु कुछ लोकनाट्य विशुद्ध धार्मिक महत्त्व से युक्त हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं नेपाल का ज्यपु नृत्य और महाकाली नृत्य जो क्रमशः शैव और शाक्त धर्मों से सम्बन्धित हैं। मिथिला में विदापत और कीर्तन विशुद्ध वैष्णव अभिनयात्मक नृत्य-गीत हैं। उड़ीसा का दही खेल नृत्य, वाघन नृत्य इत्यादि कृष्ण भक्ति से परिपूर्ण कुछ लोकनाट्य प्रचलित हैं। आसाम के अंकिया नाट में भी धार्मिक तत्त्व ही प्रमुख स्थान रखता है। इनका प्रदर्शन भी नाचघरों में धार्मिक परिवेश के अन्तर्गत होता है। बंगाल का मंगल गान और बाउल गीत भी विशुद्ध धार्मिक है। इनके अतिरिक्त पूर्वांचल में मठों एवं मन्दिरों में विशिष्ट अवसरों पर प्रदर्शित कृष्णलीला और रामलीला में भी विशुद्ध भक्तिमय वातावरण निर्मित करने की चेष्टा होती है। ऐसे नाटकों की दृष्टि से मिथिला का सुभद्रा हरण और रुक्मिणी हरण, बंगाल का कालिया दमन, आसाम का चोरधरा गीत इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

घ—आनुषंगिक लोकनाट्य

ऐसे लोकनाट्य अपनी पृथक स्थिति नहीं रखते। ये किसी अन्य लोकनाट्य के अन्तर्गत एकरसता को दूर करने के लिए सम्मिलित कर लिए जाते हैं। जैसे ंती अथवा रामायण गान के बीच में कुछ सामयिक प्रसंगों के आधार पर अभिनयात्मक झलकियाँ प्रस्तुत करने की प्रथा विहार में मिलती है। अनेक धार्मिक लोकनाट्यों के सार्वजनिक या पेशेवर प्रदर्शनों में भी ऐसे प्रदर्शन जोड़ दिये जाते हैं। यहाँ पश्चिमी पूर्वांचल में प्रचलित कजरी का उल्लेख आवश्यक है। अपने मौलिक रूप में कजरी एक लोकगीत मात्र है परन्तु कालक्रम से इसके अन्तर्गत संवादात्मक तत्त्व भी आनुषंगिक रूप में समाविष्ट हो गया है। अब तो प्रेमी-प्रेमिका के बीच विदग्धतापूर्ण और कभी-कभी अश्लीलतापूर्ण संवादात्मक नोंक-झोंक भी कजरी का एक जनप्रिय रूप बन गया है।

पूर्वांचल की लोकनाट्य परम्परा का उपर्युक्त विवरण इस अंचल में प्रचलित हजारों लोकनाट्यों में से कुछ का संक्षिप्त उल्लेख मात्र है। अनेक लोकनाट्य अभी तक जानकारी में नहीं आ सके हैं अथवा उनके विवरण प्रकाश में नहीं आ सके हैं। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक अंचल में कुछ लोग ऐसे हों जो अपने-अपने अंचल में प्रचलित लोकनाट्यों के विशद वर्णन प्रस्तुत करें जिसमें उनके अवसर, स्थान, उनकी प्रक्रिया और स्वरूप का परिचय मिल सके। तभी यह सम्भव है कि इस अंचल के लोकनाट्यों के आधार पर इस अंचल की सांस्कृतिक विशेषताओं का अध्ययन किया जा सके। इस अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जीवन महानाटक का एक दृश्य है तो लोकनाट्य ही जीवन क वास्तविक स्वरूप है।

□

भोजपुर तथा आरा के नामकरण की पृष्ठभूमि

□ श्री दशरथ तिवारी,
जिला शिक्षा पदाधिकारी, भोजपुर

भोजपुर जनपद का नाम बक्सर अनुमण्डल के एक गाँव भोजपुर पर आधारित है। यह गाँव डुमराँव से उत्तर दो मील की दूरी पर अवस्थित है। इस गाँव के संस्थापक परमार वंशीय राजा भोजराज थे। परमार राजपूत अपने को भारतीय उपाख्यानों में वर्णित राजा भोज का वंशज मानते हैं। इस परमार वंश में विक्रमादित्य, भोज, उदयादित्य तथा जगदेव जैसे प्रतापी राजा हुए हैं। मालवा पर बहुत दिनों तक इनका आधिपत्य था। इनकी राजधानी उज्जैन और बाद में धार थी। उपाख्यानों में वर्णित राजा भोज की सातवीं पीढ़ी में उदयादित्य हुए थे। धार राजाओं का अन्तिम वंशधर राजा मुलुकराज था। वह अलाउद्दीन का समकालीन था। अलाउद्दीन से उसकी भीषण लड़ाई हुई और अन्ततः १३६५ विक्रमी संवत् में राजा मुलुकराज युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया। मुलुकराज की मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई भोजराज को मालवा छोड़ना पड़ा। भोजराज ने पूरब में आकर शाहाबाद में एक नये राज्य की स्थापना की। संस्थापक के नाम पर इस राज्य का नाम भोजपुर पड़ा। अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्यतक यह गाँव डुमराँव राज का मुख्यालय था। इस गाँव का पुराना गढ़ और नवरतन के नाम से विख्यात परमार वंशीय राजाओं के महल के भग्नावशेष एक विस्तृत क्षेत्र में आज भी फैले हुए हैं। गंगा नदी किसी जमाने में महल को स्पर्श करते हुए बहती थी। आज गंगा की धारा भोजपुर से आठ-दस मील उत्तर में बह रही है।

बुकानन हैमिल्टन ने १८१२ ई० में भोजपुर की यात्रा की थी। उस समय गंगा सुदूर उत्तर की तरफ जा चुकी थी, ~~परन्तु इसकी एक धारा भोजपुर होकर भी~~ बहती थी। इस धारा के किनारे बुकानन ने पुरानी इमारतों का ध्वंसावशेष देखा था। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि यहाँ किसी काल में एक समृद्ध नगर रहा होगा जो कालक्रम में गंगा के जलप्लावन के कारण विनष्ट हो गया होगा। अभीतक इस क्षेत्र का उत्खनन नहीं हुआ है। उत्खनन होने पर इस क्षेत्र के लुप्त इतिहास पर प्रचुर प्रकाश पड़ सकता है। इसी भोजपुर गाँव के नाम पर भोजपुर परगना बना। पुराने शाहाबाद जिले का उत्तरी भाग भोजपुर के नाम से विख्यात था। १९७२ ई० में पुराना शाहाबाद जिला प्रशासनिक सुविधा हेतु दो भागों में बाँट दिया गया (१) रोहतास (२) तथा भोजपुर। भौगोलिक दृष्टि से

भोजपुर जिले का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित है। इस जिले के पूरब-पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं में क्रमशः सोन, कर्मनाशा एवं गंगा नदी हैं। भोजपुर और रोहतास के बीच कोई प्राकृतिक विभाजन-रेखा नहीं है।

आचार्य कुलदीप नारायण राय "झड़प" ने "जनपदीय भाषाएँ और हिन्दी" शीर्षक निबन्ध में जनपद शब्द को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "इसका तात्पर्य उन भाषाई क्षेत्रों से है जितनी दूर में कोई भाषा या प्रधान उपभाषा बोली जाती है, जैसे भोजपुरी जनपद। इज जनपद का विस्तार बिहार, उत्तर प्रदेश; मध्य प्रदेश तथा नेपाल तक है। इस निबन्ध में सम्पूर्ण भोजपुरी जनपद के बदले मात्र भोजपुर जिले की एक झाँकी प्रस्तुत करना अभीष्ट है।

पृष्ठभूमि

प्राचीन काल में यह क्षेत्र कारूष देश के नाम से विख्यात था। यह एक उपद्रवग्रस्त क्षेत्र था जिसमें स्वतंत्र अनार्य जातियाँ निवास करती थीं। वैदिक साहित्य में कारूष देश का उल्लेख नहीं मिलता। पद्मपुराण के अनुसार कारूषों का प्रथम सम्राट् दन्तवक्र था। वह असुर जाति का था। असुर जाति पर इतिहास-वेत्ताओं द्वारा पूर्ण प्रकाश अबतक नहीं डाला जा सका है। शतपथ ब्राह्मण तथा पाणिनि के व्याकरण में असुर जाति का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यह जाति प्रबल वेद-विरोधी थी, जो क्रमशः आर्यों के प्रभाव-क्षेत्र में आई।

कारूषों का मूल निवास स्थान रेवा और मिर्जापुर की पहाड़ियाँ बतलाई जाती है। कालक्रम में यह जाति एक स्थान से दूसरे स्थान में पलायन करती रही। जो लोग इस क्षेत्र में बने रहे, उनके वंशज भार और चेरो कहलाए। ये इस क्षेत्र के प्राचीनतम निवासी थे। मौर्यकाल में कारूष देश मगध साम्राज्य में मिला लिया गया। इस प्रकार ४०० ई० पू० में यह मगध साम्राज्य का अंग हो गया।

ह्वेनसांग

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्राक्रम में गंगानदी का अनुसरण किया था। उसने गाजीपुर-बलिया की तरफ से भोजपुर में प्रवेश किया था और महासार नगर में पहुँचा था। इस नगर में ब्राह्मण धर्मावलम्बी रहते थे। यहाँ ह्वेनसांग को कोई बौद्ध धर्मावलम्बी नहीं दृष्टिगोचर हुआ। आरा से छः मील की दूरी पर बसे हुए मसाढ़ ग्राम से महासार का तादात्म्यीकरण किया जाता है। उस समय गंगा की एक धारा मसाढ़ के निकट से बहती थी। जेनरल कनिंघम के अनुसार ह्वेनसांग ने जिन स्थानों की यात्रा की थी उनमें आधुनिक आरा भी सम्मिलित था।

आरा भोजपुर का जिला मुख्यालय है। आरा के नाम पर भोजपुर जिला को आरा जिला भी कहते हैं।

'आरा' की व्युत्पति

आरा शब्द की व्युत्पति पर पालि के प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० महेश तिवारी ने श्री जैन सिद्धान्त भास्कर भाग २३ नं० १ में एक पाण्डित्यपूर्ण निबन्ध लिखा है जिसमें 'आरा' की व्युत्पत्ति में तीन शब्दों पर विचार किया गया है—आर, आलवी तथा आराम नगर।

जनश्रुति के अनुसार आरा का तादात्म्यीकरण महाभारत कालीन एकचक्र नगर से किया जाता है। अज्ञातवास के समय पाण्डवों ने इस नगर में वास कि था। इस ग्राम के पास ही बकरी ग्राम में बकासुर नामक दैत्य रहता था। भी ने बकासुर का वध कर उसका मृत शरीर एकचक्र नगर के द्वार पर लाकर रख दि था। उस दिन मंगलवार (आर) पड़ता था। इस दिन की स्मृति में वहाँ के निवासि ने एकचक्र का नाम आरा रख दिया। कनिंघम ने इस जनश्रुति को ईस्वी सन् पू का बतलाया है।

पालि त्रिपिटक में शाहाबाद मण्डल का नाम आलवी मिलता है। यह ए छोटा राज्य था, जो सम्भवतः मगध और काशी के बीच स्थित था। इसके राजधानी आलवी थी और वह नगर गंगा के तीर पर बसा हुआ था। आलवी के नागरिक आलवक कहलाते थे।

भगवान् बुद्ध प्रायः आलवी आया करते थे। यहाँ अग्गलाव चैत्य नामक ए विशाल बौद्ध विहार था। भगवान् बुद्ध इसी विहार में ठहरा करते थे। भगवा बुद्ध का सोलहवाँ वर्षावास आलवी के इसी चैत्य में हुआ था। डॉ० तिवारी 'आरा' की व्युत्पति की एक सम्भावना 'आलवी' शब्द से बतलायी है। आलवी 'ल' मूर्द्धण्य 'ल' है। प्राकृत भाषाओं में 'ल' या 'ल' का परिवर्तन 'र' में होने अनेक उदाहरण मिलते हैं। इस दृष्टि से 'आलवी' शब्द पहले 'आरवी' ब होगा। पुनः प्रयत्नलाघव के कारण 'वी' का लोप हो गया होगा और केव 'आर' बचा होगा। आर शब्द में अन्त्य स्वर के दीर्घ हो जाने से आरा शब्द ब होगा।

इसी क्रम में एक दूसरी कल्पना भी की जाती है। बौद्ध परम्परा में एक शब्द अपने पर्याय से भी घोषित किया जाता है, जैसे पंक्ति भाषा, तन्ति भा पालि भाषा। इस क्रम से आलवी के लिए अटवी या अरण्य शब्द का प्रयोग हो होगा। अरण्य शब्द से भाषा वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार 'आरा' की व्युत्प स्वाभाविक प्रतीत होती है।

तीसरा शब्द है आराम नगर। बौद्ध परम्परा में आराम का अर्थ होता है चैत्य या विहार। आलवी में अग्गलाव विहार की बात पूर्व में कही जा चुकी है। यहाँ अशोक ने भी एक विहार बनवाया था। बौद्धों ने इसका महत्त्व दिखलाने के लिए आराम नगर अर्थात् बिहारों का नगर कहना प्रारम्भ कर दिया। तब से इसके लिए 'आरा' और 'आराम नगर' दोनों ही शब्द चलते रहे। कालान्तर में ब्राह्मण धर्मावलम्बियों ने आराम नगर शब्द का बहिष्कार कर प्राचीन आरा शब्द को ही व्यवहार में लाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार महाभारत कालीन आरा शब्द सुदृढ़ हो गया और आराम नगर कतिपय अभिलेखों तक ही सीमित रह गया।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Bihar District Gazetteers : Shahabad.
2. स्मारिका : सन् सन्तावन और वीर कुवर सिंह
   प्रकाशक—कुँवर सिंह शिक्षा निधि, पटना।
3. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग २३ नं० १
4. नवनीत, अप्रील, ८५ पृष्ठ—२०

□

भोजपुरी जनपद प्राचीन काल से ही भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के विकास का केन्द्र रहा है। गंगा, सरयू, नारायणी, सोन आदि के तटों पर ऋषियो की एकान्त साधना ने भारतीय चिन्तन को शिखर प्रदान किया। मानवीय मूल्यों के चिरन्तन सत्य का दर्शन करने वाले महान तपस्वियों और मनस्वियों की एक लम्बी परम्परा गंगा-प्रवाह की भाँति जनमानस को पवित्र करती रही है।

□

भोजपुर का ऐतिहासिक महत्व

☐ डॉ० भगवतशरण उपाध्याय

प्रस्तोता: श्रीशिवशंकर राय, उपप्राचार्य

भोजपुरी जनपद का महत्व इतिहास प्रसिद्ध है। भारत के इतिहास में इस देश का कोई जनपद इतना महत्व न पा सका, जितना काशी को हृदय में बिठाए भोजपुर जनपद को मिला। बुद्ध और अशोक का नाम किसने नहीं सुना? वर्धमान महावीर और चंद्रगुप्त मौर्य का नाम किसने नहीं जाना? बुद्ध का प्राय: समूचा जीवन अधिकतर इसी भोजपुर जनपद में उपदेश करते बीता। बौद्धों के चार प्रसिद्ध तीर्थों में से तीन इसी अंचल में हैं। बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु, उनके उपदेश का पहला अधिकारी मृगदाव-सारनाथ और उनकी मृत्यु-महापरिनिर्वाण की भूमि कुसीनारा-कसिया, भोजपुर के ही जनपद में थे। स्वयं बोधगया भी, जहाँ उन्होंने ज्ञान लाभ किया था, भोजपुरी बोली के दक्खिन-पूर्वी छोर के निकट ही था। बुद्ध के वैभव के रूप में भोजपुर का सांस्कृतिक साम्राज्य उत्तर में कोरिया, जापान, तिब्बत, दक्खिन में सिंहल, पूरब में चीन, मलय, हिंदेशिया और पच्छिम में ईराक, इस्रायल तक जा फैला और कालान्तर में ईसाई साधुवर्ग की, उनके मठों की, नींव बना।

चंद्रगुप्त मौर्य ने भारत की भौगोलिक सीमाओं पर हमारे देश के इतिहास में पहली बार राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की और सुदूर के दक्खिन को छोड़ समूचा भारत एक राष्ट्र बन गया। अपने भोजपुरिया वीरों की हरावल लिए वह भारत के बाहर हिंदूकुश पर्वत के आर-पार अफगानिस्तान जा पहुँचा, जहाँ पश्चिमी एशिया के राजा और सिकंदर के सेनापति सेल्यूकस ने उसे रण के लिये ललकारा था। ग्रीकों को अभिभूत कर उसने काबुल और आस पास के चारों ग्रीक प्रान्त उस भोजपुर के साम्राज्य में मिला लिए जिसकी राजधानी, तब के मगध की राजधानी, पाटलिपुत्र थी। चन्द्रगुप्त भोजपुरी जनपद में ही जन्मा था, मल्लों के पड़ोसी पिप्पलिवन के मोरियों की संतान था, जिसने मगध पर अधिकार कर लिया था। उससे भी पहले, इसी भोजपुर के वीरों से अपनी सेना की हरावल बनाकर देश में पहला साम्राज्य राजा नंद ने स्थापित किया था जिसकी उग्रकर्मा सेनाओं से डर कर सिकन्दर की सेना ने पंजाब में ही व्यास के तीर हथियार डाल दिए थे और उस जगद्‌विजयी को उलटे पाँव लौट जाना पड़ा था।

अधिकतर इसी भोजपुरी जनपद में जैनधर्म के चलाने वाले वर्धमान महावीर के उपदेश भी, बुद्ध से भी पहले, होते रहे थे, जन्म चाहे उनका मैथिल जनपद की

वैशाली में हुआ। इस प्रकार संसार के दो महान् विचारों और सामाजिक क्रान्तिकारियों की विचारधारा भोजपुरी जनपद में ही बहती रही। इनमें से एक, बौद्ध धर्म, ने तो अपने विस्तार में संसार के छोर छू लिए और जैन धर्म ने भारत भर में तप और अहिंसा का विस्तार किया। अशोक का महत्व किसका नहीं जाना है? बुद्ध और जैन ने जो कार्य भारतीय संस्कृति की दिशा में, विश्वशांति और मानव प्रेम की दिशा में किया; चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक ने वही राजतंत्र की दिशा में किया। अशोक—गोरखपुर और कसिया के बीच मोरियों में जन्मा अशोक—तो संसार राज्याचरण का कीर्तिमान ही बन गया। उसने दिग्विजय को त्याग धर्मविजय को अपनी राज-नीति बनाई और राजनय में पहली बार भ्रातृभाव का व्यवहार किया। ग्रीक सिकन्दर अशोक के पूर्वजों के समय एक हाथ में तलवार दूसरे हाथ में आग लिए आया था, उसी के देश में ग्रीकों के पांचों राज्यों में, पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका; मिस्र और पूरबी यूरोप में अशोक ने दवायें बटवायीं, मनुष्यों और पशुओं के लिए पेड़-पौधे लगवाए। ग्रीक यहां मृत्यु के उपकरण लिए आये थे, भोजपुर ने उन्हें जीवन के साधन देकर जीता। तपस्वी अशोक भोजपुरी अंचल से उठा बौद्ध धर्माकाश का अप्रतिम नक्षत्र था, गोरखपुर और देवरिया के पड़ोस के मोरियों की संतान चन्द्रगुप्त का पोता। उसी अशोक ने भारतीय राष्ट्र को उसकी मुहर दी, चतुर्दिक सिंहों का मुद्रांक दिया, उसकी ध्वजा को वह चक्र दिया जिसका धर्ममय प्रवर्तन काशी के मृगदाव में बुद्ध ने किया था, जो शान्ति का, मानव प्रगति का, प्रतीक था, जो आज भी शान्ति के चक्रवर्ती तथ्य का स्मारक है। भारतीय कला की चरम विन्दु मौर्य शिल्प का जादुई आकर इसी अशोकीय भोजपुरी जनपद का अंचल चुनार था।

भारत के प्रजातन्त्रीय या पंचायती राज्यों का महत्व जो इतना बखाना जाता है उसकी बुनियाद भी अधिकतर इसी भोजपुर जनपद में थी। यहीं बुद्ध को जन्म देने वाले कपिलवस्तु के शाक्यों, यशोधरा को पैदा करने वाले रामगांव के कोलियों, पिप्पलिवन के, चन्द्रगुप्त—अशोक के, मोरियों, पावा-पड़रोना और कुसीनारा के मल्लों के पंचायती राज्यगण और संघ थे। यहीं बुद्ध के एक गुरु आलारकालाम को जन्म देने वाले कालाम बसते थे और यहीं ऐतरेय ब्रह्मण के भर्गो और बौद्ध साहित्य के भग्गों की सुंसुमारगिरि का वह प्रसिद्ध नगर था, मिर्जापुरचुनार के पास, जहाँ अशोक ने अपनी लाटें बनवा उन पर अपने उपदेश खुदवा कर उन्हें हजार मील दूर दक्खिन हैदराबाद और मैसूर की भूमि पर खड़ा किया था, जहां ांधों में हिन्दी नहीं, उसकी भोजपुरी का ही एक पूर्वगामी रूप मान्य हुआ। इसी भोजपुर के जनपद में वह काशी है जिसके ब्रह्मदत्त राजाओं की कथा बुद्ध के कहे

जातकों में भरी पड़ी है, जिसके राजा अश्वसेन के पुत्र पार्श्व का नाम वर्धमान महावीर पूर्व जैन तीर्थंकरों में असाधारण महत्व का है और जिसके राजा अजात-शत्रु ने विदेह जनक, अश्वपति कैकेय, प्रवहण जैवलि के साथ साथ उपनिषद् विद्या का प्रचार किया था। विश्वनाथ की गली में रेशमी वस्त्र और ठठरी गली में पीतल के पात्र-मांड जो बनते थे उनके बैलगाड़ियों के अटूट कारवां एक ओर पच्छिम को उज्जैनी और सौराष्ट्र, दूसरी ओर अन्तिओक और अलेष्पो की राह पहुँच यूरोप के भूमध्यसागरवर्ती मंडियों को अपनी बहुमूल्य वस्तुओं से भर देते थे। यही काशी ए वार मगध और कोसल के साम्राज्यों में कशमकश का कारण बन गई थी और इ काशी की महिमा देश के कोने कोने में, साहित्य और पुराण के पन्ने-पन्ने पर, गा जाती रही है। समूचे भारत के जिन सोलह जनपदों का बुद्ध से पहले की पुस्त में बखान हुआ है उनमें अनेक जनपद इसी भोजपुरी अंचल के थे, जहाँ शंकर जै दार्शनिक अपने तर्क पर शान चढ़ाने आया करते थे।

मौर्यों के बाद शुंग आए जिन्होंने विदेशियों से लोहा लिया और भोजपुर जनपद ही गंगा की घाटी में पुष्यमित्र शुंग ने ग्रीक विजेता मीनांदर को आज से कोई हजार साल पहले धूल चटा दी थी। वास्तव में स्यालकोट का ग्रीक साम्राज्य भोजपुर में ही नष्ट हुआ जब उसके सम्राट् पुष्यमित्र ने ग्रीकों की राजधा साकल-स्यालकोट जाकर अपना फरमान निकाला। और शायद तभी हिन्दू सम को पहली व्यवस्था देने वाली मनुस्मृति, संभवतः काशी में ही, गंगा के तट रची गई। मात्स्यन्याय का अन्त करने वाले, भारतीय परम्परा के अराजक जीवन के अन्तक प्रथम मानव राजा यही मनु थे जिनकी विधान-व्यवस्था के प्र आचार्य भृगु ने बलिया और काशी के गंगातीर पर पहले उस विधान को साधा

विदेशी शक-पह्लवों, ग्रीक-कुषाणों ने जब उत्तरापथ को आक्रान्त कर लि तब मिर्जापुर की कन्तित-कान्तिपुरी में छावनी बना कर मध्यदेश की रक्षा वाले पद्मावती के नागों ने, पीठ पर काशी के शिव का प्रतीक लिंग धारण वाले भारशिव नागों ने, बारबार विदेशियों को परास्त कर बारबार अश्वमेध था। प्रत्येक अश्वमेध के बाद उन्होंने काशी में अवभृथ स्नान किया था उनके अश्वमेधों की संख्या दस होने से, काशी के प्रसिद्ध घाट "दशाश्वमेध" नाम ही उनके स्मारक के रूप में पड़ गया। इस प्रकार भारतीय स्वतंत्रता का संग्राम इसी भोजपुरी अंचल में लड़ा गया जिसकी परिणति शकों को देश से नि कर शकारि-विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त ने की। उसी "चन्द्र" ने भोजपुरी वीरों के पंजाब की सातों नदियों को लाँघ, हिन्दकुश लांघ बलख-बुखारा, बखाँ-बदल आमू दरिया के तीर की, केसर की क्यारियों में अपनी हरावल के घोड़

और लौट कर दिल्ली मेहरौली में अपना लौह स्तम्भ गाड़ कर उस पर इस विजय की प्रशस्ति खुदवायी—तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिंधोर्जिता वाह्लिका :।

गुप्तों का उदय अधिकतर त्रिवेणी और गंगा और सोन के संगम के बीच की ही भोजपुरी भूमि में हुआ। इसी के वीरों ने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पौत्र स्कंदगुप्त के झंडे के नीचे लड़कर उन हूणों को परास्त किया जिनकी पराजय की कहानी स्कंदगुप्त ने सैदपुर भीतरी के पास पत्थर की लाट पर खुदवाई—हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता। भीमावर्तकरस्य—देश की रक्षा के लिए रणभूमि में रातें गुजारने वाले उस वीरवर की भुजाओं के युद्ध में हूणों से टकरा जाने से भयानक आवर्त बन गया था, धरा काँप उठी थी। बंगाल के पाल और सेन राजाओं ने, वैसे ही कन्नौज के गहड़वाल राजाओं ने, भोजपुरी जनपद का महत्व समझा और उसके केन्द्र काशी में उन्होंने अपने लेख खुदवाए, उसे अपनी दूसरी राजधानी बनाया। इसी भोजपुर इलाके को उन भरों के कुलों को समुन्नत करने का श्रेय है जिन्होंने अपना ब्राह्मण-क्षत्रियेतर साम्राज्य कायम किया और जिनके अनेक कुल आज स्थानीय क्षत्रिय बन गये हैं। जमाना बदलता गया पर उस केन्द्र का महत्व दोनों में बना रहा—उसके भारतीय पुजारियों में भी, विदेशी लुटेरों में भी। सदियों काशी नगरी का धन विदेशी विजेताओं को नजर पर चढ़ा रहा और समय-समय पर उनकी तृष्णा की प्यास बुझाता रहा।

सोलहवीं सदी में भोजपुर के राजा अफगान थे और उनके सरदार शेरशाह ने कुछ वह किया जो भारत के इतिहास में न कभी देखा गया ना सुना गया था। भोजपुरियों की सेना लिए शाहाबाद जिले के सासाराम से जब वह चला तब दिल्ली का तख्त हिल गया, फरगना के तैमूर का वंशज और बाबर का बेटा हुमायूँ तब शेरशाह के सामने बगैर तोप दागे, बगैर बंदूक की एक गोली छोड़े, जो भागा तो उसके पैर ईरान में ही जाकर टिके और इस भोजपुरिया शेरशाह ने वीरप्रसविनी राजस्थान और पंजाब की भूमि को रौंद डाला, मालवा से गुजरात तक की भूमि पर अधिकार कर लिया। यह पहला उदाहरण था जब जनपद और सूबे के जमीदार ने उठकर देश की राजधानी दिल्ली पर कब्जा कर लिया और केन्द्रीय सिंहासन पर जा बैठा था। उसी शेरशाह ने वह टोडरमल उत्पन्न किया जिसने आगे चलकर अकबर के राज की व्यवस्था की। भला आज किसी को इस बात का कयास भी हो सकता है कि जो गैंड ट्रंक रोड पटने से पेशावर जाती है उसका निर्माण शेरशाह ने कराया था? या कि आज हम खेतों की पैमाइश का, चांदी के सिक्कों का, डाक का, जो इस्तेमाल कर रहे हैं उसकी बुनियाद भोजपुर के सरदार उसी शेरशाह ने डाली थी?

यह भोजपुर जनपद निर्भीक सन्त कबीर का है, साधक संकटमोचन-संस्थाप तुलसी का, साहित्यधुरीण प्रेमचन्द, प्रसाद का है, हरिऔध, रामचन्द्र शुक्ल का, बटोहियाकार का है, इतिहास मार्तण्ड काशीप्रसाद जायसवाल का है, तिब्बत के अन्तराल से भारतीय ग्रन्थरत्नों की राशि निकाल लाने वाले राहुल का, ज्ञानशिरो- मणि मंडनदंपति, रामावतार शर्मा, शिवकुमार शास्त्री का है, गणित के अप्रति पंडित सुधाकर द्विवेदी, गणेश प्रशाद, अवध उपाध्याय का है, काशी विश्वविद्याल के प्रतिष्ठाता मदनमोहन मालवीय का है, संविधान सभा के समारंभयिता सच्चिदा- नन्द सिन्हा का है, भारतीय स्वतंत्रता के सेनानी, स्वतंत्र भारत की संविधान स और स्वतंत्र भारतीय राष्ट्र के प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद का है, उस का नरेश चेतसिंह का, जिसने सन् सत्तावन से भी पहले विदेशी सत्ता को चुनौती दी।

कहानी लम्बी है, भोजपुरी महत्व की कहानी। अहं बात यह है कि वह मह कभी मर न सका और यह जनपद देश के इतिहास में अपने जस के सोने के पृ पर पृष्ठ जोड़ता गया। उसी प्रकार का वह भी पृष्ठ बना जब सत्तावन के गदर भोजपुरियों के बाँके कुंअरसिंह ने अंग्रेजों को लोहे के चने चबवा दिए। उसी सुनहरी कहानी का वह घटना उपसंहार बन गई जब मंगल पांडे की परि स्वरूप चित्तू पांडे ने स्वतंत्रता संग्राम में सन् ४२ में बलिया की पुलिस लाइन कलक्टर और पुलिस के सुपरिन्टेन्डेन्ट को वहां के जेल के कैदियों की मदद से कर लिया था और पूर्वी जिलों के अंग्रेज अधिकारी को बड़े परिश्रम से बलि जीतकर लखनऊ तार देना पड़ा था—"बलिया रीकैप्चर्ड"—बलिया पर फिर अधिकार हो गया!" और इतिहास के जानकारों को लगा कि जैसे सर चा नेपियार ने सिंध की विजय की हो!

जय भोजपुर! जय हिन्द!!

□

कृषक संस्कृति का महाकाव्यात्मक उपन्यास :

सोना माटी

—सम्पादक

विवेकी राय के सद्यः प्रकाशित महत्वाकांक्षी उपन्यास 'सोनामाटी' में समकालीन जीवन-संघर्ष का एक व्यापक और गम्भीर चित्रण है सो उसे महाकाव्यात्मक उपन्यास कहना अनुचित नहीं होगा। ऐसा नहीं कि यह उपन्यास पृथुल एवं विशाल वपु है, वस्तुतः विशाल उसकी कथाभूमि है। यह कथा भूमि करइल अंचल है। (वलिया और गाजीपुर का वह सन्धि भू-भाग जहाँ की मिट्टी काली होने के कारण उक्त भू-भाग 'करइल' कहलाता है। करइल की यह धरती सोना उगलती है।)—लेखक ने भूमिका में लिखा है कि इसका भूगोल अर्थात् करइल अंचल सत्य है परन्तु इतिहास अर्थात् प्रस्तुत कहानी में प्रयुक्त करइल क्षेत्र के उन गाँवों और पात्रों आदि के नाम सर्वथा कल्पित हैं। स्पष्ट है कि कृषि-भूमि करइल को उपन्यासकार ने पृष्ठभूमि वनाया है तो कृषक जीवन ही इसमें केन्द्रीय जीवन है, जिसके चारो ओर सघर्षों और द्वन्द्वों का जाल विछा हुआ है।

कृति का प्रमुख संघर्ष कृषक (उत्पादक वर्ग) का है। इसी के चतुर्दिक दो विचारधाराओं का संवर्ष, दो भूतपूर्व जमींदारों का संघर्ष, दो गाँवों का संघर्ष, पुराने-नये मूल्यों का संघर्ष, सड़क को लेकर रचनात्मक और विध्वंसक दृष्टियों का संघर्ष, पिता-पुत्र और ससुर-दामाद जैसे सम्बन्धों का संघर्ष, गाँव और शहर का संघर्ष, जनता पार्टी और कांग्रेस के संघर्ष से लेकर विद्यालय के अन्तःसंघर्ष, चुनाव के संघर्ष, खेत के डाँड़-मेड़ के संघर्ष, नैतिक संघर्ष और गाँव की राजनीति से प्रभावित विविधवर्णी वैयक्तिक सघर्षों के ऐसे ग्रामभित्तिक चित्रों से उपन्यास समृद्ध है कि भीतर उतरने पर पाठक आत्म साक्षात्कार मे डूब जाता है।

एक ओर विवाह और धार्मिक पूजा-व्रतादि की परम्पराओं का कथा क्रम में ऐसा गुम्फन हुआ है कि उत्तरप्रदेश के पूर्वांचल का सांस्कृतिक रूप तो प्रत्यक्ष हो ही जाता है, दूसरी ओर इस प्रदेश की गरीबी और पिछड़ेपन की द्रावक स्थिति, विरोधाभासी स्थिति का चमत्कार उत्पन्न करती है। 'पूर्वांचल विकास मंच' का संघर्ष, जो उपन्यास में चित्रांकित है आँख खोल देनेवाला है। गरीबी के कोढ़ में खाज की तरह उपजे नक्सली तनाव के रूप को भी कृति में अत्यन्त यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया है। हनुमान प्रसाद, विलास बाबा, सीरी साईं, बोरा और इली जैसे गाँव के अमर क्लैसिकल पात्रों की गम्भीरता और जीवन्तता को ते, विविध ऋतुरंगीनी के बीच खुलती अत्यन्त दिलचस्प कहानी को पढ़ते और

व्यापक राष्ट्रीय जीवनधारा से जुड़ी एक अंचल की ताजी धड़कन का अनुभव करते बारम्बार लगता है कि 'गोदान' और 'मैला अंचल' की कड़ी को पूरा करती इस युग की एक महान् रचनात्मक उपलब्धि 'सोनामाटी' के रूप में सँवर आई है।

'सोनामाटी' के महाकाव्यात्मक औपान्यासिक रूप के निखार में युगीन आदर्शों के सन्दर्भ में पक्ष और प्रतिपक्ष की भूमिकाएँ नितान्त स्पष्ट रूप में उरेही गई हैं। पक्ष यदि अध्यापक रामरूप है तो प्रतिपक्ष करइल अंचल का रावण एक भूतपूर्व भूपति हनुमान प्रसाद है। प्रतिपक्ष के उत्पीड़न पक्ष की द्रावकता कई कारणों से बढ़ जाती है। एक तो वह वर्ग चरित्र है और इतना जटिल कि नातेदारी भी उसके कसाव को ढीला नहीं कर पाती। दूसरे उसमें जो विरोध की मनोग्रन्थि है उसके मूल में एक नारी है। मारे ऐंठन के वह सही बातों को, गलत कोण से सोच जाता है और पक्ष को बारबार गलत समझे जाने की अत्यन्त कचोटपर नियति से उसे जूझना पड़ता है। तीसरे, उसके प्रतिपक्ष की भूमिका को चम प्रदान करते शासन-सत्ता के अधिकतर तत्त्व जुड़ जाते हैं। इस प्रकार संगठि दुश्चक्र पूरे वेग से चलता है और मानवतावादी रामरूप उस चक्र में क्रम से टूटता टूटता अन्त में एकदम टूट ही जाता है। उसके सारे सपने और युगीन आदर्श चूर हो जाते हैं। वह अकेला पड़ जाता है। उसकी इस टूटन में उसके दो चरित्र का भी बहुत बड़ा हाथ है। वह जन्म से तो किसान है परन्तु पेशे अध्यापक अर्थात् मध्यमवर्गीय तथाकथित सफेदपोश शिक्षित व्यक्ति है। यद्य उसके भीतर आदि से अन्त तक किसान और अध्यापक का द्वन्द्व चलता है, पर हर जगह किसान के ऊपर उसका अध्यापक हावी हो जाता है। परिणाम होता है कि वह हर संघर्ष में समझौते की ओर झुकता है। हर संवेदन अवसर पर शंकाशील हो जाता है और प्रतिपक्ष के आगे झुककर अपनी ही दृ में गिर जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ दुर्बलताओं के साथ राम एक महान् व्यक्ति है और उसके पराभव की ट्रेजडी पाठकों को आन्तरिक पर कदम-कदम पर कचोटती चलती है। समकालीन जीवन की लगभग सम भूमि सहित भूमिकाओं को छूते चलने और पक्ष-प्रतिपक्ष से जुड़े विविध मौलि चित्र-चरित्रों की सृष्टि के कारण इस उपन्यास को आधुनिक कृषक संस्कृति महाकाव्यात्मक उपन्यास कहा जाना सर्वथा संगत होगा।

आलोच्य उपन्यास की मुख्य कहानी रामरूप की कहानी है। वह कुछ उदात्त मूल्यों से जुड़ा है और युगीन मूल्यहीनताएँ उसे सब प्रकार से तोड़ती जा रही हैं। इसकी केन्द्रीय कहानी उपन्यास के हर पात्र और उसकी कहानी जुड़ी हुई है। विशेषता वस्तु शिल्प की यह है कि अनेक कहानियाँ पूरे फैलाव मुख्य कथा और अन्य सम्बन्धित उपकथाओं से जुड़ी हुई होकर और अन्त

पूर्णतः समाहृत होकर भी स्वतंत्र कहानी की तरह पाठकीय चित्त पर बैठ जाती हैं। ऐसी कहानियों में सबसे दिलचस्प कहानी है एक वृद्ध विवाह की, बाबू हनुमान प्रसाद और कोइली की। यह कोइली उपन्यासकार की अनूठी सृष्टि है और इसके रूप में नारी तेज को एक नया आयाम मिला है। ऐसे ही नये आयाम सुनरी और कमली की कहानी में हैं। रुपिया की संक्षिप्त पर अतिमर्मभेदी कहानी गरीब नारी की सनातन पीड़ा का दस्तावेज है। 'सोनामाटी' में घसगढ़े गँवार कवि छोरा की कहानी की भी अपनी एक पृथक् दीप्ति है। उत्थान-पतन के अद्भुत ताने-बाने में कसी इस कहानी में सत्ता के दुर्निवार आकर्षण का युगबोध बहुत विचारोत्तेजक है। इसी प्रकार क्लैसिकल पात्र विलास बाबा, गँजेड़ी खुब्बा; टिपिकल पात्र दीवान जी, अनाथ मनीजर और दबे-कुचले किसान सीरी भाई की कहानियाँ अद्भुत ताजगी और सफाई से उभरी हैं। भू-व्यामोह, भू-हड़प और ग्रामशनीचरों के उपद्रव की विविध रोमांचक कहानियाँ दीनदयाल, दुबरी, गजिन्दर, भीम, देमनिया और सालिका के माध्यम से चित्रित हुई हैं। उपन्यास में भारतेन्दु वर्मा स्वयं में एक ऐसी कहानी है जिसमें नगर बोध रेखांकित हुआ है। वैसे इस उपन्यास की कहानी अपना अंचल छोड़कर कहीं तनिक भी नहीं खिसकी है। कथाकार ने विद्यालयों के आधुनिक भ्रष्टाचार की कहानी; गाँव में अधकचरे, अधूरे नक्सलवाद के प्रवेश की कहानी और युवापीढ़ी की दिङ्मूढ़ शिक्षा, बड़बोले जीवन—दर्शन एवं मनबढ़े अराजक और असामाजिक इरादों की कहानी को भी पूरे विस्तार से फ्लैश किया है। नवीन बाबू और कालीबाबू के रूप में आधुनिक भ्रष्ट किसान तथा जमुना प्रसाद और दयानाथ के रूप में आज के भ्रष्ट ग्राम पंच को भी उनके पूरे परिवेश के साथ कथाकार ने नंगा किया है। विश्वविद्यालय के दादा का गाँव पर आकर नेताजी और फिर विधायक हो जाने की दास्तान तो सबसे विचित्र ! और कुल कहानियाँ मिलकर कृति को आज के बदलते गाँव की एक सम्पूर्ण कहानी बना देती हैं।

कथाकार ने उपन्यास के प्रतिपक्ष बाबू हनुमान प्रसाद का जो चित्रण किया है वह आदि से अन्त तक बहुत प्रभावशाली है। अपने ढंग का यह एक, अकेला प्रतिपक्ष है। सबसे अलग "पाँच फुट छह इंच का तना हुआ अधेड़, रंग काला कोलतार, बाल बहुत कम पके-झड़े, मोटे-मोटे सुअरबारा। होंठ और दाँतों को भी शामिल कर लें तो उस साकार जानवर की ठीक एक शकल। अनगढ़ गठे बबूल के कुन्दे-से हाथ-पैर, भालू जैसे बालों वाले। बोलता है तो घोड़े की तरह हिनहिनाता है और घूर कर देखता है तो भूखे गिद्ध की तरह, दूर दृष्टि पक्का इरादा….। अब जाकर निकल आयी है तोंद, देह-बही का श्री रोकड़ बाकी। जूता चमरौधा एक साल का खरीदा, कई-कई सीजन तक नया रहता है। एक थान

दमगर मारकीन में धोती-दुपट्टे का जोड़ा बना जो धोबी का घर देखे बिना साल में बदला जाता है। मिरजई-बण्डी बस जाड़े में। बहुत गर्मी है भीतर शरीर में। मोटी दमदार मिर्जापुरी हाथ में लिये खेतों के बीच से बेरास्ते कहीं लपका हुआ जा रहा है तो भ्रम होता है वह करइल की करिआ माटी उठाकर कहाँ चली? ऐसा वह कृषकासुर, रामरूप का ससुर, करइल का दैन्य, सचमुच साक्षात् करइल।" (पृ०—११) इसके अतिरिक्त बाबू हनुमान प्रसाद को हँकड़कर खोखने के साथ-साथ बात-बात में 'पढ़े फारसी बेचे तेल' कहने की आदत है। सुबह दूध की चाय का शौक है। नशा के नाम पर कोई अमल नहीं। पर जमीन हड़पने, जोरू हड़पने, सत्ता की शान को मुट्ठी में रखने वाली गँवई सरदारी और चौधुराहट की धाक, साख की हँकड़, दाँव-पेच और जोर आजमाइश का एक ऐसा नशा है कि वह उतरने का नाम ही नहीं लेता। बिना नशा के ही इस मारू नशे में वह हमेशा गोताया रहता है। उसके इस नशे को रंग देता है सुग्रीव और दीनदयाल। पड़ोसी गाँव का दीनदयाल तो इतना धाकड़, दबंग और हठआर बानि का हड़पू और जमीनखोर गिद्ध है कि अरियात-करियात में 'पठान' कहलाता है। इन दो शोषक विस्तारवादियों की साठ-गाँठ से अंचल में जो एक अन्याय, अत्याचार, लूट-पाट और अनीति की काली छाया फैली रहती है, उसे देखते उपन्यास के पक्ष वाले नायक पर पाठकों का ध्यान तीव्रता से केन्द्रित हो जाता है, किन्तु उसकी बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग की दमित-शोषित दिङ्मूढ़ और हतवीर्य मानसिकता द्वन्द्वों से बाहर नहीं हो पाती। पूरे उपन्यास में अध्यापक—किसान का द्वन्द्व रामरूप के अन्तर्मन को मथता रहता है। इस प्रकार आज के जीवन के यथार्थ को गँवई जीवन के माध्यम से पहचान प्रदान करने और रेखांकित करने का यह रचनात्मक प्रयास बहुत सार्थक बन गया है।

'सोना माटी' प्रेमचन्द की परम्परा की अद्वितीय कृति है। इसमें कहीं-कहीं लेखक का निबन्धकार उसके कथाकार-उपन्यासकार पर यदि हावी नहीं हो गया होता तो यह सम्पूर्णतः निर्दोष एवं एकमेव कृति हो जाती। विवेकीराय मूलतः निबन्ध-लेखक हैं। एक स्थान पर उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि निबन्धों (ललित, फीचर, स्केच, रिपोर्ताज और डायरी) में जो कहने से रह जाता है, उसके लिए वे कथा साहित्य का माध्यम चुनते हैं। यही कारण है कि समीक्षक उनकी कुछ कहानियों में निबन्ध विधा का अतिक्रमण देखकर खीझते हैं। (यद्यपि विधाओं के परस्पर संक्रमण को सन् १९५० के बाद के साहित्य में स्वाभाविक मानकर स्वीकारा गया है)। पर, आलोच्य उपन्यास में निबन्ध की प्रवृत्ति बहुत नियंत्रित-संयमित लगती है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के पिछड़ेपन की स्थिति कुछ व्रतों और त्योहारों की स्थिति, बदलते हुए जीवन-मूल्यों के साथ सामाजिक-पारिवारिक-

ग्रामीण परिवेश की विषम स्थितियाँ, विवाह की सांस्कृतिक स्थितियाँ, तिलक-दहेज की विरूपता, मुख्य रूप से ये ही कुछ द्रावक-दाहक पारम्परिक स्थितियाँ हैं; जिनकी विस्तृत जानकारी अपने पाठकों को प्रदान करने की छटपटाहट-अगराहट विवेकी राय में है। इसके साथ ही पुस्तक पढ़कर लगता है कि लेखक इस सन्दर्भ में बहुत सजग है कि यह प्रवृत्ति कहीं निबन्ध का रूप न लेने पावे। इसीलिए सारी बातों को, बहुत चुस्त ढंग से चलती हुई कहानी का अंग बनाकर उसे अत्यन्त अनुरंजनकारी अथवा उत्सुकतावर्धक कथात्मक अन्विति देकर प्रस्तुत किया गया है। वे सारे प्रसंग पाठकों पर जो प्रभाव डालते हैं, वे निबन्ध के कोण से नहीं, कहानी के कोण से। इसीलिए एक साँस में पाठक जब पढ़ जाता है, तो उसके आस्वाद के भीतर से उसे अनुभव होता है कि इसमें बहुत कुछ तत्त्व निबन्ध के हैं। यह शिल्प का चमत्कार ही कहना चाहिए कि कथाकार सांस्कृतिक अथवा आंचलिक जानकारी की बहुत सारी बातों को इस प्रकार सहज कथा-प्रवाह में कह देता है। इससे पाठकों को अनुरंजन के साथ कृति में एक मूल्यवान भराव और कसाव की अनुभूति होती है। हाँ, ऐसे स्थल जिनमें उक्त प्रकार की वस्तुनिष्ठ स्थितियाँ हैं, उपन्यास की विशाल कथाभूमि में बहुत ही कम हैं। शेष कहानी बहुत ही सन्तुलित-संयमित रूप से बहुत वेग और चुस्ती से आगे बढ़ती जाती है और अन्त में सचमुच ही उसकी 'बाढ़' जैसी स्थिति हो जाती है।

आलोच्य उपन्यास में नारी पात्रों की उरेह एक विशेष मूल्य दृष्टि से अनुप्राणित होकर हुई है। कमली में परम्परागत पवित्रतावादी समाज-स्वीकृत मूल्य जो अब आधुनिकता के धक्के से कठिनाई से बचा हुआ है। शेष तीन-तीन पात्राओं की कहानियाँ मूल्यहीनता की करुण कहानियाँ हैं। कोइली की कहानी में मानवीय मूल्यहीनता की एक ऐसी स्थिति है जो भ्रष्ट समाज के दबाव से उत्पन्न हुई है। बेटी की शकल में वह एक दलाल के चक्कर में पड़कर क्रय-विक्रय पद्धति पर 'राज सुख भोगने' के लिए क्रम से लगभग आधे दर्जन विवाह के धनी बूढ़ों के यहाँ पहुँचाई जाती है और सब कुछ चुककर समाप्त होते-होते से बँधकर वह सभी प्रकार के सामाजिक मूल्यों का अतिक्रमण कर अद्भुत साहस का परिचय देती है। सुनरी की कहानी में वैयक्तिक मूल्यहीनताएँ चरम सीमा पर पहुँची हुई हैं। उसके भीतर बारम्बार कचोट उठती है कि गरीब माँ की सुन्दर बेटी होना उसके लिए कितना अभिशाप हो गया। गाँव के सम्पन्न और शिक्षित आधुनिक किसान की भोग्या होकर गिरते-गिरते में उस पर नयी उच्छृंखल-अराजक नयी पीढ़ी की लुलुआई नजर उठी तो एक नयी भयानक गिरावट का दौर शुरू हुआ और फिर सुनरी के रूप में नैतिक मूल्यों की सीमातीत दुर्गति दृष्टिगोचर होती है वह पाठकों को एकबारगी झकझोर कर

रख देती है। इसी प्रकार रुपिया के रूप में सामाजिक-आर्थिक मूल्यों का विद्रूप सामने आता है। रुपिया की कहानी छोटी तो है पर गहराई में उतरने वाली है और उससे उत्पन्न चोट बहुत बड़ी और मर्मभेदी होती है। नारीत्व की यह निदारूण नियति जो प्रायः अदेख, अबोल और अलक्षित है, पाठकों के मन पर गरीबी में बिलबिलाती कोटि-कोटि रुपिया की शकलों को खड़ा कर देती है। उपन्यास के मुख्य पात्र की बाल प्रेमिका होकर वह कहाँ—किस गरीबी के नरक में फिंक जाती है और सामाजिक वैषम्य की परतों में दबकर धीरे-धीरे अपनी सा पहचान ही खो बैठती है। वास्तव में रुपिया की सृष्टि भयानक पीड़ा की सृष्टि है। ग्राम युवती जन का यह चौथे स्तर वाला नारकीय गृहस्थ रूप अपने सम्पूर्ण यथार्थ के साथ रुपिया की संकेत-कथा में अद्भुत् कलात्मकता के साथ चित्रांकित हुआ है।

शेष नारी पात्रों में रामरूप और हनुमान प्रसाद के परिवार की नारियों के हैं और ये समूचे चित्र एकदम क्लैसिकल चित्र हैं। हनुमान प्रसाद की पत्नी—बूढ़ी हो जाने पर भी जिन्हें 'मलिकाइन दुलहिन' कहते हैं—एक आदर्श किसान गृहिणी हैं, जिनकी गम्भीरता में उनके पति करइल महाराज की कुटिलता के साथ आधुनिक पुत्र और पुत्रवधू की दूरियां डूब जाती हैं। रामरूप की पत्नी अर्था हनुमान प्रसाद की पुत्री रामकली में अपने दोनों— पिता और पति के—परिवारों की मर्यादा का सन्तुलन है तथा बिगड़ते सम्बन्धों एवं बढ़ती जाती दूरियों के बी वही सेतु बनी रह जाती है। रामरूप की माँ में भोजपुरी संस्कृति की परम उदा विशाल हृदयता, उल्लसित मर्यादित वात्सल्य, विह्वल और आस्थावादी स्नेह माँ का चित्र है। इस प्रकार माँ, पत्नी, पुत्री, बहन और सेविका आदि सम स्वीकृत नारी रूपों के साथ भ्रष्ट, भटकी और पीड़ित-शोषित जैसी नारियों जीवन्त ताजे चित्रों से समृद्ध 'सोनामाटी' में आज के जीवन का जो विशाल चि उभरता है, वह बेहद आकर्षक और यथार्थ हो जाता है।

पैंसठ अध्यायों में फैले इस वृहद् उपन्यास का आरम्भ सितम्बर मास अर्थ भादों और क्वार के सन्धिकाल से होता है, जब बाढ़-बरसात का पानी उ गया रहता है और मार्गहीन करइल क्षेत्र के सम्पूर्ण प्रसार पर चिपकनेवाली गीली लसार मिट्टी का खाँच-पांक और हाँचर जमका रहता है। उपन्यास अन्त में भी लगभग यही काल है, पर अन्तर यह है कि बाढ़ का भीषण पानी महाविनाश के बाद करइल क्षेत्र की धरती पर जमा हुआ है। दोनों ही अवस पर कथानायक रामरूप उस कवि खोरा के यहाँ जाता रहता चित्रित है, जो जीवन के अस्तित्व का प्रमाण है। वह पहली बार पैदल पांक में हाँफ-हाँफ जा रहा है और दूसरी बार भ्रष्टाचार, सामाजिक असुरक्षा, निराशा और असफ

की विनाशकारी बाढ़ में नौका पर काँप-काँप कर जा रहा है। आरम्भ में तो होरा जैसे-तैसे विराजमान मिलता है, परन्तु अन्तिम वार उतने-उतने संकटों से झेलकर पहुँचने के बाद होता क्या है? उत्तर मिलता है कि वह तो लखनऊ गया। और, पाठक एकदम सनाका खा जाता है। उपन्यास के अन्त का यह एक संक्षिप्त वाक्य एक ओर तो इस उपन्यास का अतिचुस्त क्लाइमेक्स हो जाता है और दूसरी ओर चलती कहानी के पूर्ववर्ती प्रसंगों के साथ जुड़कर ग्राम जीवन के पूर्णतः उद्ध्वस्त और पराश्रित नगर नियंत्रित हो जाने की पक्की मुहर बन जाता है।

स्पष्ट है कि उपन्यास में कुल एक वर्ष का समय लिया गया है। अब उपन्यास को उठाते ही जैसे वर्ष का जलूस कार्तिक की बोआई से शुरू हो जाता है। कहानी को आगे की जिज्ञासाओं और विविधवर्णी कौतूहल की धार देकर अत्यन्त आकर्षक तो आरम्भ में ही बना दिया जाता है, अब इस मुख्य कथा के इर्द-गिर्द मौसम की गन्ध और ऋतुओं की रंगीनियाँ बिखरती चलती हैं। सरकते समय के साथ शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त आदि के अहसास, भारतीय कृषक जीवन के ऋतु आश्रित जीवन के परिप्रेक्ष्य और हर्ष-विषाद, आशा-निराशा तथा अनुरजन-आतंक के खुलते आयाम वास्तव में बहुत ही गहमागहमी भरे होते हैं। इस गहमागहमी में ग्राम जीवन के बीच से चलती पाठकों की इस औपन्यासिक यात्रा में वास्तव में महत्व के विन्दु वे बदलाव होते हैं जो परम्परावादी जैसे लगनेवाले गाँव में विस्फोटक तत्त्व बनकर उभरते हैं। स्मगलिंग, हिंसा, बैलों की चोरी, नक्सलवादी हौआ, चोरबाजारी, बाल अपहरण, भ्रष्टाचार, पार्टी-बन्दी, युवा अराजकता, गुंडई, नंगई, कच्ची फसल का विनाश, राजनीतिक विरोध, लूटपाट, अफसरशाही, विकास का खोखलापन, चुनावी भ्रष्टाचार, बूथकैप्चर, बम-विस्फोट, हड़ताल, सूखा, वोटों की खरीद-बिक्री, जातिवाद, गोलीकाण्ड, पुलिस जुल्म, डकैती, नेताशाही, अखबारी लड़ाई, ट्रैक्टर को बलान्नयन, घेराव, ज्योतिष और साधुता का राजनीतिकरण तथा संस्था के नाम पर अनुदानखोरी आदि ऐसे ही विन्दु हैं जो बदलते गाँव की आधुनिकतम पहचान को प्रस्तुत करते हैं। यह पहचान इतनी मौलिक और प्रामाणिक है कि इसे विवेकी राय जैसा गाँव के जीवन से जुड़ा व्यक्ति ही इतने चटक रूप में प्रस्तुत कर सकता है। वास्तवं में विवेकी राय के कथाकार की यही प्रमुख पहचान है। संतुलित-संयमित और आकर्षक कथा-संयोजन, भाषा-शिल्प के जादुई निखार और लोक-जीवन के अन्तरंग में प्रवेश के साथ सम्पूर्ण भारतीय जींवन के परिप्रेक्ष्यों को प्रस्तुत करने की कलात्मक क्षमता के सन्दर्भ में वे बेजोड़ हैं। इन्हीं सब कारणों से डॉक्टर गोपाल का कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है।

"प्रेमचन्द का 'गोदाव' ग्रामीण जीवन पर लिखा सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है। उसके बाद नागार्जुन, रेणु, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, श्रीलाल शुक्ल और स्वयं विवेकी राय ने, जिनका नया उपन्यास 'सोनामाटी' बिलकुल टटका-टटका प्रकाशित हुआ है, आजादी के बाद के बदलते हुए ग्रामीण जीवन को कला रूप में बाँधने के प्रयास किये हैं और उनमें से कुछ को पर्याप्त सफलता भी मिली है। पर विवेकी राय के 'सोना माटी' का प्रकाशन— यह बात मैं पू उत्तरदायित्व और प्रमाण के साथ कह रहा हूँ—'गोदान' के बाद ग्राम जीवन पर आधारित उपन्यासों की परम्परा में एक 'घटना' या 'मील का पत्थर' है। 'गोदान' के बाद ग्रामीण जीवन पर आधारित जिन उपन्यासों की विशेष चर्चा हिन्दी में हुई है उनमें 'बलचनमा', 'मैला आँचल' और 'राग-दरबारी' प्रमुख हैं। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि 'सोना माटी' संवेदना अनुभूति, विजन, शिल्प और भाषा की दृष्टि से इन सभी उपन्यासों से बढ़कर है और 'गोदान' की परम्परा में द्वितीय सर्वश्रेष्ठ रचना है।" ['समीक्षा' अप्रील—जून, १९८३ पृष्ठ-१]

हम विवेकी राय की औपन्यासिक कृति 'सोना माटी' का हार्दिक स्वागत करते हैं; और आशा करते हैं कि भविष्य में उनके और कृतिदीप्त उपन्यास प्रकाश में आएँगे। हम यह मानते हैं कि 'सोनामाटी' विवेक राय की कथा-यात्रा का अन्त नहीं, प्रारम्भ है। यश के और उदग्र शिखर-कृति की प्रतीक्षा में हैं। □

=२=

ए कम्परेटिव स्टडी ऑव सफिक्सेज इन ओरिया एण्ड भोजपुरी

उत्कल विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० चन्द्रसेन कुमार जैन ने पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत अपने इस शोध प्रबन्ध दो पड़ोसी भाषाओं के लगभग सभी प्रत्यय रूपों के निर्माण, स्रोत, प्रयोग और अर्थतत्व पर विस्तृत, गम्भीर और खोजपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किया है। विशेष रूप से भोजपुरी प्रत्ययों के अध्ययन की दृष्टि से यह प्रथम सांगोपांग अध्ययन माना जा सकता है। उदाहरणों का सांख्यिक विवरण देकर विद्वान् लेखक ने दोनों भाषाओं में विभिन्न प्रत्ययों की सापेक्षिक व्यापकता का परिचय प्रस्तुत कर इसका महत्व प्रतिपादित किया है और साथ ही इसकी प्रामाणिकता बढ़ा दी है। भोंजपुरी ही नहीं सभी भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन में रुचि रखने वाले विद्वानों के लिए यह संग्रह करने योग्य कृति है। भारतीय भाषाशास्त्र के क्षेत्र में एक अर्थपूर्ण, साहसिक और सराहनीय प्रयास के लिए डॉ० जैन बधाई के पात्र हैं।

=३=

'शेष-निःशेष'

☐ सम्पादक

'उर्वशी' महाकाव्य पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलने का समाचार प्रकाश में आया। इस समाचार से बच्चन जी प्रसन्न हुए और निर्णय का स्वागत करते हुए उन्होंने कहा, 'दिनकर की बहुआयामी प्रतिभा के लिए यह पुरस्कार अत्यल्प है। यह पुरस्कार तो दिनकर के कवि की स्वीकृति-पुरस्कृति है। दिनकर को अभी तीन और ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलने चाहिए। दिनकर एक सिद्ध गद्य लेखक हैं। एक ज्ञानपीठ पुरस्कार उनके गद्य लेखन पर मिलना चाहिए। वे एक तेजस्वी वक्ता और विदग्ध वाग्मी हैं। उनकी वाग्मिता पर दूसरा पुरस्कार मिलना चाहिए। वे राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रबल पक्षधर, प्रचारक और एकनिष्ठ सेवक हैं। उनकी अप्रतिम हिन्दी सेवा पर तीसरा ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलना चाहिए।'

कवि बच्चन की शुभाशंसा के अनुरूप दिनकर जी को तीन और भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार नहीं मिले, यह बात अलग है। लेकिन दिनकर एक सिद्ध गद्य लेखक, ओजस्वी वक्ता और व्रती हिन्दी सेवक थे, इसका प्रमाण हमें 'शेष-निःशेष' से मिल जाता है।

'शेष-निःशेष' संस्मरण, भूमिका-समीक्षा, भाषण और भेंटवार्ता का एक मनोज्ञ संकलन है। संकलन की विशेषता यह है कि इसका आभोग एकत्र पुस्तकाकार कहीं प्रकाशित नहीं है। अभिनन्दन ग्रन्थ, विविध ग्रन्थों की भूमिका, संसद अभिलेख (रेकर्ड) और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं से दुर्लभ प्रकाश्य सामग्री का संकलन 'शेष-नि.शेष' में किया गया है और यह एक समयसाध्य, श्रमसाध्य और अर्थसाध्य कार्य है।

इस संकलन के प्रवेश पर अद्यावधि अप्रकाशित दिनकर के स्वलेख की छायाप्रति के रूप में उनकी अपनी सम्पत्ति का 'वसीयतनामा' है। यह 'वसीयतनामा' दिनकर जी की मर्मव्यथा का एक जीवन्त दस्तावेज है।

संकलन के सम्पादक श्री कन्हैया लाल फूलफगर ने ग्रन्थ को पाँच खण्डों में विभक्त किया है। लेख शीर्षक प्रथम खण्ड में महात्मा गाँधी, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, के० एम० मुंशी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रायकृष्ण दास, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी', जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', हनुमान प्रसाद पोद्दार, सीताराम सेकसरिया, गोपालि प्रसाद व्यास प्रभृति १५ महापुरुषों, नेताओं, साहित्यकारों और समाज सेवियों का पुण्य स्मरण करते हुए दिनकर जी ने

जो श्रद्धा, स्नेह, सम्मान और हार्दिक उद्‌गार व्यक्त किया है, वह क्षिप्र होते हुए भी अत्यधिक मूल्यवान् हैं। दिनकर की प्रवृत्ति दोष-दर्शन की नहीं है, वे सर्वत्र गुणों पर रीझते दिखाई देते हैं।

द्वितीय खण्ड (भूमिका-समीक्षा) में इतस्ततः प्रकाशित वीस पुस्तकों की भूमिकाएँ, तीन समीक्षाएँ और एक स्फुट चिन्तन है। द्वितीय खण्ड की भूमिका-समीक्षा में दिनकर के मनोभिनिवेश की साक्षी हैं। दिनकर का सृजनधर्मी मनीषी साहित्यकार सतत् सावधान है और तेजस्वी समीक्षक समीक्षा के दायित्व निर्वाह में सदा जागरूक है। सो भूमिका-समीक्षायें सम्वन्धित पुस्तक के मर्म का उद्‌घाटन करने में सर्वथा सक्षम हैं। दिनकर की शैलीगत विशेषता फैलने की नहीं, निरन्तर गहरे उतरते जाने की है।

विभिन्न पुस्तकों, दुर्लभ-अप्रकाशित दस्तावेजों और पत्र-पत्रिकाओं की खोज कर भूमिका-समीक्षा एकत्र करने का श्लाघ्य अध्यवसाय इस ग्रन्थ के सम्पादक श्री कन्हैया-लाल फूलफगर ने किया है। भूमिका-समीक्षा के साथ ही गोस्वामीं तुलसीदास से सम्बन्धित एक लेख भी द्वितीय खण्ड के अन्त में संकलित है। अपने प्रिय कवि तुलसीदास के उपकार का स्मरण-चिन्तन करते हुए दिनकरजी के मन में जो विचार-कण आए, वही इस लेख में ग्रथित हैं। लेख नहीं कहकर इसे स्फुट चिन्तन ही कह सकते हैं। लेकिन ये स्फुट चिन्तन प्रखर हैं और हैं पारदर्शी।

'शेष-निःशेष' के तृतीय खण्ड में २८ भाषण संकलित हैं। ये भाषण दीक्षान्त समारोह, राज्य सभा, साहित्य सम्मेलनों और शैक्षिक-सांस्कृतिक संस्थाओं-परिषदों के उद्‌घाटन समारोह में दिए गए हैं। इन भाषणों का मुख्य स्वर शिक्षा, संस्कृति, देश और भाषा है।

दिनकर अपने युग के सर्वमान्य ओजस्वी वक्ता थे। राज्य सभा के भाषणों में दिनकर का तेज अपनी पराकाष्ठा पर है। इन भाषणों में ओजस्विता की विदग्धता के साथ-ही-साथ प्रखरता, व्यंग्य, कटाक्ष और प्रतिपक्ष पर कशाघात है। और विशेषता यह कि दिनकर का कवि-व्यक्तित्व सर्वत्र छाया है, जिससे सम्प्रेषण तीव्र तो होता है, किन्तु कटु और विषदग्ध नहीं हो पाता। स्वदेश और स्वभाषाभिमानी दिनकर के भाषणों में राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की अस्मिता की मर्मव्यथा मुखर हुई है। भाषणों में तर्क की धार है, वैचारिक सम्पत्ति है, एक वेग और एक झपट है; एक कसक, एक छटपटाहट, एक आकुलता और अन्तर्दाह है।

भाषा के नाम और देश की एकता पर पड़नेवाली गहरी चोट पद-पद पर अनुभव करते हुए दिनकर दिखाई देते हैं। राज्य सभा के अपने एक भाषण में दिनकर

इस चोट की गवाही देते हुए कहा, "मैं देश की एकता के लिए सब प्रकार का अनादर सहने को तैयार हूँ ।"

दिनकर के भाषण में न कहीं विचिकित्सा और वदतोव्याघात है और न कहीं संकोच या विभ्रम । दिनकर 'भिक्षां देहि' की दीन भाषा बोल नहीं सकते । प्रणत भाषा के अभ्यस्त नहीं, वे प्रणदन के विश्वासी हैं—

"सुनूँ क्या सिन्धु ! मैं गर्जन तुम्हारा,
स्वयं युगधर्म का हुंकार हूँ मैं ।।"

दिनकर क्रान्तदर्शी कवि, मनीषी साहित्यकार, सुधी चिन्तक और वदान्य युग पुरुष हैं । विश्वास के साथ 'युगधर्म' बोलते हैं, इसलिए वे कहीं हततेज नहीं हैं । प्रखर वह शब्द है, जो दिनकर के व्यक्तित्व-कृतित्व और उनके भाषण में सर्वत्र छाया रहता है । बात-बात में गम्भीर बात कह जाना और समय की शिला पर अमिट लेख लिख जाना दिनकर की अपनी छवि है ।

'उर्वशी' पर भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा आयोजित पुरस्कार समर्पण समारोह के अवसर पर दिनकर ने अपनी जय यात्रा के पाथेय का रहस्य बताते हुए एक मार्मिक भाषण दिया था । वह भाषण 'शेष-निःशेष' में संकलित है । अपने इस भाषण में दिनकर ने कहा है —

० "रस का साहित्य आप सिर्फ अपनी भाषा में लिख सकते हैं ।"

०० "भगवान ने मुझे पच्चीकारी के औजार नहीं दिये । यानी, उन्होंने छेनी नहीं दी, हथौड़ी नहीं दी, कूची नहीं दी । उनके भण्डार में एक मोटा सा हथौड़ा पड़ा हुआ था, वही उठाकर उन्होंने मुझे दे दिया, और कहा—"जा, इस हथौड़े से तू पहाड़ों के पत्थर तोड़ेगा । और तुम्हारे तोड़े हुए पत्थर, काल के समुद्र की छाती पर फूल के समान तैरेंगे ।"— (पृ० ३७१)

००० "मैं रन्दा लेकर काठ को चिकनाने के लिए नहीं आया था, मेरे हाथ में कुल्हाड़ी थी और मैं जड़ता की लकड़ियों को फाड़ रहा था ।" (पृ० ३७२)

०००० "पूर्व इसके कि युग की बीमारी अपनी हस्ती का ऐलान करे, कवि को चाहिए कि वह युग से कह दे कि तुम बीमार हो, या बीमार होने वाले हो ।" (पृ० ३७४)

अपने भाषणों में भी कवि दिनकर अपनी इसी तेजस्विता और प्रखरता के साथ 'युग धर्म का हुंकार' करते और अपने 'कवि धर्म' का पालन करते दिखाई देते हैं ।

संकलन के चतुर्थ खण्ड में भेंट-वार्ता की एकादशी संकलित है । ये भेंट-वार्ताएँ

और साक्षात्कार कवि दिनकर की विचार-सरणि, मनःस्थिति, उनके जीवन-दर्शन, अन्तरंग और हार्द को समझने में सहायक हैं। दिनकर की सृजनधर्मिता को उनकी मानसिकता के परिवेश में समझने के लिए इन भेंट-वार्ताओं का विशेष महत्व है।

पञ्चम खण्ड में लेखा-जोखा है। लेखा-जोखा यानी प्रकीर्णक। इस प्रकीर्णक में दिनकर : जीवन झांकी, दिनकर : रचना-संसार, दिनकर : साहित्य आदि के साथ 'शेष-निःशेष सामग्री स्रोत' का एक सम्यक् विहङ्गावलोकन है। शोधार्थियों के लिए इस 'लेखा-जोखा' का विशेष महत्व है।

प्रसिद्ध आलोचक डॉ० विजयेन्द्र स्नातक की ३१ पृष्ठों की गम्भीर भूमिका, सम्पादक श्री फूलफगर के दिनकर-प्रेम की साक्षी ११ पृष्ठीय 'अपनी बात', आवरण पृष्ठ के उपान्त के प्रथम पक्ष पर दिनकर के प्रखर व्यक्तित्व को दीप्ति के साथ प्रस्तुत करने वाले प्रसिद्ध कथाकार-विचारक जैनेन्द्रजी की आशंसा और अपर पक्ष पर दिनकर की बहुमुखी प्रतिभा को उजागर करनेवाली प्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक—हिन्दी सेवक, साहित्यवाचस्पति श्री गंगाशरण सिंहजी की संस्तुति इस ग्रन्थ की विशेष सम्पत्ति हैं।

दिनकर जी के स्वर्गवास के उपरान्त श्री कन्हैयालाल फूलफगर ने मित्र परिषद्, कलकत्ता से 'दिनकर स्मृति अंक' का सम्पादन किया, दिनकर शोध-संस्थान ८१/२ ई, विधान सरणी, कलकता-४ से 'दिनकर के पत्र' का प्रकाशन-सम्पादन और अब 'शेष-निःशेष' का सम्पादन।

श्री कन्हैयालाल फूलफगर ने हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि के साथ ही दिनकर साहित्य के प्रेमियों का अमित उपकार किया है। इसमें संशय नहीं कि दिनकर साहित्य के प्रेमियों और शोधार्थियों के बीच फूलफगर जी का नाम सदैव आदर और सम्मान के साथ स्मरण किया जाएगा।

'शेष-निःशेष' की इस महत्वपूर्ण प्रस्तुति के लिए सम्पादक और संकलक श्री कन्हैयालाल फूलफगर को हार्दिक बधाई। □

समीक्षित ग्रन्थ

१. 'सोनामाटी' ले० विवेकी राय, प्र० प्रभात प्रकाशन, २०५ चावड़ी बाजार दिल्ली-६, प्र० सं० १९८३, आकार डिमाई, पृ० सं०—४६४, सजिल्द, मू० ६०/०

२. 'ए कम्परेटिव स्टडी ऑव सफिक्सेज इन ओरिया ऐन्ड भोजपुरी' ले० डॉ० चन्द्रसेन कुमार जैन, प्र० पूर्वाञ्चल प्रकाशन, बूढ़ी ठाकुरानी, कटक-२, प्र० सं०—१९८०, पृ० सं० ४५०, सजिल्द, मूल्य—८५ रु०; डाक व्यय पृथक्।

३. शेष-निःशेष, सं०—कन्हैयालाल फूलफगर, प्र० पूर्वोदय प्रकाशन, ७/८ दरिया-गंज, नई दिल्ली—२, प्र० सं० १९८५, आकार डिमाई, अठपेजी, पृ०सं० ४६२ साज-सज्जा सुदर्शन, सजिल्द, मूल्य—१५०/०० □

मैथिली और खड़ी बोली

□ शीलभद्र साहित्यरत्न

अब तक मैथिली भाषा की गिनती हिन्दी (खड़ी बोली) के अन्तर्गत एक विभाषा या 'बोली' के रूप में होती रही है। परन्तु मैथिली मेरी दृष्टि में एक अत्यन्त ही सशक्त भाषा है। इसकी श्लक्षणता-संश्लेषणात्मकता और विलक्षणता कई दृष्टियों से प्रशंसनीय है। 'खड़ी बोली' का मूलाधार मेरठ-दिल्ली के आसपास की भूमि है। खड़ी बोली में कारक चिह्नों के प्रयोग अलग से होते हैं। संज्ञा, सर्वनाम, लिंग, वचन आदि में उसके अपने नियम हैं। मैथिली में विभक्तियों का प्रयोग अलग से नहीं, उसी में मिलाकर होता है। बंगला के समान। मैथिली की तिरहुता लिपि बंगला से मिलती जुलती है।

खड़ी बोली से भी मैथिली का गद्य-साहित्य अधिक प्राचीन है। विद्यापति के प्रपितामह ज्योतिरीश्वर ठाकुर का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'वर्णन रत्नाकर' या 'वर्ण रत्नाकर' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

विद्यापति वैसे तो संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ट (पूर्वी-प्राकृत मिश्रित) और मैथिली चारों ही भाषाओं के कवि हैं तथापि उनकी 'पदावली' मैथिली की अपूर्व निधि है। विद्यापति ने लिखा है।

"सक्कय वाणी बहुअन भावई। पाउअँ रस को मम्म न पावई।।
देसिल बयना सभजन मिट्ठा। तें तैंसन जम्पौ अवहट्ठा।।"

मेरी दृष्टि में खड़ी बोली और मैथिली में जो अन्तर है—वह उसके 'पश्चिमीपन' और 'पूर्वीपन' का सूचक है। यही पार्थक्य दोनों के उच्चारण में भी है। खड़ी बोली में 'खारापन' और 'खड़ापन' दोनों है। मैथिली में उच्चारण करते समय बंगला की तरह मुँह गोल हो जाता है और 'मुखसुख' के कारण शब्दों के उच्चारण में भी कुछ लचीलापन और गोलाई आ जाती है। जैसे हिन्दी के 'मन' शब्द का उच्चारण मैथिली में 'मोन' जैसा होता है।

दूसरा उच्चारण जनित भेद यह है कि खड़ी बोली में प्रायः दीर्घान्त शब्द होते हैं। इसके विपरीत 'लघ्वन्त' (लघु+अन्त=लघ्वन्त) उच्चारण मैथिली में होता है। खड़ी बोली में 'माटी-पानी' कहते हैं। इसका उच्चारण मैथिली में लघ्वन्त 'माटि-पानि' होता है, 'माटी-पानी' नहीं। खड़ी बोली में दाल कहते हैं और मैथिली में 'दालि' कहते हैं।

एक और अन्तर खड़ीबोली और मैथिली में यह है कि बंगला की तरह मैथिली समास प्रधान भाषा है। खड़ी बोली व्यास प्रधान (प्रकृतितः व्यास शैली) भाषा है। मैथिली में विभक्ति शब्द का अंग बनकर उसमें सट जाती है, खड़ी बोली में

विभक्ति शब्द से विभक्त ही रहती है। खड़ी बोली हिन्दी की विभक्ति का 'सटाऊ'-'हटाऊ' आन्दोलन प्रसिद्ध ही है। 'सटाऊ' के पक्षधर पं० प्रतापनारायण मिश्र की 'हटाऊ' के पक्षधरों से धुआँधार बहस चली थी। 'हटाऊ' के दिग्गज पक्षधरों में हिन्दी के पाणिनी आचार्य किशोरीदास वाजपेयी भी हैं। सटाऊ पं० प्रतापनाराय मिश्र की चली नहीं। चली 'हटाअउओं' की ही और इन 'हटाउओं' की ही हिन्दी में चल रही है। यों 'आज' ऐसा विशिष्ट-प्रतिष्ठित दैनिक आज भी पं० प्रताप-नारायण मिश्र की 'सटाऊ' नीति का निष्ठापूर्वक पालन करता जा रहा है। लेकि 'हटाऊ' के धूमगर्ज्जर में 'आज' की 'सटाऊ' निष्ठा की बिसात ही क्या है। खड़ीबोली में दुरंगी चाल ही चलेगी (जमाना ही ऐसा है।) संज्ञापद के सा 'हटाऊ' और सर्वनाम के साथ 'सटाऊ' की दुरंगी नीति। यथा—'यह राम क घर है। वह तुम्हारा घर है। वह उसका घर है। आदि।

मैथिली में खड़ीबोली की अपेक्षा कोमलता अधिक है। खड़ीबोली के 'ड़' बदले 'र' और कहीं-कहीं 'र' के स्थान पर भी मैथिली में 'ल' हो जाता है।

पंजाबी भाषा के लिये मैंने एक सूत्र बनाया है कि पंजाबीणत्व-द्वित्व-न वचनान्त भाषा है। मैथिली अपनी उच्चारण-सुकरता-सुकोमलता और 'लघ्वन्तत एवं 'गोलापन' के लिए विख्यात है। विनिमओ = विनय करता हूँ, समदओ = सम्बोधन करता हूँ।—जैसी सामासिकता के लिये मैथिली प्रसिद्ध है। क्रियापद भी सामासिकता की मैथिली में बहुलता है, जो उसकी समृद्धि का सूचक है। जैसे—

☐ अहाँ हुनका मारलिऐन—बड़े ने बड़े को मारा।
☐ ओ अहाँके मारलन्हि—बड़े ने बड़े को मारा।
☐ तों हुनकां मारलहुन—छोटे ने बड़े को मारा
☐ ओ तोरा मारलखुन—बड़े ने छोटे को मारा।
☐ तो ओकरा मारलहिन—छोटे ने छोटे को मारा।

इसमें सन्देह नहीं कि मैथिली मधुर; और मोहन भाषा है। मैथिली सम्पत्ति पर खड़ी बोली हिन्दी का गर्व स्वाभाविक ही है।

लेकिन दुःख है कि इस भाव सम्पदा के अधिकारी मैथिल भाषी विद्वान् " जानीं सीता ना जानी मीता—हमरा त लागल बाटे पेटे के चिन्ता" की क्षुद्र स्वा बुद्धि से प्रेरित होकर 'उतरि भुइयां बइठीं, निहुरि गोड़वा लागीं' की नीति अनुसरण कर रहे हैं। उनकी इस क्षुद्र स्वार्थ बुद्धि से राष्ट्र और राष्ट्रभाषा हि का अहित हो रहा है।

मुझे विश्वास है कि मैथिलभाषी विद्वान् मैथिल क 'यात्री' के आदर्श अनुगमन करते हुए हिन्दी के 'नागार्जुन' बनकर राष्ट्रभाषा हिन्दी की अनमोल से करेंगे। ☐

प्रेरक साधक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

☐ डॉ० अनिल कुमार 'आंजनेय'

पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी एक ऐसे महापुरुष का नाम है, जिसकी तुलना का दूसरा पुरुष इस समय दिखाई नहीं देता। आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य पं० पद्म सिंह शर्मा आदि साहित्यकार निर्माता मनीषियों की जो परम्परा चली आ रही थी, उसकी वे स्मृतिशेष अन्तिम कड़ी थे। साहित्य क्षेत्र में उन्होंने कभी अपनी चिन्ता नहीं की। सदा दूसरों को प्रेरित करते रहे, प्रोत्साहित करते रहे, अनुकूल अवसर और मंच देते रहे। इतना ही नहीं साधना के पथ पर अलसाती प्रतिभा को झकझोर कर जगाते भी रहे। उन्हें प्रेरक साधक कहना सर्वथा उचित है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की प्रतिभा को पहचानने वालों में वे अग्रणी थे। प्रतिभा के सृजनसंस्कार में उनका उत्साह स्पृहणीय था। यह उत्साह और यह उदारता आज विरल है। लोक-मंगलकारी प्रतिभा को वे उन्मुक्त हृदय से स्वीकार करते थे और सम्मान देते थे। परहित-चिन्तन उनका स्वभाव ही था।

"परहित बस जिनके मन माहीं।
अस नरवर थोरे जग माहीं।।

गोस्वामी तुलसीदास जी का यह कथन उनपर पूर्णतया घटित होता है। वे बड़े ही संवेदनशील पुरुष थे। असहायों के संबल और उपेक्षितों के मसीहा थे। तोताराम सनाढ्य के मुँह से प्रवासी भारतीयों की व्यथा-कथा सुनकर वे द्रवित हो उठे थे। उन्होंने 'फीजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' लिखकर प्रवासी 'गिरमिटिहा' भाइयों के दुःख-दर्द से देश को परिचित कराया तथा गाँधीजी का ध्यान आकर्षित कर प्रवासी भारतीयों के उद्धार का अभियान चलाया। इसके लिए मारीशस, फीजी और अफ्रीकी देशों की यात्राएँ की।

अल्हड़ और बेपरवाह व्यक्तित्व था, स्वभाव में मस्ती थी और वाणी में थी विश्वास की आनन्द ज्योति। चश्मे के आर-पार हेरती आँखों में एक ओर अतीत के प्रति श्रद्धा थी तो दूसरी ओर आगत (वर्त्तमान) का स्वागत और अनागत (भविष्य) की आतुर प्रतीक्षा। अपने से बेपरवाह, बेखबर, अस्त-व्यस्त भारी-भरकम शरीर ! थे तो योजनाधनी लेकिन अपनी कोई योजना नहीं।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और दीनबन्धु एन्ड्रूज आदि महापुरुषों का उन्हें स्नेह प्राप्त था। वे महात्माजी के सान्निध्य में रह चुके थे। महात्माजी में उनकी श्रद्धा भी थी। लेकिन आश्रम के अनुशासन में नहीं रह सके। घड़ी बराबर साथ रही लेकिन घड़ी से बँध नहीं सके। घड़ी की सूई के निर्देश से वे चल नहीं सके, चल भी नहीं सकते थे। स्वभाव से वे अराजकतावादी थे। निर्बन्ध व्यक्तित्व था उनका। समय चक्र से चालित योजनानुरूप नियमित वे कार्य नहीं कर सकते थे।

मन की मौज में काम करते थे। और, उनके मन की मौज ऐसी कि कार्य क्षेत्र का सन्धान होता रहा, जीवन के प्रति आस्था बनी रही और वे कभी निष्क्रिय नहीं हुए। उनका कर्म क्षेत्र व्यापक था। 'नमो ज्येष्ठाय' उनका धर्म था, 'कामिल इं इबादत' उनका व्रत था और 'परिप्रान् भर कौन्तेय' उनका अनुष्ठान था। 'महा पुरुषों की खोज' में उनकी अनथक जीवन यात्रा चलती रही।

चतुर्वेदीजी ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। ऐसे कार्य जिनकी अनुगूंज स उनकी याद दिलाती रहेगी। यहाँ उनके सभी कार्यों पर प्रकाश डालना तो सम्भव नहीं है। किन्तु उतके व्यक्तित्व-कृतित्व विश्लेषक कुछ विशिष्ट कार्यों पर प्रका डालना आवश्यक है। चतुर्वेदीजी के महान् कार्यों की सूची में एक कार्य क्रान्ति कारियों और शहीदों का श्राद्ध है। इस श्राद्ध कार्य में उन्होंने अपने जीवन अनमोल पच्चीस वर्षों की आहुति दी। लेख लिखकर, पत्र लिखकर, पत्रिका के विशेषांक निकालकर, पुस्तकें लिखकर, शहीदों की जीवनी की भूमिका लिखकर शहीदों की आत्मकथा का सम्पादन कर आपने क्रान्तिकारियों-शहीदों के यश को उजाग किया। अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद की माताजी को और अनेक शहीदों के प वार वालों को आपने पेन्शनें दिलाईं और उनकी सहायता की। वे क्रान्तिकारियों आश्रयदाता थे। अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद की माताजी चतुर्वेदीजी के कई बार आतिथ्य स्वीकार कर चुकी थीं। एक बार तो माताजी ने १४ दि तक चतुर्वेदीजी का आतिथ्य स्वीकार कर उनके घर को पवित्र किया।

चतुर्वेदीजी ने केवल हिन्दी-सेवा ही नहीं की; हिन्दी-सेवा का अलख भी जगाया।

रेखाचित्र और संस्मरण लेखक के रूप में वे सदा स्मरणीय रहेंगे। 'रेखाचित्र 'संस्मरण' और 'हमारे आराध्य' उनकी अमूल्य कृतियाँ हैं। 'महापुरुषों की खोज' उनकी आत्मकथा है। उनके निबन्ध अनूठे हैं। उनमें उनकी मौलिक सूझ उनके गाढ़े अनुभव के दर्शन होते हैं।

वे योजनाधनी थे। वसन्तोत्सव मनाने की योजना, जनपदीय भाषाओं उद्धार की योजना, घासलेटी साहित्य के वहिष्कार की योजना, हिन्दी साहित्य प्रचार की योजना, शहीदों के श्राद्ध की योजना, स्वस्थान प्रेम की योजना और वृक्ष प्रेम की योजना। योजनाओं के साथ चतुर्वेदीजी का नाम इतना घुल-मिल गया है कि नागार्जुनजी ने उन्हें 'योजना बिहारी महास्थविर' की उपाधि ही डाली थी।

अपने लेखों, सम्पादकीय, टिप्पणियों गश्ती चिट्ठियों और पत्रिकाओं द्वारा उन्होंने अपनी योजना को आन्दोलन के रूप में चलाया। एक चेतना जगाई, जागृति और एक स्पन्दन उन्होंने लाया। हिन्दी जगत् को हिलाकर रख दिया और अपने हिले नहीं। वे अडोल रहे। मन में किसी तरह की कुण्ठा और ग्रन्थि नहीं, कोई हिंसा, जुगुप्सा और कुत्सा नहीं।

सम्पादन कला के तो वे आचार्य ही थे। कहा जा सकता है कि वें जन्मना सम्पादक थे। उनका सम्पादक उनके रोम-रोम में बसा था। जब वे हिन्दी पत्रकार संघ के अध्यक्ष थे, पत्रकारों के प्रशिक्षण की योजना उन्होंने बनाई। वे पत्रकारिता के क्षेत्र में श्रीनिवास शास्त्री, सी० वाई० चिन्तामणि, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, गणेश शंकर विद्यार्थी और बाबूराव विष्णु पराड़कर की परम्परा के पत्रकार थे। पत्रकार के उत्तरदायित्व के प्रति वे सदा सजग रहते थे और उस गुरुतर दायित्व को सच्चाई से निबाहते थे। उन्होंने जिसे उचित समझा, उसे कहने में कभी संकोच नहीं किया। निर्भय होकर, उन्होंने सत्य कहा। 'विशाल भारत' और 'मधुकर' के माध्यम से उन्होंने प्रतिभा सम्पन्न नवोदित साहित्यकारों की एक लम्बी कतार खड़ी कर दी। शान्तिनिकेतन और दिल्ली में 'हिन्दी भवन' की स्थापना तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद में कवि रत्न सत्यनारायण कुटीर की स्थापना उन्हीं की श्रम-साधना का फल था।

चतुर्वेदीजी का सर्वथा मौलिक और प्रिय कार्य जनपदीय आन्दोलन है। जनपदीय योजना के वे प्रवर्तक तथा प्राण थे। सर्वप्रथम उन्होंने क्षेत्रीय बोलियों के महत्व की ओर विद्वानों का ध्यान आर्कषित किया था। क्षेत्रीय बोलियों के महत्व से सम्बन्धित उन्होंने 'विशाल भारत' में लेख लिखे और 'विशाल भारत' को क्षेत्रीय बोलियों की वकालत का मंच बनाया। 'मधुकर' का जनपदीय अंक निकाला और देश की सुप्त चेतना में जनपदीय आन्दोलन की एक लहर जगा दी। जनपदीय योजना को क्रियान्वित करने के लिए ही उन्होंने आगरा में ब्रज साहित्य मण्डल की स्थापना की। उन्हीं की प्रेरणा से भोजपुरी आन्दोलन का भी सूत्रपात हुआ और २ मार्च, १९४७ को सीवान में भोजपुरी प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन की स्थापना की गई। उन्हीं की प्रेरणा का परिणाम है कि आज जनपदीय योजना सम्पूर्ण भारत में क्रियाशील है तथा जनपदीय भाषाओं की महत्ववृद्धि हुई है। चतुर्वेदीजी का यह अटूट विश्वास था कि जनपदीय भाषाओं के विकास से हिन्दी का अहित नहीं, हिन्दी का पोषण और संवर्द्धन होगा। वे कहा करते थे कि जनपदीय भाषा हिन्दी की माँ है, जननी है, सौत नहीं। चतुर्वेदीजी जनपदीय योजना के कल्पक-प्रवर्तक के रूप में सदा अमर रहेंगे और बनारसी दास—वासुदेव शरण—राहुल के त्रिवेणी तीर्थ का पुण्य स्मरण जनपदीय आन्दोलन की चेतना को स्फूर्त्त करता रहेगा।

पत्र लेखक के रूप में चतुर्वेदीजी अप्रतिम थे। उन्होंने अपने जीवन में एक लाख से अधिक पत्र लिखे। नीली—लाल स्याही का वे यथास्थान यथोचित प्रयोग करते थे। महत्वपूर्ण अंशों को रेखांकित करते जाते सुस्पष्ट अक्षरों में सुदर्शन पत्र लिखते : सुलेख पर आजीवन ध्यान रहा। पत्र में कहीं लीपा-पोती, काट-पिट और अस्पष्टता का लवलेश नहीं। मौज में आकर वे हिन्दी के साथ अँगरेजी के वाक्य

के वाक्य और अनुच्छेद के अनुच्छेद लिख जाते थे। हिन्दी-अँगरेजी सम्मिलित ऐसे धूप-छाँहीं पत्रों को वे गंगा-जमुनी पत्र कहा करते थे। चतुर्वेदीजी की पत्रलेखन-शैली अपनी थी और मौलिक थी। पत्र उनकी मौज़, अल्हड़ता और आत्मीयता के साथ उनके आन्दोलन और उनकी योजना से स्पन्दित रहते थे। साहित्यिक वैभव का प्रदर्शन करने के लिए, विद्वत्ता से आतंकित करने के लिए अथवा कल्पना लोक में बैठकर स्नेह की शीतल सुखद छुवन से मन गुदगुदाने के लिए उन्होंने वायवी पत्र नहीं लिखे। यह उनका स्वभाव ही नहीं था। वे उपयोगितावादी थे। उपयोगितावादी का यह आशय नहीं कि उनके पत्र कामकाजी होने के कारण नीरस होते थे। चतुर्वेदीजी के जीवन में विनोदवृत्ति का प्राधान्य था और उनकी यह विनोदवृत्ति उनके पत्र को सरस बनाए रहती थी। उनके पत्रों में कहीं हिन्दी के लिए सुझाव होंगे, 'शहीदों के श्राद्ध' के लिए प्रयत्न की चर्चा होगी तो कहीं जनपदीय योजना तथा नये साहित्यिक आन्दोलनों की गर्मी और ताजगी होगी। पत्रों के माध्यम से भी वे जनपदीय योजना का प्रचार-प्रसार करते रहते थे। पत्र लिखकर ही उन्होंने बहुत से विद्यालयों की मुखपत्रिका के जनपदीय विशेषांक प्रकाशि कराए। उनके पास देश-विदेश के महापुरुषों तथा साहित्य मनीषियों के पत्रों क मूल्यवान् संग्रह था। उस संग्रह में रोमा रोलाँ, महात्मा गाँधी, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दीनबन्धु एन्ड्रूज, श्रीनिवास शास्त्री, महावीर प्रसाद द्विवेदी और प्रेमचन्द जैसे महापुरुषों और साहित्य महारथियों के पत्र हैं। इस पत्र-सम्पदा को चतुर्वे जी ने राष्ट्रीय अभिलेखागार, दिल्ली में सुरक्षित करा दिया है। चतुर्वेदी व्यक्ति नहीं संस्था थे। एक संस्था नहीं अपने महान् व्यक्तित्व में वे अने संस्थाओं को समाहित समायोजित किए चलते थे। वे एक जंगम संस्था थे।

कृतज्ञता ज्ञापन महानता का लक्षण है। चतुर्वेदी जी के समान कृतज्ञता ज्ञाप करने वाले कम ही होंगे। जिसने उनकी तनिक भी भलाई की, उसके गुन गाते अघाते नहीं थे। दूसरों के गुण को उजागर करना उनका सहज स्वभाव था। मानवता के पुजारी परम गुण-ग्राहा, अतिशय उदार एक महान पुरुष थे। उन लोक चिन्तन में संकुचित स्वार्थ की भावना छूकर भी नहीं थी। वे राष्ट्र के स भक्त और त्यागवीर पुरुष थे। देहावसान से कुछ ही दिनों पूर्व उन्होंने टीकम स्थित अपनी भूमि—जिसमें महुआ आदि के सैंकड़ों मूल्यवान् वृक्ष थे—सर्वोद आश्रम को दान कर दी और अपनी सम्पूर्ण लेखकीय थाती एवं पुस्तकालय आग विश्वविद्यालय को दान कर दिया।

एक अराजकतावादी होने के नाते चतुर्वेदीजी विचारों की स्वाधीनता पक्षधर थे और अपने सिद्धान्तों में उनकी प्रबल आस्था थी। व्यक्तिगत लाभ लिए उन्होंने कभी अपने विचार की बलि नहीं दी। चर्खे पर विश्वास नहीं होने कारण उन्होंने गाँधीजी से कहकर गुजरात विद्यापीठ की नौकरी छोड़ दी। इस निमंत्रण मिलने पर उन्होंने रूसी राजदूत से कहा कि मैं कम्युनिष्ट नहीं हूँ,

मुझे क्यों बुला रहे हैं। इसी प्रकार चीन जाने की बात भी अस्वीकार कर दी थी। जब वे विन्ध्यप्रदेश से राज्यसभा के सदस्य थे, राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् से स्पष्ट कह दिया था कि मैं जो काम करता हूँ, वह राज्यसभा की मेरी उपस्थिति से अधिक महत्वपूर्ण है। सचमुच उनके कार्य राष्ट्र और समाज के हित में अत्यन्त महत्वपूर्ण एवम् अनुपम हैं। उनकी सूझ-बूझ अद्भुत और कार्य-प्रणाली विलक्षण थी। वे विचक्षण प्रतिभा के धनी थे। उनके सम्पर्ण चिन्तन और क्रियाकलापों का लक्ष्य राष्ट्र, समाज और संस्कृति की रक्षा तथा विकास था।

चतुर्वेदीजी अपने पिताजी को कक्का कहा करते थे। कक्का श्री गणेशीलाल चौबे तथा माताश्री के प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा थी। उनके जन्म पर कक्का ने उनकी जन्मपत्री बनवाई थी। उस समय उनका नाम रखा गया था फतेह सिंह। किन्तु फतेह सिंह नाम अनजाना रह गया और घर का नाम बनारसी दास ही जगत्प्रसिद्ध हो गया।

कक्का अध्यापक थे, अतः चतुर्वेदीजी सम्पूर्ण शिक्षक वर्ग को पूज्य मानते थे। 'मेरे कक्का प्राथमिकशाला के अध्यापक थे', इस बात का उल्लेख चतुर्वेदीजी गर्वपूर्वक किया करते थे। चतुर्वेदीजी का प्रारम्भिक जीवन शिक्षक के रूप में ही प्रारम्भ हुआ था। आगरा कॉलेज से आपने इन्टर किया और पहले अपने जन्म स्थान फिरोजाबाद के मिशन स्कूल, फिर फर्रुखाबाद में अध्यापक रहे। तत्पश्चात् डेली कॉलेज, इन्दौर में अध्यापक हुए। डेली कॉलेज, इन्दौर में डॉ० सम्पूर्णानन्द भी आपके सहयोगी थे।

कभी रीता न होनेवाला अट्ठहासों का खजाना और मस्ती का आलम चतुर्वेदी जी के साथ रहा और यही वजह थी कि वे हमेशा जिन्दादिल और जवान बने रहे।

अपने जीवन के प्रारम्भ में चतुर्वेदीजी किसी नौकरी के प्रसंग में किसी बोर्ड के सामने उपस्थित हुए। अध्यक्ष ने पूछा, "कहिये चतुर्वेदीजी कब आये ?"

अंगरेजी में उनका उत्तर का, "सर आई केम टुमारो। अर्थात् मैं बीते कल नहीं, आनेवाला कल आया था।"

यह बात वह रस ले-लेकर सुनाते थे और अपने पर हँसते-हँसाते रहे। पर सच्चाई यह है कि उस दिन उन्होंने सचमुच सही बात कह दी थी। वे कभी बीते कल नहीं रहे। जो आनेवाला कल है, वही सदा उनका रहा।

चतुर्वेदीजी ने कक्का के समान ही (२४ दिसम्बर, १९८२ से २ मई १९८५ तक) ९३ वर्षों की लम्बी आयु पाई थी। चतुर्वेदीजी अपने इष्ट लेखकों के आदर्श ग्रन्थों के अध्ययन-मनन, पत्र लेखन, मधुर भोजन, चाय चक्रम, बतरस और मध्याह्नकालिक अनियमित शयन के प्रेमी-व्यसनी थे। प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर, चाय पीते थे और फिर लिखते थे। फिर वह प्रातः भ्रमण का आनन्द लेते और वापस आकर फिर लिखते थे। खा-पीकर सो जाते थे। बाहर एक से चार तक एक नोटिस लटका देते थे, 'सो रहा हूँ।'

पूरा वातावरण जैसे तर्जना करता था, 'छेड़िए मत, चतुर्वेदीजी सो रहे हैं।' □

बाबू वृन्दावनदास

☐ रमाशंकर राय, व्याख्याता

श्यामवर्ण, ठिगना कद, चौड़ा ललाट, स्नेहवर्षी आँखों पर सुनहरे फ्रेम का चश्मा, बन्दगले का कोट और पैंट; हाथ में छड़ी, मधुर-स्मित हास, सौम्य मुखमण्डल, निरभिमानी अतिथि-वत्सल मृदु स्वभाव, मधुवर्षी वाणी, अतिथि-वत्सल स्वस्थ और आकर्षक व्यक्तित्व। सम्मान के भाव से ओत-प्रोत हाथ जोड़े सहास बाबू वृन्दावनदास जी जब मिलते थे देखकर श्रद्धा से मस्तक झुक जाता था।

बाबू वृन्दावन दास एक एक ऐसे असाधारण व्यक्तित्व का नाम है, जिसे सरस्वती और लक्ष्मी का समान रूप से वरदान प्राप्त था तथा जो अपने ढंग का अकेला था। वे बहुमुखी प्रतिमा के धनी, व्यवहार पटु, कर्मठ, नेतृत्वकुशल और लोकप्रिय पुरुष थे। विद्वत्ता की शोभा विनयी होने में है—वे विनम्र, वदान्य और साधुशील थे। उनकी सदाशयता, सहृदयता और उदारता का ही प्रभाव था कि उनके शमशील सुहृद मित्र, शुभेच्छु-प्रिय भारत के कोने-कोने में थे। "उदारचरितनानां वसुधैव कुटुम्बकम्।" वे उदारचरित के समाजनिष्ठ सत्पुरुष थे। उनके व्यक्तित्व में एक सम्मोहिनी शक्ति थी। उनके सम्पर्क में जो भी आया, वह उनका 'अपना' हो गया। सबके प्रति उनकी आत्मीयता, अन्तरंगता और सहानुभूति थी। समाज, संस्कृति और साहित्य की सेवा में वे सदा जुटे रहते थे। लोकहित-चिन्तन उनका स्वभाव था। यही कारण है कि अभीप्सित अनेक क्षेत्रों में वे अप्रतिहत-दुर्निवार आगे बढ़ सके तथा अपने कृती व्यक्तित्व और यशस्वी जीवन की छाप छोड़ गए।

मतभेद स्वाभाविक है। बाबूजी से बहुतों का मतभेद हो सकता था। मतभेद उनकी चिन्ता का विषय नहीं था। लेकिन मनभेद उनके लिए दारुण और असह्य था। मनभेद उनका किसी से हो ही नहीं सकता था और कोई भी मतभेद उनके व्यक्तित्व से बड़ा नहीं था। सौम्य-सरल प्रकृति, मधुरवाणी, स्वभावगत स्नेह निश्छल-निरावरण व्यवहार, निरभिमानता, गुण-ग्राहकता, अभंग उत्साह, अकुण्ठ व्यक्तित्व, प्रेरणा एवं प्रोत्साहन की प्रवृत्ति आदि उनके कुछ ऐसे अनमोल गुण थे जो बरबस उन्हें और आकर्षित करते थे। उनके इन गुणों की प्रशंसा उनके विरोधी भी करते थे। जिसकी प्रशंसा विरोधी भी करें, वह व्यक्तित्व धन्य है।

जिस प्रकार बाबूजी की प्रतिभा बहुमुखी थी उसी प्रकार उनका कार्यक्षेत्र भी व्यापक एवं विशाल था। पहले उनका प्रवेश समाज-सेवा के क्षेत्र में हुआ। सन् १९२२ में हाईस्कूल, सन् १९२६ में बी०ए० और सन् १९२८ में उन्होंने एल-एल० बी० किया। किन्तु तभी व्यवहार-जीवी (वकालत) का पेशा नहीं अपना कर उन्होंने सार्वजनिक-सेवा-क्षेत्र में प्रवेश किया। वे महाराज अग्रसेन बालिका विद्यालय के संस्थापकों में से थे, जिसकी स्थापना सन् १९३३ ई० में हुई थी। उसके २० वर्ष मंत्री तथा १५ वर्ष तक अध्यक्ष पद को सुशोभित करते रहे। चम्पा अग्रवाल इन्टर

कॉलेज की प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष पद का भार भी उन्होंने वहन किया था। वे आगरा विश्वविद्यालय की सीनेट और लखनऊ विश्वविद्यालय-कोर्ट के सदस्य भी थे। बी० एन० पोद्दार हाई स्कूल की प्रबन्ध समिति तथा बाबू शिवनाथ अग्रवाल स्नातकोत्तर महाविद्यालय की प्रबन्ध समिति के भी अध्यक्ष थे। इसके अतिरिक्त बाबूजी ने कितनी अन्य शैक्षिक-सामाजिक संस्थाओं की अध्यक्षता की तथा इन संस्थाओं के पल्लवन-पोषण-संवर्धन में अन्य अनेक रूपों में अपनी उन्मुक्त सेवा-सहायता अर्पित की। अपने पिता स्व० हीरालाल जी के नाम पर उन्होंने स्वामी-घाट मथुरा में एक भव्य, प्रशस्त एवं साधन सम्पन्न धर्मशाली का निर्माण कराया और उस धर्मशाला में ही बाबू वृन्दावनदास पुस्तकालय की स्थापना की। उन्होंने अयोध्या में भी अपने नाम पर एक पुस्तकालय की स्थापना की।

बाबूजी उत्तर प्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि सात शीर्ष संस्थाओं के अध्यक्ष थे। इसके अरिरिक्त उत्तर प्रदेश सहकारी बैंक, उत्तर प्रदेश सहकारी संघ आदि शीर्ष सहकारी संस्थाओं के संचालक प्रबन्ध समिति के सदस्य एवम् उपाध्यक्ष थे। सार्वजनिक सेवा क्षेत्र में उनकी सुसंस्कृत रुचि सदा बनी रही। उन्होंने सन् १९३५ से १९५३ तक नगर पालिका, मथुरा के सदस्य तथा १९५७ से १९६७ तक अध्यक्ष पद को गौरवान्वित किया। सन् १९३५ से १९३७ तक आनरेरी मैजिस्ट्रेट के पद पर भी गौरव पूर्वक कार्य किया। नगरपालिका के सेवाकाल में उन्होंने कई महत्वपूर्ण जनहितैषी कार्य किये, जिसके लिए नगरपालिका, मथुरा के इतिहास में उनका नाम सदैव आदर और श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाएगा।

सामाजिक-सांस्कृतिक-शैक्षिक संस्थाओं के बाद उनमें साहित्यिक रुचि उत्पन्न हुई। सन् १९६३ में ब्रज साहित्य मण्डल के अध्यक्ष चुने गए। वे उत्तर प्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भी अध्यक्ष थे। साहित्यिक क्षेत्र में उन्होंने काम भी किया और उन्हें नाम भी मिला। साहित्यक क्षेत्र में पहुँचकर उनका कार्य क्षेत्र व्यापक हो गया, सम्पूर्ण हिन्दी जागत् उनकी परिधि में आ गया। १९६५ से १५-१६ वर्षों तक 'ब्रज भारती' का सम्पादन उन्होंने बड़ी योग्यता और तत्परता से किया। सन् १९७३ से १९७९ तक अखिल भारतीय अन्तर जनपदीय परिषद् के अध्यक्ष पद पर रहते हुए उन्होंने अपना अधिकांश समय जनपदीय चेतना को जगाने में लगाया, इस अवधि में ब्रजी, बुन्देलखण्डी, अवधी, भोजपुरी, मगही, अंगिका, वज्जिका और गढ़वाली के क्षेत्र उनसे विशेष प्रभावित हुए।

बाबू वृन्दावन दास कुशल सम्पादक ही नहीं, कुशल लेखक भी थे। बाबूजी निरन्तर लिखते ही रहते थे। सन् १९२८ से उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया और आजीवन लेखन कर्म से जुटे रहे। अंग्रेज़ी और हिन्दी में समान रूप से, समान गति से उन्होंने लिखा। लीडर, पायनियर, अमृत बाजार पत्रिका, नेशनल हेरॉल्ड

आदि समाचार पत्रों में सामयिक-सन्दर्भों पर सामयिक लेख-टिप्पणियाँ उन्होंने निरलस लिखी। विशाल भारत, माधुरी, सरस्वती, सुधा, चाँद आदि हिन्दी की मान्य स्तरीय पत्रिकाओं में भी वे लिखते रहे। बड़ी खोजपूर्ण सामग्री उन्होंने अपने पाठकों को दी।

बाबू वृन्दावन दास की कृतियों में 'भारतीय संस्कृति के विविध परिदृश्य' और 'प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य' पठनीय-संग्रहणीय ग्रन्थ हैं। 'डॉ॰ बनारसी दास चतुर्वेदी के पत्र' और 'डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल के पत्र' उनकी सम्पादन कुशलता के साक्षी हैं।

'प्रेरक-साधक' (पं॰ बनारसीदास चतुर्वेदी अभिनन्दन ग्रन्थ) की पृष्ठभूमि में बाबूजी का योगदान उल्लेख्य है। ब्रजभाषा भाग के वे सम्पादक ही थे। आचार्य पं॰ पद्म सिंह शर्मा स्मृति ग्रन्थ, साहित्याचार्य पं॰ हरिशंकर शर्मा स्मृति ग्रन्थ और 'एक युग : एक प्रतीक' (बाबू जगजीवन राम अभिनन्दन ग्रन्थ) के प्रेरक व्यवस्थापक एवं परामर्शदाता सम्पादक के रूप में की गई उनकी सेवाएं सदैव स्मरणीय रहेंगी।

बाबूजी ने मार्कण्डेय पुराण का अनुवाद आज से २५ वर्ष पूर्व ही किया था। स्व॰ हरदयाल सिंह के सम्पादन-सहयोग में 'हिन्दी-इंगलिश विश्वकोश' की भी रचना की थी जो लक्ष्मी बुक स्टोर, मथुरा से प्रकाशित हुआ था।

बाबू वृन्दावनदास का जीवन ब्रज और ब्रज-संस्कृति के साथ हमरस हो गया था। वे आजीवन ब्रजभाषा साहित्य और ब्रज-संस्कृति की रक्षा-सेवा में पूजाभाव से जुटे रहे। 'ब्रजभारती' की उनकी सम्पादकीय टिप्पणियों, उनके लेखों और अध्यक्षीय वक्तव्यों से पद-पद पर इसका पुष्ट प्रमाण मिलता है कि उनका ब्रजभाषा साहित्य प्रेम हिन्दी के हित का पोषक और संवर्धक था। बाबूजी का यह निर्भ्रान्त मत था कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का हित ही ब्रजभाषा का हित है।

आचार्य पं॰ पद्मसिंह शर्मा स्मृति समारोह, कविरत्न सत्यनारायण अर्धशताब्दी समारोह, महाकवि ग्वाल शताब्दी समारोह, सूर समारोह, हरिऔध समारोह आदि साहित्यिक समारोहों में बाबूजी ने सक्रिय सहयोग प्रदान किया। दिवंगत कवियों और साहित्यकारों के पुण्यस्मरण-सारस्वत यज्ञ के जहाँ वे एक उदार यजमान थे, वहीं जीवित साहित्यकारों के आतिथ्य के लिए डोरी बाजार स्थित उनके 'प्रकाश भवन' के द्वार सदैव खुले रहे। प्रसिद्ध कवि-साहित्यकार श्री गोपाल प्रसाद व्यास ने "बड़े सज्जन, बड़े हितैषी और मथुरा नगर की शोभा" के रूप में उनका स्मरण करते हुए उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित की है।

बाबू वृन्दावन दास के व्यक्तित्व-कृतित्व को जानने के लिए 'बाबू वृन्दावन दास : अभिनन्दन ग्रन्थ' और 'बाबू वृन्दावन दास के पत्र' (प्र॰-साहित्य प्रकाशन;

नई सड़क, मालिवाड़ा, दिल्ली-६) का अवलोकन आवश्यक है। बावू जी की गतिविधि, साहित्य साधना और व्यापक कार्यक्षेत्र के गवाह ये दोनों ग्रन्थ हैं। यदि बाबू जी के पत्रों की चर्चा न की जाय तो उनका स्मरण अधूरा ही रह जाएगा। वे एक सिद्ध पत्रलेखक थे। दूरस्थ मित्र से आमने-सामने इत्मीनान के साथ बात करने का सुख पा जाना उनके पत्र-लेखन की विशेषता थी। वे उपदेश नहीं देते थे, ज्ञान नहीं बघारते थे बल्कि अपने पत्रों में घुल-मिलकर बतियाने का सहज सुख अर्जित करते थे। अपने पत्रों में वे समरस होते थे; गाँठें खोलते थे, निजता लुटाते थे, विश्वास जगाने वाला हार्दिक पत्र लिखते थे। पत्र लिखना और, तत्परता-हार्दिकता पूर्वक पत्र का उत्तर देना उनका स्वभाव था और यही उनका आभिजात्य संस्कार था।

पं० बनारसी दास चतुर्वेदी आपके प्रेरणास्रोत थे। पत्र लेखन में भी और साहित्य सेवा, ब्रज मण्डल सेवा और जनपदीय साहित्य सेवा के क्षेत्र में भी। बाबू जी की अदम्य क्रियाशीलता और उत्साह से चतुर्वेदी जी बहुत ही प्रभावित रहते थे। चतुर्वेदी जी बाबू जी की कार्य-क्षमता की प्रशंसा करते थकते नहीं थे। उनके महान् योगदान को लक्ष्य कर ही पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ने उन्हें 'साहित्यिक कमिश्नर' की उपाधि दी थी। 'मेरी दृष्टि में बावूजी अपने राम (पं० बनारसी दास चतुर्वेदी) के हनुमान थे।'

स्व० प्रकाशवीर शास्त्री ने एक पत्र में लिखा था कि 'बाबू वृन्दावन दास असाधारण प्रतिभा के धनी हैं, जिनकी लेखनी में प्रसाद, माधुर्य और ओज की त्रिवेणी प्रवाहित है।' प्रसिद्ध क्रान्तिकारी और लेखक श्री मन्मथनाथ गुप्त ने लिखा है—'बाबू वृन्दावनदास हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एक जीवित संस्था हैं।'

बाबू वृन्दावन दास की हिन्दी सेवा से प्रभावित होकर उ० प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'विद्यावारिधि' तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'साहित्यवाचस्पति' की मानद उपाधि देकर एक योग्य कार्य किया है।

बाबू जी का जन्म मथुरा के एक प्रसिद्ध श्रेष्ठी अग्रवाल परिवार में श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के दिन, सन् १९०६ में हुआ। श्याम काशी प्रेस के संस्थापक श्री श्याम लाल जी आपके पितामह थे। दुर्भाग्यवश ८० वर्ष की अवस्था में अपनी पत्नी श्रीमती प्रकाशवती देवी तथा पुत्र-पौत्रीण-समृद्ध परिवार छोड़कर १८ दिसम्बर, १९८५ को आप दिवंगत हो गए। आपके निधन से हिन्दी और जनपदीय योजना की घोर क्षति हुई है।

□

यशस्वी सांस्कृतिक व्यक्तित्व : झड़प जी

☐ डॉ॰ प्रियदर्शी

आचार्य कुलदीप नारायण 'झड़प' पुरानी पीढ़ी के उन विद्वान् साहित्य-साधकों में से एक हैं जिनकी साधना स्वयं तक सीमित न रहकर भाषा, साहित्य और संस्कृति के अभ्युत्थान के लिए प्रेरक संस्थान की व्यापकता ग्रहण कर लेती है। पचहत्तर वर्ष की आयु में भी वे युवक साधक की भाँति एक आसन पर आठ-दस घंटे बैठ कर गंभीर कार्य कर डालते हैं। उनके नाम के पहले लगी विद्यावाचस्पति, आचार्य और पंडित की उपाधियाँ शत-प्रतिशत सार्थक और सटीक प्रतीत होती हैं। 'निज गौरव तथा निज जाति का अभिमान' रखने वाला यह मनीषी एक ओर गाँव के किसान व्यक्तित्व से सम्पन्न है और दूसरी ओर भाषाशास्त्री, इतिहासज्ञ, अन्वेषक, कवि, निबन्धकार, समालोचक और कोशकार की गरिमा से मंडित है। इस सादगी के प्रतीक साधक का सांस्कृतिक व्यक्तित्व एक ओर विश्वसनीय मित्र, सुयोग्य गुरु, सभ्य समाजसेवी और विचारक-चिन्तन के रूप में निखार पाता है तो दूसरी ओर यह ढली आयु का जवान विशुद्ध ब्राह्मण ज्योतिषी, धर्मशास्त्री, संयमी, यायावर और धीर तितिक्षु संत के रूप में अपनी छाप छोड़ता है। उसमें विनम्रता और 'झड़प भाव' का समन्वय देखकर चकित हो जाना पड़ता है। सिर पर खादी की टोपी और शरीर पर खादी का परिधान धोती-कुर्ता ही नहीं, भीतर से वह खादी और गाँधी के रूप-रंग में रँगा है। साहित्यकार, पत्रकार, कहानीकार, कोशकार, समालोचक और अध्यापक के रूप में वह कुल मिलाकर राष्ट्रीय धारा का प्रबल पोषक सिद्ध होता है। उसे बलि जनपद की विभूति न कहकर भारत की विभूति कहना सर्वथा उपयुक्त होगा।

झड़पजी ने सबसे अधिक भाषा की सेवा की है। यह सेवा सम्पूर्ण भाव सेवा है क्योंकि मातृभाषा और राष्ट्रभाषा दोनों की सेवा साथ-साथ होती है। अपनी मातृभाषा लोकभाषा भोजपुरी के साथ उन्होंने अखिल भारतीय स्तर जनपदीय बोलियों के उन्नयन और इस क्रम में सर्वतोमुखी नवजागरण का आह्वान किया है। इस प्रकार संगठनकर्ता का उनका जो एक रूप निखरता है वह समाजोपयोगी सिद्ध होता है। वास्तव में व्यक्ति के जिन गुणों का आज होता जा रहा है उन दुर्लभ गुणों को इस पूर्वग्रह रहित गंभीर चिन्तक, विचारक, अखंड स्वाध्यायी और अथक लेखक में पाकर लोगों का सहज आकर्षित हो जाना स्वाभाविक है। उनका सहज निश्छल मुसकान भरा चुम्बकीय

व्यक्तित्व तो आकर्षित करता ही है, बातचीत में जो उनका गंभीर ज्ञान प्रकट होता है वह भी चकित कर देता है। चौथेपन में उनकी असाधारण स्मरण शक्ति एक चमत्कार जैसी लगती है। ऐसा लगता है कि आयु और समय के धक्के का उनके ऊपर कोई प्रभाव ही नहीं है। उनके पास शान्त, एकाग्र और सतत ग्रहणशील मन की जो मजबूत इकाई है वह एक ईर्ष्या की वस्तु बन जाती है। उनके अति सम्पर्क में रहने वाले लोगों ने भी उन्हें हारे, थके, उदास, चिन्तित अथवा कोई दुखड़ा रोते, विशेषकर उमर का दुखड़ा रोते नहीं देखा है। इसका अर्थ यह भी नहीं कि वे सदा चहकते अथवा हँसी-खुशी के छींटे छोड़ते रहते हैं। वास्तव में उनकी प्रकृति मुखर नहीं मौन प्रकृति है। गांभीर्य उनका स्वभाव है जिसे लेकर वे सदा समभाव में रहते हैं। 'समत्वं योगमुच्यते' की नीति के अनुसार उन्हें योगी कहना अनुपयुक्त नहीं होगा। उनका यह योग रचनात्मक भावयोग के रूप में निखार पाता दृष्टिगोचर होता है। मन की सतत एकाग्रता और सन्नद्धता उनके योगी व्यक्तित्व का एक लक्षण है। ऐसा लगता है कि उन्होंने अपने रात-दिन के सम्पूर्ण जीवन को सहज साधना के संयमित-नियमित रूप में ढाल लिया है।

झड़पजी के साधना-संयमित, सहज योगी जीवन का परिचय कुछ अवसरों पर विशेष रूप से मिलता है। वे अपनी निन्दा और आलोचना को बिना उद्विग्न या आकुल हुए सहज प्रसन्न मन से मुसकराते हुए सुनते हैं। ऐसा लगता है कि आलोचनाएँ उन्हें स्पर्श न कर ऊपर-ऊपर उड़ जाती हैं। विरोध की बातें 'यह भी हो सकता है' अथवा कभी-कभी 'हमको भी ऐसा लगता है' कहकर स्वीकार कर लेते हैं। बेशक कुछ बातें हैं जिन्हें लेकर उन्हें आलोचकों का प्रहार सहना पड़ता है। इन बातों में अपने वंश, गोत्र, जाति, गाँव, अंचल और जनपद की महत्ता ही प्रमुख है। वास्तव में ये विन्दु उनके स्वाभिमान के विन्दु हैं। इन विन्दुओं को उभारने में अपना प्रगाढ़ अनुभव, गंभीर अध्ययन और गहन अन्वेषण झोंक देते हैं। उनके तर्कों के आगे उनके विरोधी नतमस्तक हो दाँतों तले उँगली दबा लेते हैं। सिद्धान्तों की लड़ाई में अधिकांश स्थितियों में झड़पजी रक्षात्मक लड़ाई लड़ते हैं परन्तु यही लड़ाई कभी-कभी आक्रामक लड़ाई का रूप ले लेती है। ऐसे मौकों पर तर्कों और प्रमाणों के पैने-पैने हथियार लेकर सात्त्विक अमर्ष के साथ झड़पजी जब पैंतरे पर आते हैं तो उनकी छवि देखने लायक होती है। ऐसा नहीं लगता है कि उनकी बुढ़ापा उनकी लड़ाई कहीं से मद्धिम होने देती है। विपरीत इसके इन्हीं मौकों पर ऐसा लगता है कि औरों को जीतने के पहले उन्होंने अपने वृद्धत्व पर ही विजय पा ली है। विचार, ज्ञान, सन्मार्ग, मानवता और सभ्यता-संस्कृति के प्रचार-प्रसार के संदर्भ में यह बुढ़ापे पर विजय स्वागतार्ह है।

विद्यावाचस्पति श्री कुलदीप नारायण 'झड़प' के अवदान की चर्चा और उनका मूल्यांकन विशेष रूप से जनपदीय आन्दोलन के संदर्भ में किया जायगा। यह आन्दोलन अपने विभिन्न जनपदों में निवास करने वाले मनुष्य जन के खोये जीवन-संगीत की वापसी का आन्दोलन है। इसमें अपने सामाजिक और सांस्कृतिक स्वरूप को परिवर्तित स्थितियों में अन्वेषित और पुनर्व्याख्यायित करने की प्रक्रिया निहित है और इस प्रकार यह मूलतः सांस्कृतिक चेतना के पुनर्जागरण का आन्दोलन है। अपनी भौगोलिक रूपाभा, कला, साहित्य-साधना, जातियाँ, परम्परायें और मान्यतायें आदि तो इस आन्दोलन में संवेदनशील अध्ययन के स्तर पर समाहित हैं ही, इनके अतिरिक्त जनपदों के विविध विश्वास, पर्व-त्यौहार, संस्कार, खान-पान, खेल-नृत्य, भाषा-बोली, मुहावरे, लोकगीत, लोककथा, मनोरंजन, पूजा-पाठ, अन्धविश्वास, रूढ़ियाँ-रीतियाँ, सुख-दुख और तमाम-तमाम तरह की आंचलिक छवियाँ, जिनकी पहचान अपनी अस्मिता के रूप में होती है, इस आन्दोलन की सीमा में आकर अन्वेषित होती हैं। ऐसे महत्वपूर्ण आन्दोलन में विगत दो दशक से सक्रिय रूप से जुड़े झड़प जी वास्तव में बहुत-बहुत वन्दनीय हैं।

संपादकाचार्य पं० बनारसी दास चतुर्वेदी द्वारा सन् १९३४ में प्रवर्तित इस आन्दोलन से झड़प जी स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रथम दशक में ही अभिन्न रूप से जुड़ गये। जब १९७३ में इस आन्दोलन को विशेष गतिवान बनाने के लिये अखिल भारतवर्षीय जनपदीय परिषदें बनीं तो झड़प जी उसके महामंत्री चुने गये। इन परिषदों की शाखायें देश के विभिन्न भागों में स्थापित की गयीं। इन परिषदों ने उपयोगी पत्रिकाओं का प्रकाशन करके इस पुनर्जागरण के आन्दोलन को तीव्र गति से आगे बढ़ाया। इस संदर्भ में अ० भा० अन्तर जनपदीय परिषद उजियार (बलिया) की मुखपत्रिका 'चतुर्मुख' का विशेष रूप से स्मरण किया जाता है। इसके सम्पादन में झड़प जी के प्रमुख सहयोगी डॉ० अनिल कुमार 'आंजनेय' रहे। आंजनेय जी असीम उत्साह सम्पन्न उच्च रूचि के सुलझे साहित्य सेवी होने के साथ संगठन, सहयोग और प्रचार-प्रसार के संदर्भ में अद्वितीय व्यक्ति हैं। जनपदीय परिषदों और इनसे जुड़े आन्दोलन को इनसे बहुत बल मिला है। झड़प जी की दाहिनी भुजा के रूप में गतिशील आंजनेय जी ने जनपदों की ढेर-ढेर उगती, तपती और अस्त प्रतिमाओं को समेट कर विकसित और सम्मानित किया है। सन् १९७३ से इस अ० भा० जनपदीय परिषद के अध्यक्ष पद को आचार्य पं० कुलदीप नारायण झड़प सुशोभित कर रहे हैं। इसके महामंत्री डॉ० आंजनेय हैं और इसका कार्यालय उनके गाँव उजियार (बलिया) में है। इस अ० भा० ज० परिषद की ओर से विभिन्न जनपदों और बोलियों के चार लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों को प्रतिवर्ष सम्मानित करने का कार्यक्रम श्री झड़प के जन्मदिवस पर उनके गाँव लिलकर (बलिया)

सम्पन्न होता है। इस क्रम में अब तक लगभग तीस विद्वानों को सम्मानित किया जा चुका है। इस प्रकार गाँव को, गाँव की बोली को, जनपद को और उसकी प्रतिमाओं को सम्मानित करने की जो नीति इस परिषद में निहित है वह झड़प जी की छत्रछाया में निर्बाध रूप से कार्यान्वित होती चलती है।

इस संक्षिप्त निबन्ध के अन्त में झड़प जी के रचनात्मक अवदान की भी चर्चा हो जानी चाहिये। आपकी लगभग एक दर्जन प्रकाशित पुस्तकों को दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। पहली कोटि भावात्मक रचनाओं की है जिसमें आपकी 'विभूति सतसई', 'अरघ' और 'दीपदान' नाम की काव्य-कृतियाँ हैं। भोजपुरी निबन्धों के संग्रह 'बात क बात' को भी इसी कोटि में रखा जाना उचित होगा क्योंकि इसके अधिकांश निबन्ध ललित निबन्ध हैं। दूसरी कोटि शोधपरक ग्रन्थों की है। वास्तव में झड़प जी की यही मूल प्रकृत्ति है। 'विकास की एक धारा' से लेकर 'भारतीय संस्कृति, विश्व संस्कृति और ब्राह्मण परम्परा' और ब्राह्मण राज्य के इतिहास पर लिखी आपकी पुस्तकें साधार विश्लेषणों से पूर्ण होने के कारण बहुत उपयोगी हैं। आपकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास : जीवनवृत्त और व्यक्तित्व' सर्वथा नयी मान्यताओं और स्थापनाओं से युक्त होने के कारण बहुत चर्चित हुई। अखिल भारतीय भोजपुरी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित एक 'सन्तबानी' नाम की पुस्तक का सम्पादन भी आपने किया है। आपके सम्पादन कार्य का चरमोत्कर्ष 'भोजपुरी शब्दकोश' के सम्पादन में दृष्टिगोचर हो रहा है जो 'भोजपुरी अकादमी' (पटना) से प्रकाशनाधीन है।

युवकोचित उत्साह के साथ अभी भी आप सृजनरत हैं। युगीन अवमूल्यन के विराट धुंध में भी आपकी मूल्य दृष्टि आहत और धुंधग्रस्त नहीं हुई है। अपने किसान व्यक्तित्व में अगाध पांडित्य, गम्भीर अध्ययन, अकुंठ चिन्तन और सुलझी-स्वच्छ दृष्टि छिपाये प्रदर्शन और प्रचार से निस्पृह झड़प जी रचनात्मक रूप में जो कुछ भी दिये हैं और देंगे वह आज के रुग्ण समाज के लिए अमृत की धारा जैसा है। उनके ७६वें जन्म दिवस पर अनन्त बधाइयों के साथ स्वस्थ-सानंद जीवन के लिए हार्दिक शुभकामनायें हैं।

□

राष्ट्रभाषा हिंदी, अँग्रेज़ी और जनपदीय भाषाएँ

☐ प्रो० ब्रजकिशोर

आजादी के पूर्व हमारे सामने एक आदर्श था, लक्ष्य था और उसी के लिए हम सभी सन्नद्ध थे, संकल्पित थे। जब वह लक्ष्य मिल गया तो धीरे-धीरे एक रिक्तता आती गई और स्वार्थ के घेरे कसते गए। आज स्थिति भयावह हो गई है। हमारे स्वार्थ सर्वोपरि हो गए हैं और पूरा देश विघटन के कगार पर ला दिया गया है। जनाकांक्षा की चिन्ता किए बिना अपनी सत्ता, अपनी सुविधा और अपने निहित स्वार्थ की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय सम्मान और राष्ट्रीय एकता को आग लगा देने में कोई भी राजनीतिक दल पीछे नहीं रहना चाहता। सारा भारत एक षडयंत्र के साये में साँस लेता मालूम पड़ता है। यह हालत उन लोगों के लिए बहुत ही तकलीफदेह है जो इस भूमि पर आजादी के पूर्व जन्मे हैं और जिन्होंने जवानी के जोश भरे दिनों को एक सपना देखते हुए बिताया है, और जिन्होंने इस पवित्र धरती को 'माता' के रूप में देखा-माना—अनुभूत किया है।

भाषा का सवाल एक ऐसा ही नाजुक सवाल है जो दिन-प्रति-दिन उलझता जा रहा है। २१ अगस्त १९३७ के 'हरिजन' में भाषा के सम्बन्ध में नेहरू जी ने लिखा था—'हमारी विकसित प्रान्तीय भाषाएँ बोलियों के स्तर पर नहीं हैं .... अतः वे भाषाएँ हमारी शिक्षा प्रणाली और सरकारी काम का आधार होनी चाहिए—केवल 'हिन्दुस्तानी' ही अखिल भारतीय भाषा हो सकती है।'

आजादी के बाद जब संविधान को राष्ट्र ने स्वार्पित किया तो ३४३ (१) के अनुसार यह निर्धारित किया गया कि 'संघ की भाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी।' हिन्दी राष्ट्रभाषा बन गई। उसे राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया गया किन्तु व्यवहार में आजतक वह राष्ट्रभाषा नहीं बन सकी है। अंग्रेजी का दबदबा बना रहा और धीरे-धीरे उसके रुतबे में वृद्धि ही होती गई। हिन्दी व्यवहार में नहीं केवल संविधान में राष्ट्र की भाषा बनी रही। राजनीतिक दलों के दृष्टिकोण में भी इसके प्रति लचीलापन बढ़ता गया और 'अखिल भारतीय स्तर की छवि' बनाने के चक्कर में कई दलों ने राष्ट्रभाषा के सवाल पर मौन रहने का अघोषित नियम ही बना लिया है।

२४ अप्रिल, १९५९ की लोकसभा के मनोनीत ऐंग्लो-इण्डियन सदस्य फ्रैं एन्थोनी ने एक गैर-सरकारी प्रस्ताव रखकर अँग्रेजी को संविधान की आठवीं सूची में शामिल करने का अनुरोध किया जिसपर तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू जी ने ७ अगस्त १९५९ को लोकसभा को इन शब्दों में आश्वासन दिया—'मैं दो बातों में विश्वास करता हूँ। एक किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि अनिश्चित काल तक—मुझे नहीं मालूम कबतक—अँग्रेजी एक अतिरिक्त सहयोगी भाषा के रूप में रखनी चाहिए और मैं रखूँगा। जब तक जनता की इच्छा होगी,

अँग्रेजी को विकल्प भाषा के रूप में बनाए रखूँगा और इस बात का निर्णय मैं, हिन्दी भाषा भाषी लोगों के हाथ में नहीं, वरन् अहिन्दी भाषा भाषी लोगों पर छोड़ूँगा।' यही आश्वासन राजभाषा विधेयक (१९६३) और राजभाषा संशोधन अधिनियम (१९६७) में समाहित कर लिया गया। इसके बाद संविधान के निर्माताओं की यह इच्छा कि पन्द्रह वर्षों के भीतर हिन्दी अँग्रेजी का स्थान ले लेगी और पूरे भारत में एक सम्पर्क भाषा विकसित हो जाएगी—खटाई में पड़ गई। तब से निरन्तर हिन्दी की स्थिति कमजोर होती गई है और राजनीतिक कारणों से दक्षिण के राज्य हिन्दी विरोध का नारा बुलन्द करते रहे हैं। सभी राष्ट्रीय राजनीतिक दल भी अखिल भारतीय सहयोग प्राप्त करने की लिप्सा के कारण भाषानीति में अस्थिरता बनाए रखना चाहते हैं। भाषा का विषय देश में विस्फोटक स्थितियों से गुजरता रहा है। हो सकता है, इस कारण भी राजनीतिक दल उस विषय में कुछ साफ-साफ कहने से घबड़ाते रहे हों। किन्तु इससे हिन्दी की और सही अर्थ में पूरे राष्ट्र की अपार क्षति हुई है। यह बड़ी चिन्ता की बात है। क्या सत्ता पाने का महत्त्व राष्ट्र से बड़ा है? इस रवैये से क्या कभी भी हिन्दी अपना न्यायोचित स्थान पा सकेगी?

यह मांग सर्वथा उचित है कि राष्ट्रभाषा को वैसे ही राष्ट्रीय चिह्न माना जाय, जैसे राष्ट्रीय गान और राष्ट्रीय ध्वज को माना जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में बोली जानेवाली सभी भाषाएँ राज की भाषाएँ हैं, परन्तु राष्ट्रभाषा तो एक ही हो सकती है। हम अपने राष्ट्रीय पक्षी और राष्ट्रीय पशु का नाम गिना सकते हैं किन्तु राष्ट्रभाषा का शब्द आज हमारे शब्द-भण्डार से धीरे-धीरे विलुप्त होता जा रहा है। यह बड़ी लज्जाजनक स्थिति है।

यह सही है कि भाषा की समस्या अखिल भारतीय नौकरियों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी है। अतः भाषा के सवाल को सुलझाते समय कुछ वर्षों के लिए कुछ ऐसे नियम निर्धारित करना उचित प्रतीत होता है कि अहिन्दी भाषी प्रदेशों में युवकों को यह विश्वास हो जाए कि केन्द्र में हिन्दी को या किसी अन्य भारतीय भाषा को राजभाषा के पद पर आसीन करने का मतलब कदापि यह नहीं है कि किसी वर्ग विशेष को केन्द्रीय सरकार की नौकरियों में अधिक लाभ मिलेगा या किसी वर्ग विशेष का वर्चस्व हो जाएगा। ऐसी पूर्वोपाय-व्यवस्था निश्चित अवधि के लिए ही हो। केन्द्रीय नौकरियों को भाषावार राज्यों के अनुसार आज के बिन्दु पर स्थिर प्रतिशत निश्चित कर दिया जा सकता है। ऐसा पूर्वोपाय कर लेने पर ईमानदारी से उसपर अमल करना भी अनिवार्य होगा।

भाषा का सवाल उत्तर या दक्षिण का सवाल नहीं है। यह अब राजनीतिक सवाल हो गया है। दूसरा कारण है, अँग्रेजी भाषा और संस्कृति में पनपे विशिष्ट वर्गों द्वारा जनसाधारण का स्वार्थ हितों के लिए शोषण। अहिन्दी क्षेत्र का सामान्य

व्यक्ति न तो अँग्रेजी जानता है न हिन्दी। उसकी भावना को उभारना सरल है। उसे सही हालत से अवगत कराना राष्ट्रहित में जरूरी है।

हिन्दी की शब्दावली भी सहज होनी चाहिए। प्रचलित विदेशी शब्दों और राज्यों की भाषाओं के शब्दों को भी उसमें समाविष्ट करना चाहिए। इससे हिन्दी की क्षमता और व्यापकता बढ़ेगी। उत्तर भारत में भी हिन्दी मातृभाषा के रूप में कहीं बोली नहीं जाती। वहाँ भोजपुरी, मगही, अवधी, ब्रजभाषा, हरियाणवी, मैथिली, संताली, आदि ही घर में बोली जाती है। यही जनपदीय भाषायें विभिन्न जनपदों की बोलियाँ हैं। इनका विकास भी हिन्दी के हित का पोषक होगा। इन्हें दबाने में ही हिन्दी का अहित है। जनपदीय भाषाओं के विकास से दक्षिण वालों को यह बात भी समझ में आ जाएगी कि हिन्दी उत्तर भारत की भाषा नहीं है, वह क्षेत्रविशेष की भाषा नहीं है वरन् पूरे भारत की भाषा है। हिन्दी उनकी भी उतनी ही है, जितनी उत्तर प्रदेश और बिहार की है। उन्हें अवश्य ही इस तथ्य का पता होना चाहिए कि जैसे उनके घरों-गाँवों में अँग्रेजी नहीं बोली जाती, कुछेक जगहों को छोड़कर उत्तर भारत के घरों में हिन्दी का नहीं भोजपुरी, अवधी, मैथिली आदि भाषाओं का प्रयोग होता है। संभव है, इससे उनके विरोध का स्वर शिथिल हो जाय।

जनपदीय भाषाओं के प्रति हिन्दीवालों को भी अपना दृष्टिकोण बदलना होगा। वे शंका में शोर-गुल या गुब्बार उठाकर केवल आग को हवा भर देंगे। हिन्दी का कोई हित उससे होगा यह कहना मुश्किल है। महाकवि तुलसीदास जी के 'रामचरित मानस' को क्या आधुनिक हिन्दी व्याकरण के आधार पर समझा जा सकता है? जब हिन्दी के पास कुछ नहीं था तो इन भाषाओं की सम्पदा को अपना लेना उचित जँचा और आज उन घरों की ओर हिन्दी वाले झाँकना भी उचित नहीं समझते! यह नजरिया संकट का घर है। हिन्दी वालों को भी चाहिए कि जनपदीय भाषाओं के वर्तमान साहित्य को भी उतनी ही ललक, प्रेम और आदर से अपनावें जितनी ललक से तुलसी, कबीर, सूर, विद्यापति और जायसी आदि को अपनाया गया था। इससे जनपदीय भाषाओं को पनपने—बढ़ने का मौका मिलेगा और आपस का धुन्ध भी छँटेगा। हिन्दी वालों को भी वही उदार दृष्टिकोण आज भी अपनाना सर्वथा उचित है जो इसके उत्थान काल में अपनाया गया था। जनपदीय भाषाओं के अध्ययन और उनपर शोध की पूरी व्यवस्था संस्थाओं-विश्वविद्यालयों में होनी चाहिए।

आज देश का माहौल नाना प्रकार की संकीर्णताओं के कारण इतना विषाक्त हो गया है कि जनपदीय आन्दोलन के पक्षधरों को भी फूँक-फूँक कर कदम बढ़ाना पड़ेगा अन्यथा भावना के अतिरेक से क्षणिक लाभ भले मिल जाय किन्तु राष्ट्रीय एकता एवं सद्भाव के लिये किये गये आजतक के त्याग एवं बलिदान निरर्थक हो जायेंगे और विघटनकारी शक्तियों को बल मिलेगा! जनपदीय भाषाओं का विकास सांस्कृतिक-सामाजिक कारणों से होना चाहिए न कि राजनीतिक हथकण्डे के रूप में। गंगा की शक्ति उससे मिलने वाली अनेकानेक नदियाँ हैं। हिन्दी की सामर्थ्य और शक्ति जनपदीय भाषाओं के विकास से और बढ़नी चाहिए। परस्पर पूरक बनकर कदम-से-कदम मिलाकर आगे बढ़ें न कि प्रतिद्वन्द्वी बनकर। पूरे राष्ट्र का हित इसी में है। ☐

बार-बार अपने आपसे पूछा है

☐ शंकर दयाल सिंह

बात मारीशस की है।

समुद्र का किनारा। दूर-दूर तक नीला सागर। पालों वाली नाव। लहरों की अटखेलियाँ! सूरज कब का डूब चुका है, लेकिन उसकी ललाई दूर-दूर तक फैली हुई है।

हम सुध-बुध खो, बैठे शून्य में निहार रहे हैं। यहाँ शून्य का अर्थ क्षितिज से है, कारण यही तो एक ऐसा स्थल है, जहाँ क्षितिज अनुभव किया जा सकता है।

कि रात हो आई है, और दूर से, लेकिन स्पष्ट रूप से आवाज कानों में आकर हमें नहला जाती है—

'रात करे सन्…………सन्………
बहेला पवनवाँ हो राम………
हे भउजी, तू भइया से कहि द….
कई देसु मोर गँवनवाँ हो राम….

कौन है इसका गायक? कौन है इसका रचयिता? कौन है भउजी और कौन हैं उसका भइया? कोई नहीं जानता, लेकिन इसमें जो एक दर्द, टीस, बेचैनी, सनसनाहट, अपने को अप्रकट रखकर भी प्रकट कर देने की क्षमता, कसमसाहट तथा अप्रत्यक्ष रूप से भी आकृष्ट करने की मौन—पिपासा है, इसे सुनकर भूलना कठिन था।

और, इसीलिए बार-बार पूछा है मैंने अपने आपसे कि लोक जीवन की सहजता तथा लोकगायन की मधुरता क्यों नहीं पैदा होती है अलंकारों, शब्दों और भावों के ऐसे गुम्फन में, जिसे एक से अनेक विद्वान और चेता लिखते—बाँचते हैं।

उसी जनचेतना का प्रतिबिम्ब है जनपद और जनपदीय जीवन, जनपदीय साहित्य और जनपदीय भाषा।

प्रेमचन्द प्रेमचन्द नहीं हुए होते और नागार्जुन और 'रेणु' को शायद कोई इतना महत्त्व और आदर नहीं देता; यदि वे अपने जनपद से जुड़कर नहीं लिखते। मुलम्मों से दूर यथार्थ की धरती पर खड़े होकर वास्तविक जीवन की अनुगूँज को बिसराकर हम वास्तविक नहीं रह पाते।

इस विशाल देश की भाषा, भाव-भंगिमा, रहन-सहन, रूप-रंग, बोल-चाल सब भिन्न-भिन्न है, लेकिन उसके अन्दर की चेतना एक है, जो हिमालय से लेकर

कन्या कुमारी तक हमें एक मनके में जोड़ती है। जनजीवन की आस्तिक आ राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय चेतना का आधार है।

बौद्धकाल से जनपदों का जागृत उल्लेख हमें मिलता है। उन्हें हम संकीर्णता के दायरे में न देखें। विकास की सीढियों को चढ़ने के लिए किसी भी जनपद की जीवन-पद्धति और भाषा-संस्कार आवश्यक हैं।

तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जनपदीय चेतना को जागृत रखने तथा अपने जनपद की भाषा—भंगिमा को उजागर करने का अर्थ होता है, अपनी परम्परा और संस्कृति का उजागर। इसके लिए भाषा माध्यम है, साधन है। माँ की कोख में स्तनपान के साथ ही बोली की जो सहज घूँट हमें मिली व आज के बच्चे को मिलेगी, उसे किसी और माध्यम से हम तौल नहीं सकते। आज उसका भी लोप होता जा रहा है—'आया'—संस्कृति तथा विदेशी जीवन-पद्धति कहीं हमें लील न जाएँ।

आपके प्रयास को इसी समग्र रूप में मैं देखता हूँ और अपने आपसे मैं बार बार पूछता हूँ कि इसे बिलगाकर हम कहाँ के रह जाएँगे ?

□

डॉ० अमरनाथ झा की जनपदीय दृष्टि

□ **प्रस्तोता : अभय कुमार, अष्टम व**

जनपदीय भाषाओं के प्रति अनुदार होने का अर्थ है—हिन्दी की अवनति राष्ट्रभाषा तो हमारी हिन्दी ही है। हिन्दी में ही एक बंगाली, एक पंजाबी बातचीत समझ सकता है। एक पंजाबी तथा गुजराती को किसी दूसरे प्रान्त निवासी से बातचीत करने के लिये हिन्दी का ही आश्रय लेना पड़ेगा। पर सा हो-साथ एक जनपदीय भाषाभाषी को उसकी भाषा में ही बोलने-चालने में सुवि होगी। आरा में मुझे अभिनंदन-पत्र देते समय कई कविताएँ पढ़ी गयीं। लेकि जनता में सबसे अधिक प्रभाव उन कविताओं का पड़ा जो कि भोजपुरी में गयीं। एक ब्रजवासी के लिये ब्रज ही सबसे सरल और मीठी भाषा है। बात दूसरी जनपदीय भाषाओं के लिये भी लागू है। किसी भी भाषा के बारे तुलनात्मक रूप से अच्छी या बुरी कहने का अधिकार किसी को नहीं है।

□

पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी और जनपदीय बोलियाँ

☐ प्रस्तोता : विजयन्तकुमार सिंह, आई० ए

"मेरे द्वारा हिन्दी-जगत् की जो थोड़ी-बहुत सेवा बन पड़ी है उसमें सबसे अधिक महत्व मैं जनपद-आन्दोलन को देता हूँ। हिन्दुस्तान में हिन्दी की जो बोलियां हैं—बुन्देलखण्डी है, भोजपुरी है, अवधी है, ब्रज है—इनका एक अपना अलग साहित्य है और मैं अक्सर कहा करता हूँ कि ये खड़ी बोली की सौत नहीं हैं, खड़ी बोली की माता हैं—खड़ी बोली इन्हीं से निकली है। अब जैसे भोजपुरी है, भोजपुरी एरिया बड़ा विस्तृत है, यू०पी० का पूर्व का हिस्सा, बिहार का पश्चिम का हिस्सा सब भोजपुरी का है और भोजपुरी बोलने वाले आज दस करोड़ हैं। मारीशस तथा फिजी वगैरह में भी भोजपुरी बोली जाती है। भोजपुरी में अच्छा साहित्य भी है, और इसमें उपन्यास भी लिखे गये हैं, तो मैं यह नहीं कहता कि इनको खड़ी बोली का स्थान दिया जाये। इनमें जो अच्छे लोकगीत हैं, लोकवार्ता साहित्य हैं, अच्छे शब्द हैं, उनका संग्रह जरूर हो जाना चाहिए। जनपद आन्दोलन मैंने चलाया था और 'मधुकर' का एक जनपद-आन्दोलन अंक भी निकाला था जो बहुत चर्चित और लोकप्रिय हुआ। आश्चर्य की बात यह है कि जनपदीय बोलियों पर शोध का कार्य रूस के एक सज्जन चर्नीशोव ने किया है। वे बहुत अच्छी हिन्दी लिख लेते हैं। चर्नीशोव चेलीशोव, वारान्निकोव ये सब वहीं के लेखक हैं हिन्दी के, तो चर्नीशोव, चेलीशेव, ने हिन्दी की जनपदीय बोलियों के बारे में एक शोध लिखा है। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन में पहले तो विरोध हुआ था लेकिन पीछे उन्होंने भोजपुरी वगैरह की काफी कुछ किताबें छापीं। पंडित अमरनाथ झा का एक भाषण हुआ था आगरे में और उसमें उन्होंने कहा था कि 'भई, मेरी मातृभाषा तो मैथिली है मैं हिन्दी को राष्ट्रभाषा के ही रूप में अंगीकार करता हूँ' तो यह ऐटीट्यूड और भावना मुझको बिल्कुल वैज्ञानिक मालूम होती है—हम घर पर ब्रजभाषा बोलते हैं, मैं यह नहीं कहता कि ब्रजभाषा में पाठक तैयार किये जायँ, हम लोग तो इतने नजदीक हैं हिन्दी और उर्दू के कि पाठ्य-पुस्तकों में ब्रज-भाषा की कविता वगैरह तो आनी ही चाहिये और आती भी है, लेकिन इसके साथ ही उनको पाठ्यपुस्तक के रूप में रखने के मैं पक्ष में नहीं हूँ।"

"जनपद आन्दोलन पर उजियार (बलिया) के एक सज्जन हैं, अनिल बाबू

(डॉ॰ अनिल कुमार आंजनेय), वे काम कर रहे हैं और एक इतिहास तैयार कर रहे हैं। वैसे 'मधुकर' के पुराने अंकों में बहुत कुछ मसाला इसके बारे में है। अवधी पर काफी काम हुआ है, यद्यपि वह प्रकाश में नहीं आया। पंडित वंशीधर शुक्ल अवधी के बहुत अच्छे कवि थे, उनकी तीन कविताएं मैंने छापी थीं, एक "कवि-सम्मेलन" एक मुशायरा और एक 'सिनेमा' पर। अवधी के बारे में हमारे राहुल सांकृत्यायन की राय थी कि महाकवि तुलसीदास के बाद सबसे अधिक अधिकार अवधी पर है तो बंशीधर शुक्ल का ही है। एक अन्य सज्जन राम इकबाल सिंह 'राकेश' हैं, उन्होंने मैथिली पर काफी काम किया है। बुन्देलखण्ड में श्रीराम-चरण मित्र हैं, और श्यामसुन्दर वादल हैं, उन्होंने बुन्देलखण्डी पर काम किया है। बुन्देलखण्ड पर काफी काम महाराज ओरछा के संरक्षण में हुआ था।

जनपदीय बोलियों के जो कोश हैं, शब्द हैं, उनका संग्रह कर लेना चाहिए। अब सत्यनारायन कविरत्न की कविता में आया है "सिदौसो" "लौटियो"। सिदौसा जो है वह 'सद्य-सा' का अपभ्रंश है, तो जो मिठास जनपदीय बोलियों में है वह खड़ी बोली में नहीं लाया जा सकता है और जैसा मैं कहरहा हूँ कि घड़ी की सुई को पीछे नहीं किया जा सकता, खड़ी बोली ने जो स्थान प्राप्त कर लिया है, वह स्थान उसका रहेगा और रहना ही चाहिए और जनपदीय बोलियों को खड़ी बोली समर्थक ही बनाना चाहिए।

['आकाशवाणी' वर्ष-५०, अंक-६ १६-३१ मार्च, १९८५, 'तीन पिढ़ियों का सफर'—नन्द भारद्वाज से साभार]

□

जैसे विभिन्न नदियों के मिलने से गंगा का प्रवाह प्रबल होता है, वैसे ही जनपदीय भाषाओं के सहयोग से हिन्दी की गंगा भी समृद्ध और पवित्र होगी।

□

राष्ट्रकवि दिनकर : जनपदीय दृष्टि

— अनुज कुमार द्विवेदी, आइ० ए०

१ दिसम्बर, १९७३, विज्ञान भवन, नई दिल्ली। 'उर्वशी' पर भारतीय ज्ञान-पीठ द्वारा आयोजित पुरस्कार समर्पण समारोह। दिनकर जी ने अपने ओजस्वी भाषण में बहुत ही विश्वास के साथ कहा—"लिटरेचर ऑफ नॉलिज (ज्ञान का साहित्य)—आप ऐसी किसी भी भाषा में लिख सकते हैं जो आपकी मातृभाषा नहीं है, फिर भी जिसे आपने दक्षता के साथ सीख लिया है। लेकिन रस का साहित्य, आप सिर्फ अपनी भाषा में ही लिख सकते हैं। अपने देश की भाषा में लिख सकते हैं।"

···· "प्रत्येक देश, जिसका कोई इतिहास है, उसकी आत्मा, अपनी भाषा को छोड़कर दूसरी भाषा में बोल नहीं सकती।"

अपने भाषणों और लेखों में बार-बार उन्होंने कहा—"प्रत्येक भाषा-क्षेत्र में वहाँ की भाषा ऊपर आने को बेचैन है। लेकिन सारे लोग सिर्फ यह देखने को ठिठके हुए हैं कि इन पाँच-छह प्रान्तों में जो नये ग्रेजुएट तैयार हो रहे हैं उनके साथ भारत सरकार क्या सलूक करने जा रही है। अगर इन ग्रेजुएटों का रास्ता खुल गया तो विश्वास मानिये कि आनन-फानन सभी क्षेत्रों में वहाँ की भाषाएँ ऊपर आ पहुँचेंगी। [राज्य सभा, सितम्बर, १९५९]

'नकली शब्द नहीं चल सकते। ···· हिन्दी के निर्माण में अन्य भाषाओं से भी शब्द लो, अन्य भाषाओं से प्रभाव ग्रहण करो। [राज्य सभा, १९ मार्च, १९७३]

" ···· हिन्दी का स्वभाव भी जोड़ने वाला है, तोड़नेवाला नहीं है। राष्ट्रभाषा के लिए हिन्दी चुनी क्यों गई? इसी जोड़ने वाले गुण के कारण। मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। मेरी माँ हिन्दी नहीं बोलती है, मैथिली बोलती है। न जी की माँ भी हिन्दी नहीं बोलती थीं, अवधी बोलती थीं। हिन्दी का एक ण यह है कि मातृभाषा वाला लगाव हिन्दी के साथ बहुत कम लोगों का है र जिन्होंने हिन्दी को मातृभाषा के समान ही प्यार करके अपना लिया है, नकी संख्या ज्यादा है।'

···· 'प्रादेशिक भाषाओं का जागरण बड़े जोर से हुआ है। ···· जनता के भीतर उत्साह पैदा होगा तो वह उत्साह भाषाओं में जाकर प्रकट होगा। इसलिए रत की सभी भाषाएँ उठ रही हैं।' —[राज्य सभा, २ मई, १९६३]

“.... हिन्दी भाषी प्रान्तों में जनपदीय भाषाएँ अनेक हैं, किन्तु उनसे एकाकार होकर हिन्दी ने सभी हिन्दी-भाषी प्रान्तों का एक सूत्र में बाँध रखा है।” —[द० भारतीय हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद, रजत जयन्ती समारोह, ११ सितम्बर, १९६६]

“हिन्दी प्रान्तों में अँगरेजी को अपदस्थ करने का जिम्मा राष्ट्रभाषा पर नहीं, मातृभाषाओं पर है। इसीलिए, हिन्दी की क़िस्मत भारत की सभी क्षेत्रीय भाषाओं के साथ बँधी है।”

—[गोपाल प्रसाद व्यास]

“डॉ० कन्हैया लाल सहल देश के दुर्लभ रत्नों में से हैं और हिन्दी में तो उनका व्यक्तित्व लगभग बेजोड़ है। ... मित्रवर सहल जी पर मेरी सबसे अधिक श्रद्धा इसलिए है कि उन्होने राजस्थानी भाषा के शब्दों, कहावतों, लोकगीतों और लोककथाओं पर जमकर काम किया है। उनके डॉक्टरेट का विषय भी राजस्थानी कहावतें थीं। किन्तु उस ग्रन्थ के अतिरिक्त सहल जी ने ‘राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान’, ‘राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद’, ‘राजस्थानी वीर गाथाएं’ ‘राजस्थानी लोककथाएँ’ ‘नदो तो कहो मत’, ‘लोककथाओं के मूल अभिप्राय’ आदि कोई १५ पुस्तकें और लिखी हैं। इसके सिवा कोई १९ वर्ष से वे जिलानी से ‘मरु-भारती’, नामक एक त्रैमासिक पत्रिका निकाल रहे हैं, जिसका प्रत्येक अंक राजस्थानी लोककथाओं, ऐतिहासिक शोधों और शब्द चर्चाओं से भरा रहता है। राजस्थान की लोक-संस्कृति का जैसा उद्धार अकेले सहल जी ने किया है, देश के किसी अन्य जनपद की संस्कृति का वैसा उद्धार अभी तक हो पाया है या नहीं, यह बात विश्वासपूर्वक नहीं कही जा सकती। डॉ० कन्हैयालाल सहल का कार्य राजा भगीरथ के गंगोद्धार के समान अनुपम और महार्घ है और राजस्थान के इतिहास में वे अपने इसी कार्य के लिए याद किये जायँगे।”

मैं जब सहल जी के व्यक्तित्व का ध्यान करता हूँ, मेरे मन में एक ऐसी प्रतिमा खड़ी हो जाती है .... जो कारयित्री और भावयित्री, दोनों प्रतिभाओं से पूर्ण है तथा जो आकाश की सुरभि लेती हुई भी, ठोस रूप से पृथ्वी पर खड़ी है “टाइप ऑफ द वाइज डू सोर बट नेवर रोम। टु द किंड्रेड प्वाइंट्स ऑफ हेवन एण्ड होम।”

—[‘शेष-निःशेष’—सम्पादक : कन्हैयालाल फूलफगर से साभार]

□

अछूत की शिकायत

☐ हीरा डोम

—प्रस्तुति : विकास कुमार, दशम 'स'

हमनी के रात दिन दुखवा भोगत बानी,
हमनी के सहेबे से मिनती सुनाइबि।
हमनी के दुख भगवनओं न देखता जे,
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।
पदरी सहेंब के कचहरी में जाइबिजां,
वेधरम होके रंगरेज बनि जाइबि।
हाय राम ! धरम न छोड़त, बनत बाजे,
बे-धरम होके कइसे मुँहवा देखाइबि ॥१॥
खंभवा के फारि पहलाद के बँचवले जां,
ग्राह के मुँहे से गजराज के बचवले।
धोती जुरजोधना कै भइआ छोरत रहै,
परगट होके तहाँ कपड़ा बढ़वले।
मरले रवनवां के पलले भभिखना के,
कानी अंगुरी पै धँके पथरा उठवले।
कहवाँ सुतल बाटे सुनत न बाटे अब,
डोम जानि हमनी के छुए से डेराइले ॥२॥
हमनी के रात दिन मेहनत करीलेजां,
दुइगो रुपयवा दरमहा में पाइबि।
ठकुरे के सुखसेत घर में सुतल बानी,
हमनी के जोति-जोति खेतिया कमाइबि।
हकिमे कै लसकरि उतरल बानीं,
जेत उहओं बेगरिया में पकरल जाइबि।
मुँह बान्हि ऐसन नौकरिया करत बानी,
ई कुल खबर सरकार के सुनाइबि ॥३॥
बभने के लेखे हम भिखिया न मांगबजां,
ठकुरे के लेखे नहिं लउरि चलाइबि।
सहुआ के लेखे हम डांड़ी न मारबजां,
अहिरा के लेखे नहिं गइया चराइबि।

भंटवा के लेखे न कवित्त हम जोरबजां,
पगड़ी न बान्हि के कचहरी में जाइबि।
अपने पसनिवा कै पइसा कमाइबिजां,
घर भर मिलि-जुलि बांटि-चोटि खाइबि ॥४॥
हड़वा मसुइआ कै देहिया हे इमनी कै,
ओकरे के देहियां बभनवो कै बानी।
ओकरा कै घर-घर पुजवा होखत बाजे,
सगरै हलकवा भइलैं जजमानी।
हमनी कै इनरा कै निगिचे न जाइलेजां,
पांके में से भरि-भरि पिअतानी पानी।
पनही से पिटि-पिटि हांथ-गोड़ तुरि दैलैं,
हमनी के एतनी काहे के हलकानी ॥५॥

हीरा डोम ने यह कविता पटना से भेजी थी और पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसे 'सरस्वती' (सितम्बर, १९१४) में प्रकाशित किया था। हीरा की नहीं, अभी तक प्रकाशित डोम जाति के किसी भी भाई की यह एकमात्र रचना है। हीरा के विचारों में दलित संप्रदाय के लेखकों का-सा भटकावमूलक आक्रोश नहीं है। उनमें अपने समुदाय की वास्तविक पीड़ा है, इस पीड़ा के साथ जुड़े हुए संदर्भों पर दो-टूक राय है। उनकी पीड़ा समाज के जिस धार्मिक रूढ़िवाद और सामाजिक भेदभाव का परिणाम है, इस पर 'अछूत की शिकायत' में तीव्र आक्रमण है। लेकिन यह आक्रमण प्रतिक्रियाजन्य उतना नहीं, जितना 'अछूत' की मानवीय सत्ता को पुनः प्रतिष्ठित करने की स्वस्थ आकांक्षा का परिणाम है। इसीलिए वर्णव्यवस्था और उसके रक्षक धार्मिक विधान पर आक्रमण भी है और धर्मान्तरण के जरिये इस समस्या को सुलझाने वाली भावुकता का विरोध भी। हीरा जिस मानवी आकांक्षा से प्रेरित हैं, उसका स्रोत है उनका प्रखर वर्गदृष्टिकोण, इसलिए वे छुआछूत और वर्ग-उत्पीड़न को जोड़ कर देखते हैं, उससे छुटकारा पाने के लिए भी अपने श्रम में गहन आस्था से अनुप्राणित होते हैं। मेहनत की कमाई और घर भर का मिल-जुल कर बाँट-चोंट कर खाना—श्रमजीवी जनता की परस्पर सहयोग पर निर्मित संस्कृति और सभ्यता की यह रूपरेखा ही हीरा के क्रांतिकारी वर्ग-दृष्टिकोण का आधार है। इसीलिए उनका आवेश निषेधवाद से बच कर क्रांतिकारी बनाता है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद से संघर्ष के क्रम में भारत की श्रमजीवी जनता, उसके दबे-कुचले तबके स्वतंत्र भारत का कौन-सा सच देखना चाहते थे, 'अछूत की शिकायत' इसका स्वाभाविक प्रतिबिम्ब है। □

चुनरी में लागे ना दाग

☐ अखिलेश कुमार सांकृत्यायन, दशम 'ब'
☐ ओमप्रकाश सांकृत्यायन, दशम 'ब'

शहर और गाँव की होरी में बहुत अतर है। जब मैं गाँव जाता हूँ अपने लोगों के बीच होरी गीत सुनने का रस लेता हूँ। गाँव का वह मर्यादित प्राचीन परम्पराओं वाला होरी गीत अभी भी जीवन्त और मन को लुभाने वाला होता है। कुछ प्रमुख होरी गीत की बानगी देखी जाय :—

जेहि सुमिरत सभ काम बनतु हैं :—

मेरे गाँव के नौजवान गायक श्रीभरत राय जो आधुनिक ढंग के सिनेमाई गीतों के तर्जों पर होरी गीत गाने में मशहूर हैं; लेकिन उनको भी होरी गाने की शुरूआत में भगवान् शिव को सुमिरते हुए सुना -

सुमरो सिवशंकर प्रथम नाम ॥ टेक ॥
जिन्हिका सुमिरे, सभ अचल काम,
कासीपति आहे सम्भुनाथ ;
भोला बाबा धारहुँ ध्यान ॥ टेक ॥

आजु सदा सिव खेलत होरी—

शिव-सुमिरन के बाद जब वृद्ध गायक जागबलिक जी शिव जी के स्वभाव और रहन-सहन को उजागर करने वाले होरी गीत सुनाने लगे तब लगा सचमुच गाँव के लोगों के बीच होरी का उत्साह गहराई तक है—

आजु सदासिव खेलत होरी।
जटा जूट में गंग बिराजे, अंग में भसम रमो री।
बाहन बैल, ललाट चनरमा, मृगछाला अरू डोरी।
तीन आँखि सुन्दर चमकेला, सड़प गरें लिपटो री।
अद्भुत रूप उमा दे दउरी, संग में सखी करोरी॥
हँसत, लजत, मुसकात चनरमा, सभे सीधि इक ठोरी।
लेई गुलाल सम्भु पर छिरके, रंग में उन्हके बोरी॥
भइल लाल सभ देह सम्भु के, गउरी करे ठिठोरी॥

बाउर कन्त तोहार :—

इस होरी पद को बच्चे, बूढ़े और जवान बड़े उत्साह से गाते हैं। इस होरी पद में शिव जी की निन्दा के व्याज से अपनापन और प्यार उमड़ पड़ता है—

बाउर कंत तोहार हो, सिव कहलो न माने ॥ टेक ॥

पूरी मिठाई सिव का मनहीं न भावे भाँग धतूर के अहार हो ॥
हाथी घोड़ा सिव का मनहीं न आवे बूढ़ बरध असवार हो ॥

बम भोला बाबा कहाँ रँगवल पागरिया—

'कहवाँ रँगवल पागरिया' पर झाल-ढोल खूब बजता है। इस पद की आखिरी पंक्ति भगवान् शिव को अपनी नगरी में बसाने की भक्त हृदय की उत्कट लालसा प्रकट करती है।

बम भोला बाबा, कहवाँ रँगवल पागरिया ।। टेक ।।
कहवाँ बाबा के जाट्टा रँगइले, आरे, कहवाँ रँगइले पागरिया ।
कासी बाबा के जाट्टा रँगइले, आरे, बैजनाथ में पागरिया ।
तोहरा बयल के भूसा देबो, भँगिया देइबि भर गागरिया ।
बसऽ हमारी नगरिया हो बाबा, बसऽ हमारी नगरिया ।।

पनिया भरन कैसे जाऊँ अकेली —

इस होरी पद को हमारे गाँव के गनेश राम गोंड़ बहुत मस्ती में सुनाया करते हैं—

मोहन मारत रोरी, पनिया भरन कैसे जाऊँ अकेली ।
सासु मोरी दिहली कोरे घरिलवा कैसे भरूँ बिनु डोरी ।
मोहन मारत रोरी ।।

अँगना में लागल बा मेला हो—

जिस पत्नी का बालम विदेश में उसका हाव-भाव और उसकी विरहाकुलता चित्रण इस होरी पद में देखें—

अँगना में लागल बा मेला हो, खेलऽ रंग गुलेला ।।
निकसि बहुरिआ केंवरिआ ले झाँके,
मिलल नजरिआ केवरिआ के फाँके,
रसिअन के झुंड-झमेला हो, खेलऽ रंग गुलेला ।।
रग-रग बिहरेला बिरहा के मारे,
पपिहा के बोली दरदिआ उभारे,
उमगल जवानी, नयन मतवारे,
बलमा बेचारा बिदेसे लाचारे,
जोबना के कीमत अधेला हो, खेलऽ रंग गुलेला ।।

देख चुनरी में लागे न दाग सखी—

इस निरगुन पद को देखें । यहाँ चुनरी की उपमा शरीर से दी गई है । गीता में भी कहा गया है कि हम जीर्ण वस्त्र को त्याग कर जैसे नवीन वस्त्र धारण करते हैं, वैसे ही आत्मा जरा-जर्जर शरीर को त्याग कर नवीन शरीर ग्रहण करती है। इसीलिए इस पद में कवि कह रहा है कि जीवन को सहेज कर जीओ ।

देखऽ चुनरी में लागे न दाग सखी ।। टेक ।।
ई चुनरी पिया आप बनाये; तानि करमवाँ के ताग सखी ।
लाले रंग में रंगल चुनरिआ, प्रेम किनरिआ लाग सखी ।
ई चुनरी बड़ से ओढ़ऽ आनंद आय खुले भाग सखी ।।

भोजपुरी जनपद के मंगल और सगुन

☐ ललितेश्वर राय, प्रधान लिपिक

'सोनामाटी' ग्राम जीवन और भोजपुरी संस्कृति का एक प्रामाणिक दस्तावेज है। इस विशालकाय उपन्यास में भोजपुरी अंचल के पर्व-व्रत, नहान, रीति-रिवाज; मेला, होली, उत्सव-उच्छाह और तिलक-विवाह के सगुन (विवाह के समय कन्यापक्ष और वरपक्ष के करमट-लोकाचार) की उरेह अति विश्वसनीयता के साथ की गई है। ग्रामजीवन के कुशल चितेरा विवेकी राय के 'सोनामाटी' का फलक विस्तृत है। जीवन मूल्यों के प्रति उनकी आस्था बेजोड़ है। वे साँस लेती छवि उरेहते हैं। जनपदीय संस्कृति को मुखर अभिव्यक्ति देने में जो सफलता विवेकी राय को मिली है, वह दुर्लभ है। इस क्षेत्र में वे एक के बाद एक सफलता के शिखर छूते गए हैं और गाँव के मन को छूने-पहचानने की उन्होंने अपनी एक साका चलाई है।

मैंने चाहा कि 'सोनामाटी' के भित्तिचित्रों के 'वाचन' से जनपदीय संस्कृति को उजागर कर दूँ। लेकिन स्थान-संकोच और प्रधानतः मेरी अक्षमता के कारण यह संभव नहीं हो सका। 'ऊधो मन की मनहिं रही।' हमारे पाठक इस विवशता के लिए क्षमा करेंगे, यह भरोसा मेरे मन में है। इसी ग्रन्थ से कुछ अंश हम उद्धृत कर रहे हैं जिससे भोजपुरी जनपद में प्रचलित 'मंगल और सगुन' का एक स्वरूप पाठकों के समक्ष मूर्त्त हो उठता है।

तिलक गीत :

'ई जनि जनिहो समधी आंगन छोट बाड़े
अंगना के मालिक ह्वे रघुनाथ बाबू
तिलक लीहें नव लाख जी।'

पागल कुमारी कन्याओं, बाप लोगों के कपार पर खेलकर गा लो नव लाख लक के गीत ! पता नहीं ···· ···· ····परम्परागत विवाह बनाम खरीद-बिक्री के क्र से कब मुक्ति होगी !

····वह देखो कोई हल्ला कर रहा है, लोगों को पीछे हटाओ। ···· ··· ···· जगह है ? ··· ···· थान के थान कपड़े, वर के सेट ··· ···· ···· और पश्चिम बरामदे से पूरे उल्लास में गाना कढ़ता है—

'मोरे बबुआ पढ़े रंगरेजी, तिलक काहें थोर जी ?'

'जरा टारच दिखा दो तिलक गिनूँगी। ···· तिलकहरू सालों को खम्भे बाँधूगी।'···· ···· 'ठग लिया लड़का हमारा रे समधी बेईमान। सोने के थारा किया, पीतर के थारा चढ़ा दिया रे ····।

विवाह-मंगल-गीतः—

बेटी की दशा का मार्मिक वर्णन निम्न पंक्तियों में देखें—

आरे दुधंवा के निखियो ना दीहलू ए बेटी चललू सुनर वर साथ ए।
काहे के दुधवा पिअवल ए बाबा, काहे के कइल दुलार ए।
जानत रहल बाबा धिअवा पराई लगली सुनर वर साथ ए।

बेटी के मस्तिष्क में रात-दिन गीतों की पंक्तियाँ झनझनाती रहती हैं।.... 'के आवे हाथी, कोई आवे घोड़ा, के आवेला सुख पालकी ए .... घिया
सून अंगनवा ए बेटी.... ....।'

माँड़ो-गीत :

झाँझर माँड़ो को लेकर चलता गीत—

"बेरिया के बेरी तोके बरजी ए बाबा, झाँझर मँड़उआ जनि छाव।

क्यों बेटी, क्यों ? इसलिए कि झाँझर माँड़ों में से सूरज की 'दी लगेगी तो
बदन कुम्हला जायेगा। अच्छा ऐसा है ? तब कहो बेटी तो ऐसा छत्र तनवा
सूरज छिप जाय। नहीं, पिता जी, ... पौ फटते ही मैं किसी परदेशी के
चली जऊँगी।.... .... "खुशी खुशी जा।" बाबा ? क्या एक दो ? आज सारा
ही कन्या का बाबा है—

"बन पइसि बाबा बाँस कटावेले, ओही के मँड़वा छवांयो, जनकपुर माँ
पानन मोरे बाबा मँड़वा छववले, फुलवन झालरि लावे, जनकपुर माँड़

मटकोर :

कहँवा के पीयर माटी, कहँवा के कुदारि,
कहँवा के पाँच सहेली, माटी कोड़े अइली हो ।।१।।
जनकपुर के पीअर माटी, अजोध्या के कुदार
जनकपुर के पाँचो सखी, माटी कोड़े जास ।।२।।

हल्दी के गीत :

पहले ब्राह्मण पुरोहित ही हल्दी लगायेगा।.... .... अब चलें कन्या के पाँ
पाँच बार ....। आज टोल-पड़ोस के सारे बालक उसके भाई हैं।

"कोइरिनि-कोइरिनि तुहूँ मोरी रानी रे कहंवाँ के हरदी ऊपर कइलू
हमरो कमली देई अति सुकुवार रे सहि नाहीं सकेली, हरदिया के झाक
और कोइरिनि के बाद तेलिनि का आह्वान ... . हल्दी लगाने के

'चुमावन' गीत का रोमांच—

"साठी के चउरा लहालरि दूबि रे, चूमहि चलेली लछिमीना देई
मथवा चूमेली मुखे देली असीस रे जीअसु विनोद दुलहा लाख बरीस रे।

कोहबर :

भीतर उल्लास भरे कोहवर से अब गीत ध्वनि उठ रही है—

"कांच पितरिया के इहे नव कोहबर, मानिक दीप जरे
ताही कोहवर सूतेले दुलहा विनोद दुलहा जवरे कमली देई रानी।'

इन औरतों का करमट कितना-कितना विशाल है। कोहबर में जिधर दीवार की ओर मुँह करके कन्या वैठी है उधर दीवार पर वे गेरू रंग से पाँच लकीरें खींच गी, या कुछ बना देंगे। तब लड़कियाँ कोहबर लिखेंगी अर्थात् चित्रकारी हाथी; घोड़ा, गाय-आदमी···· ····तमाम अगड़म वगड़म।

परिछावन :

गाजे-बाजे के साथ गाँव की महिलाओं का मांगलिक सागर··· ····परिछावन के लिए उमड़ आया है।

"परिछे वाहर भइली बरवा के मायरि, आरसी सिन्होरा लेले हाथ रे।
किया वर परिछिलीं माथ के मऊर, किया वर तिलक लिलार रे।"

जलुआ—

'जलुआ' सिर्फ औरतों द्वारा सम्पन्न होता है। पुरुष का उस स्वांग में प्रवेश सम्भव नहीं। भाषण शोर-शराबा, गाली-गलौज,····ढोल थाली और मजीरा बजा-बजा कर···रतजगा कर रही हैं·······।

बूढ़ी फूआ को 'भोजइतिन' बनाया गया है। चारपाई के पाये पर कपड़ा लपेट कर 'जलुआ' बनाया गया है। उसका जनम होगा। ····'महौआ' होगा। सोहर उठेगा—

"केकरा महलिया लेके जाऊँ,
जलुआ बड़ा हो बेहाल,
कि मोरा जलुआ के वथेला कपार॥"

द्वारपूजा—[कन्याद्वार पर द्वारपूजा की झलक देखें]—

····गीत-गारी का झनकता-खनकता जोरदार हल्ला गली-गली; थोक-थोक और और एक जगह इकट्ठे द्वार पर पूरे उत्साह से········

"आपन खोरिया बहार हो फलाना बाबू आवत्त बाड़े दामाद।
बइठे के माँगे दुलहा लाल गलइचा लड़ने को माँगे मैदान।"

गीतों का क्रम आगे बढ़ा·····"बरात मँगली सबेर, त अइले अबेर····।"

"हाथी-हाथी शोर कइले, हाथी ना ले अइले रे! ए छिनार····" उधर औरतों की चहकती गाली एक कदम और आगे बढ़ गई, "आपन माई नचावत पो रे बने-बने।"

डालपूजा –

वर पक्ष की ओर से—'डाल' (आभूषण समुदाय) की सारी सामग्री ले लोग वैठ गये हैं, उधर लड़की मंडप में आ जाती है, ब्राह्मणियाँ मंगल-गीत कढ़ाती हैं—
"ओरी तर ओरी तर बइठे बरनेतिया, काढ़ न फलाना बाबा अपनी पुतरिया। का हम काढ़ों ए समधी अपनी पुतरिया, हमरो फलाना वेटी आँखि के पुतरिया।"

× × ×

"आइ गइले डाल-दउरी, आइ गइले सीर मउरी,
आइ गइले धिया के सोहाग कि धीआ ले चउक बइठे।"

मन्त्रोच्चार, डाल-पूजा··· सीने की चमक से आंगन जैसे जगर-मगर····लेकिन यह औरतें क्या गा रही हैं? · '·पीतल का गहना चढ़ा दिया रे समधी वेईमान।"

गुरहथी—

भसुरजी····कन्या के ललाट पर पान-दही का तिलक लगा रहे हैं और औरतें गीतों में उनकी खासी मरम्मत कर रही हैं।····ये आज की रात कन्या को छू दे हैं फिर कभी नहीं····। ये लँगड़ी टाँग वाले हैं, काने हैं, अरे इस महाशय के दाँ तो टाँगी जैसे हैं और उसी से ये विवाह के जलावन की सारी लकड़ी फार डाल हैं। एकदम जोकर बनाकर छोड़ा फिर आ गये चपेट में पुरोहितजी भी—

"करइल देस के चक्का, अइसन पंडितजी उच्चका।····"

वर का पीअरी धोती पहनना—

पीअरी धोती वर को धारण करने के लिए दी जाती है। औरतें गीत कढ़ाती हैं—

"धोती पेन्हो ए वर धोती पेन्हो, तोरे ससुर के वेसाहलि हो।
हड़र-हड़र करे ई तकुआ, तोरी सासु सूत कातेली हो।"

कन्याद न —

ब्राह्मण मण्डली ने वर पक्ष के तीन पुश्त के गोत्रोच्चार का कार्य सम्पन्न क लिया तो कन्यादान की बाड़ी आयी—

"बइठे कवन बाबा खरई डसाई रे।
जांघिया कुमुद वेटी लट छिटकाई रे।"

····संकल्प समाप्ति के बाद पिता ने कन्या का हाथ वर के हाथ में दे दिया। गीत चल रहा था—

"मँड़वा के बाँस धइले रोवेले फलाना बाबू, हाथे रूमाल मुख पान।
ई धिया समधी केकरा के सउँपौं, केही करी प्रतिपाल?"

समूचा वातावरण आर्द्र और उत्फुल्ल है। एक सनातन सांस्कृतिक जादू के प्रभाव से विभोर आँखें कन्यादान के इस मांगलिक दृश्य को देखने में तल्लीन हैं। लावा····लावा····।

अगला करमट। हल्ला हुआ—-

"मोर लावा तोर लावा एक में मिलाउँ रे····।"

सप्तपदी—

कन्या सात वचन वर से स्वीकार कराती है कि····सुख-दुख···में शान्त रहोगे।····यज्ञादि उत्सव में पत्नी की अनुमति अनिवार्य होगी। व्रतदान आदि में हस्तक्षेप नहीं करोगे।····खरीद-बिक्री में पत्नी का परामर्श अत्यावश्यक होगा।····वस्त्र आदि जो···उसे उतारने के अधिकारी नहीं होंगे और अन्तिम····पत्नी बन्धु-बान्धव के घर—अपनी इच्छा से जाएगी।

'धार' और 'सिन्दूर बुहारी' 'सिन्दूर दान'

लड़की का भाई अब 'धार' दे रहा है। सावधान धार कहीं टूटे न। धार टूटी कि बहन को हार जाओगे।····और अब पाणिग्रहण 'सेन्दुर वान्हो सेन्दुर ए र।'····वर 'सनइली' द्वारा कन्या की माँग को सौभाग्य सिन्दूर से रंजित कर देता है। सुमंगली हो गयी।'····जरा गौर करें इस गीत की पक्तियों पर—

> "बाबा-बाबा पुकारीला, बाबा न बोले रे।
> बाबा को बरिअइयें सेनुर धर डालेले रे।"

दुलहिन के घर आने पर परिछावन—

'कनिया' अर्थात् नयी दुलहिन को लेकर टैक्सी····के पहुँचते ही····औरतें····गाती-बजाती जुट गयीं। पालकी अब कहाँ चलती है? गयी डोली-कहार की संस्कृति। टैक्सी के आगे ही 'छाक' दिया जायेगा? मातादाई का गीत शुरू है, "माता जे उतरेली बाग में···।"

····और उस समय··कहारों के कन्धे पर एक पालकी आ गयी। "····अरे जल्दी करो, हमारी फूल जैसी····कुम्हला गयी होगी।"····गान्धी आश्रम की रंगीन सिल्क वाली साड़ी; हाथ भी काँपकर इधर-उधर बहक जाता है।····'सरकारजी चौक पूर रही हैं कि खलिहान छील रही हैं? फिर हंसी की बाढ़। अब बहू को उतारो···अरे टूट मत पड़ो। दउरी-डाली कहाँ है?····रंगीन डाली, एकदम नयी, संख्या में दो। वर-वधू····आगे-पीछे। पीछे की दउरी आगे करते····। उधर सनातन गाना जारी है—

> "हलबल हलबल कनिअवा चले, हरजोता के जामलि रे।
> धीरे-धीरे मोरे बाबुल चले, पतिसाह के जामल रे।"

ा छेकाई—

—'मैं भइया का द्वार छेकूँगी।'····'प्रेजेन्ट नहीं, भाई साहब, द्वार छेंकायी का नेग।'····बोलो क्या चाहिए?····

—और, इस प्रकार विवाह संस्कार के ये गीत कदम-कदम पर फूल बुनकर गम-गम कर उठते हैं। लोक जीवन तो गीतों में ही हंसता-बोलता-गरिआता-मुस्काता है। भोजपुरी जनपद के अंचल विशेष 'करइल' में गाये जाने वाले इन गीतों से ही मिलते-जुलते मंगल गान पूरे जनपद को मंगलमय कर देते हैं।

□

पहेली

(श्री प्रकाश केशरी, आइ० ए०, राजशेखर अजय कुमार १० 'अ', उदय शंकर सिंह १० 'स', चन्दन किशोर, नवलप्रकाश दीपक ९ 'अ', सरफराज, रहमान अली ८ 'स', राकेशचन्द ७ 'अ'।)

पहेलियों को भोजपुरी में 'बुझौवल' कहते हैं। जब हम बहुत छोटे थे, तब दादी माँ ढेर सारा बुझौवल बुझाया सुझाया करती थीं। उस समय इसका रहस्यमय अर्थ समझ में नहीं आता था। लेकिन जैसे-जैसे उम्र बढ़ती गई, बचपन में सुनी हुई पहेली का रहस्य खुलने लगा। कुछ सुनी हुई, कुछ पढ़ी हुई पहेलियों का संकलन करके हम अपने बीते बचपन की याद ताजा कर रहे हैं—

१. 'आहा आहा आहा, छगोड़ दू बाहा।
पीठिया पर पोंछि जामल, ई तमाशा काहाँ ?' —(तराजू)

२. 'फरे न फुलाइ, भरि दउरी तुराइ।'—(पान)

३. लाल छड़ी भुँइ में गड़ी, सासु ले पतोहु बड़ी। —(शक्करकन्द)

४. 'लाल गाय खर खाइ, पानी पीये मर जाइ।'— (आग)

५. एक चिरइया चट, ओकरा पांख बोले पट,
ओकरा खलरा ओदार, ओकर माँस मजेदार।'—(गन्ना)

६. हरदी के गाब गूब, पिलरे के लोटा,
बूझबे त बूझ ना त बनरे क बेटा।' —बेल (श्रीफल)

७. खैर कसइली चूना, पान
दू बेकती का बाइस कान।' —(रावण और मन्दोदरी)

८. इचिक दाना बिचिक दाना, दाना ऊपर दाना।
छत का ऊपर लरिकी नाचे, लरिका बा दिवाना। —(अनार)

९. एक टाँगि के गाय बाटे, दुइ टाँगि के गुआला।
गइया ऊपर चढ़ि के दूहे—दूनों टाँगि छनाला।
—गाय 'ताड़' है और ग्वाला 'पासी' है।

१०. नाथल भईंसा घर-घर घूमे। —सूजा (सीनेवाला)

११. 'हाथ नाहीं पैर नाहीं अकासे चलि जाला।
बूझ तू बजरंगी बाबा, कवन जानवर जाला।' —(धुआँ)

१२. 'एक नारि नौरंगी, गरजे खन मुस्कावे,
तरह तरह के कपड़ा पेन्हे लोगन के तरसावे।' —(सतरंगी इन्द्रधनुष)

१३. 'अत्थल पर पत्थल, पत्थल पर पइसा।
बे पानी के घर बनावे, ऊ कारीगर कइसा ?' —(मकड़ा)

१४. 'जटा में आगि भवन में पानी।
जे बूझे से बड़ा गियानी।' —(हुक्का)

१५. लाल कोठिया—टहकार ढकना।
खोलु ढकना चोहपाउ पटना॥ —(लेटर बाक्स, पत्रपेटी)

मुहावरा

(संजयकुमार चौबे, श्यामसुन्दर राय, जयप्रकाश राय, मुरारीमोहन राय, आइ० ए०, पवन कुमार १० 'स', अशोक कुमार १० 'अ', सुशील शंकर, राकेश कुमार ९ 'स', अशोक कुमार, आनन्द कुमार श्रीवास्तव, धनंजय कुमार सिनहा, उद्धवजी सिंह, संजय कुमार गुप्त, ९, रहमान अंसारी, ८ 'अ' शौकत अली, ७ 'ब')।

पानी उतारल — इज्जत उतारना।
नाक में पानी कइल —परेशान करना।
पानी पी के जाति पूछल —ढोंग करना।
केहू तीर घाट केहू मीर घाट —बिखरा होना।
झख मारल —बेकार होना।
बूढ़ि के पानी पीअल —चालाकी करना।
एके लकड़ी से हाँकल —छोटे-बड़े का भेद न करना।
गोबर गनेस भइल —मूर्ख होना।
घोड़ा बेचि के सूतल —निश्चिन्त होना।
भींजल बिलारि भइल —दब्बू होना।
अबरा पर जबरा —निर्बल के लिए सशक्त।
साँप के दूध पिआवल —दुष्ट को सहायता देना।
अकास-पताल एक कइल — दौड़-धूप करना।
ऊसर में बिआ डालल —मूर्ख को शिक्षा देना।
गोंइठा में घीव सोखावल —व्यर्थ खर्च करना।
शह दीहल —बढ़ावा देना।
लटटू नीयर नाचल — दूसरे के कहने पर चलना।
गोटी जमावल —धाक जमाना।
ताल ठोकल —चुनौती देना।
टाँयटाँय फिस भइल —योजना समाप्त होना।
झंडा गाड़ल — बात पर अड़े रहना।
एकै अखाड़ा के चेला भइल —एक स्वभाव का होना।
बज्जर गिरल —संकट आना।
तान तूरल —नखड़ा दिखाना।
रास रचावल —आनन्द मनाना।
तोड़ गनल —रुपया देना।
कौड़ी के भाव बिकाइल —सस्ता होना।
निनावे का फेर में परल —धन के लिए चिन्तित होना।
छप्पन छुरी बयालिस पच —सभी चाल चलना।
तेरहा करम भइल —फजीहत होना।
केड़ी मारल —कम तौलना।
हुक्का पानी बन्द कइल —जाति से बहिष्कृत करना।
बे पेनी के लोटा भइल — दृढ़ निश्चयी न होना।
लाल दरवाजा देखावल —जेल भेज देना।
सात परदा का हेठा राखल —गुप्त रखना।
कपारे चढ़ावल —अधिक महत्व देना।

□

कहावतें और लोकोक्तियाँ

[अनुरोध कुमार सिन्हा, आइ०ए०, विनय कुमार वर्मा, अलाउद्दीन, अनुराध कुमार श्रीवास्तव ९ स, मनोज कुमार, स्वयंवर सिंह ९ 'द', राजीवरंजन मिश्र, ८ 'ई', संजय कुमार जायसवाल ८ 'स', मनीषचन्द्र ७ 'इ', कुन्दन कुमार ७ 'इ',

१. ई तऽ गाँधी बाबा के मुराज हो गइल ।
किसी बहुत दिनों से लगी हुई आशा की पूर्त्ति में विलम्ब होना ।)

२. कहाँ राजा भोज आउर कहाँ भोजवा तेली ।
(दो व्यक्तियों या वस्तुओं में अधिक अन्तर के कारण तुलना की सम्भावना न होना ।)

३. अनकर धन पर विकरम राजा । (दूसरे की कमाई पर इठलाना ।)

४. काशी बसले का होई जब घर औरंगाबाद ।
(उपयुक्त साधन अपनाने पर भी अशिष्ट सफलता नहीं प्राप्त करता ।)

५. जब हम तूँ राजी तऽ का करिहें काजी ।
(आपस की एकता के कारण दूसरे के विरोध की परवा न करना ।)

६. रहर के टाटी गुजराती ताला ।
(बेमेल कार्य या दिखावटीपन पर व्यंग्य ।)

७. दमड़ी के मुरगा टका चहुँपाई ।
(साध्य से अधिक साधन पर खर्च होना ।)

निम्न लोकोक्तियों को देखिये जिनका भाव व अर्थ सहज ही स्पष्ट है —

८. पइसा ना कौड़ी बीच बजार में दौड़ा-दौड़ी ।
९. ऊगे अगस्त बन, फूले काँस, अब नइखे बरखा के आस ।
१०. करिया बादर जिउ डरावन, भूअर बादर पानी लावन ।
११. लाल पीअर जब होय अकास, तब ना बा बरखा के आस ।
१२. अटकी से भटकी ।
१३. घर फूटे, गाँव लूटे; गाँव फूटे जवार लूटे ।
१४. ना अति वक्ता, ना अति चुप्प ।
१५. जहाँ बूझ ना बड़ाई, तड़ाँ से भाग चल रे भाई ।
१६. जानेली चिलम, जेपर चढ़ेली अंगारी ।

[उस दुःख को चिलम ही जानती है, जिसपर अंगार चढ़ता है । दुःख भोगने वाला ही दुःख को समझता है ।]

१७. देवकुर गइले दूना दुख ।
(दुःख को दूर करने के प्रयत्न में दुःख का और बढ़ना ।)

१८. तेली के तेल जरे मसालची के जीव जाय ।
(तेल, तेली का जलता है, किन्तु दिल जलता है मसालची का । खर्च होता है और का और चिन्ता होती है किसी और को)]

१९. आगे नाथ न पाछे पगहा ।
(बिना किसी जिम्मेवारी और चिन्ता के होना ।)

२०. बड़-बड़ जना दहाइल जासु, गदहा पूछे कतना पानी ।
(अयोग्य असमर्थ होते हुए भी गंभीर मामलों में टाँग अड़ाना ।

□

भोजपुरी लोकोक्तियाँ एवं कहावतें

□ श्री शिव बहादुर पाण्डेय, स०

१. आजे बनिया काल्हे सेठ ।
२. गाछे कटहर ओठे तेल ।
३. छुछून्नर का चानी चमेली क तेल ।
४. बांड़ त बांड़ गइलन नौ हाथ के पगहो ले गइलन ।
५. हारि के हारि चउरिये ।
६. माई जोगु बछरू पिता जोगु घोड़, ना ढेर त थोरहुँ थोर ।
७. बानर का हाथे नरियर ।
८. आपन ढ़ेंढ़र ना निहारे दूसरा का आँखि में फुल्ली देखे ।
९. कोइरी (नोनियाँ) के बिटिया ना नैहरे सुख ना ससुरे सुख ।
१०. वेबानि के चनन लिलार चरचराय ।
११. एँड़ी के धूरि बड़ेरी ।
१२. सहकल गौरैया भरसाँई में खोंता ।
१३. खाये के ठेकाने ना नहाये के तड़के ।
१४. घास न भूसा दूनो बेरा खरहरा ।
१५. गुरही जरि गइल अईंठन ना गइल ।
१६. भर हाथे चूड़ी ना त पट देने राँड़ ।
१७. कोखि खातिर गइलीं, मँगियो गँववलीं ।
१८. रोजा के गइली नमाज परल गरे ।
१९. जनम भर सेवलीं कासी, मरे का बेरी मगह के बाँसी ।
२०. सब कुकुर कासी जइहें त हांड़ी के चाटी ?
२१. रूख न बिरिछ तहँ रेंड़ परधान ।
२२. खँसी के जान जाय खवैया के सवादे ना ।
२३. चिरई के जान जाय लइकन के खेलवना ।
२४. जइसन उदई तइसन भा न, इनका चुरूकी न उनका कान ।
२५. दलिदर के बेटी नाम लछमिनिया ।
२६. भरि घरे देवर भतार से मटकी ।
२७. मूस खेले बिलाई से घर्रा ।
२८. अबर देबी जबर बोका ।
२९. जइसन देवता ओइसन पूजा ।
३०. झोरी में कुछ ना सराई में डेरा ।

३१. हर द हरवाह द हाँके के पैनो द ।
३२. मुअला बरधा कें बड़ि-बड़ि आँखि ।
३३. बेमन के बियाह कनपटिये सेनुर ।
३४. सै चोट सोनार के ना एक चोट लोहार के ।
३५. बड़ के अगाड़ी ना घोड़ा के पछाड़ी ।
३६. पुराने चाउर पंथ परेला ।
३७. फेरि फेरि सियार तरकुल तरे जइहें ?
३८. सुआ ना सुतारी, गल्ला के व्यापारी ।
३९. हरकल माने बाकिर परिकल न माने ।
४०. खिआवे ना पिआवे, मांग टीके धावे ।
४१. गदहा के इयारी लात के सनसनहट ।
४२. मगला भूत के लँगोटियो भला ।
४३. बड़ बड़ भूत कदम तर रोयें आ मूआ मागे पूआ ।
४४. जेकरे बियाह ओकरे खाड़ा दरी ।
४५. जेकरे माई पूआ पकावे ओकरे धिया ललचे ।
४६. हर न बैल अँकवार भरि के पैना ।
४७. हँसुआ कें वियाह में खुरपी के गीत ।
४८. अन्हरा विलारि के घरहीं सिकार ।
४९. गोदी में लइका भरि गांवे ढिंढ़ोरा ।
५०. जइसन कँकरी ओइसन बिया, जइसन माई ओइसन धिया ।

☐

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भाषा-दृष्टि

☐ प्रस्तोता : शौकत अली अन्सारी, (अष्टम

आधुनिक भारत की संस्कृति की उपमा एक शतदल कमल के साथ दी सकती है। जिसका एक-एक दल एक-एक प्रान्तिक भाषा और उसकी साहि संस्कृति है। किसी एक को मिटा देने से उस कमल की शोभा की हानि होगी। चाहते हैं कि भारत की सब प्रान्तीय बोलियाँ, जिनमें साहित्य-सृष्टि हुई हो, अपने घर में रानी बन कर रहें। प्रान्तिक जनगण की हार्दिक चिन्ता की भूमि स्वरूप कविता की भाषा प्रान्तीय बोलियाँ रहें और आधुनिक भाषाओं हार की मध्यमणि बन कर हिन्दी विराजती रहे।

मेरे विचार में प्रान्तिक भाषाओं के पुनरुजीवन के साथ भाषा हिन्दी की भी क्षति नहीं होगी। ☐

बिहार लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में बिहार की भाषाओं को मान्यता

☐ डॉ० अनिल कुमार आंजनेय

☐ प्रस्तोता : श्री गोपाल प्रसाद, स० शिक्षक

[आज से एक दशक पूर्व डॉ० आंजनेय ने यह परिपत्र प्रसारित किया था। संयोगवश यह मूल्यवान् दस्तावेज मेरे संग्रह में सुरक्षित था। डॉ० आंजनेय ने इस परिपत्र को प्रकाशित करने की अनुमति देकर मुझे अनुगृहीत किया है, अस्तु मैं डॉक्टर साहब का आभारी हूँ।

डॉ० आंजनेय के विचारों का महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है। आपका चिन्तन फलक विस्तृत है। अपने इस परिपत्र मे बिहार को केन्द्र में रखकर आप देश के भविष्य की चिन्ता करते दिखाई दे रहे हैं। भाषा का प्रश्न बिहार के भाग्य से ही नहीं, देश की अस्मिता और इसके भविष्य से जुड़ा हुआ है।···· भाषा के व्याज से निहित स्वार्थ का राजनीतिक चक्र निरन्तर चल रहा है। आग लगी हुई है। पंजाब जल रहा है, असम जल रहा है, कश्मीर जल रहा है और राजनीतिज्ञ 'स्वाहा' के साथ अपने प्यारे देश भारत की अस्मिता की ही आहुति दे रहे हैं।····आइये, डॉ० आंजनेय के विचारोत्तेजक लेख के आलोक में भाषा के प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक चिन्तन करें। यह परिपत्र हमें गम्भीर चिन्तन के लिए आमन्त्रित कर रहा है। तथास्तु।

—गोपाल प्रसाद]

बिहार सरकार ने बिहार लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में वैकल्पिक विषय के रूप में मैथिली साहित्य के समावेश को स्वीकृति देकर एक ऐतिहासिक निर्णय लिया है। ऐतिहासिक निर्णय हमेशा सही ही होते हों, ऐसी बात नहीं। ऐतिहासिक निर्णय किसी देश या क्षेत्रविशेष की नियति को विशेष दिशा में मोड़ने का कार्य करते हैं। वह दिशा सुख और समृद्धि की भी हो सकती है, विनाश तथा दुर्भाग्य की भी।

बिहार लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में मैथिली को समाविष्ट करने का सरकारी निर्णय बिहार के लिए सौभाग्य बनेगा या दुर्भाग्य यह तो अन्तिम रूप से भविष्य ही बता सकता है, पर इस सम्बन्ध में बुद्धिजीवियों और राजनीतिक कर्णधारों को गम्भीरतापूर्वक सोचने की जरूरत है। लगता है, राजनीतिक कर्णधार या तो इस विषय को महत्त्वहीन समझ रहे हैं या किसी 'विशेष' कारण से, जिसमें उनकी व्यक्तिगत या राजनीतिक असुविधा प्रमुख हो सकती है, इस प्रश्न को टाल देना चाह

रहे हैं। मुख्यमन्त्री श्री केदार पांडेय का विधान सभा में यह वक्तव्य कि साहित्यिक उपलब्धियों की दृष्टि से मैथिली इतनी समृद्ध हो गयी है कि उसे लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं का विषय बनाया जा सकता है, जबकि भोजपुरी, मगही, वज्जिका, अंगिका आदि भाषाएँ इस दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं, इस बात का परिचायक है कि हम राजनीतिज्ञों से इस सम्बन्ध में सही निर्णय की आशा नहीं कर सकते। राजनीतिज्ञों के निर्णय 'राजनीतिक कारणों' से प्रभावित होते हैं। मिथिला क्षेत्र में बिहार के अन्य क्षेत्रों की तुलना में राजनीतिक चेतना अधिक हैं। वे शोरगुल मचा सकते हैं, वे राजनीतिज्ञों के लिए सरदर्द का कारण बन सकते हैं, उनकी आवाज को बुलन्द करने वाले, उनकी माँग को बार बार दुहराने वाले 'इंडियन नेशन' और 'आर्यावर्त' जैसे समाचार-पत्र उनकी मुट्ठी मे हैं। बिहार के अन्य क्षत्र इस राजनीतिक चेतना और विशेषकर इस अखबारी हथियार से रहित हैं; अतः स्वाभाविक ही है कि राजनीतिज्ञ उनके हितों की रक्षा करने में अग्रसर न हों, उनके जजबातों को सुनने समझने से इनकार करें।

ऐसी स्थिति में बुद्धिजीवियों का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे इस स्थिति पर विचार करें, इसका विश्लेषण कर इसके भावी परिणाम की सम्भावनाओं को सामने रखें ताकि ताकि राजनीतिज्ञों की बन्द आँखे खुल सकें।

सबसे पहले हम इस मूल समस्या पर विचार करें कि 'साहित्य' क्यों परीक्षाओं का विषय बनाया जाता है। इससे अधिक मौलिक प्रश्न यह है कि 'साहित्य' क्यों पढ़ाया जाता है; क्योंकि जो पढ़ाया जाता है वही परीक्षाओं का विषय बनता है। साहित्यिकों और बुद्धिजीवियों ने इस प्रश्न का उत्तर अनेक पुस्तकों में विस्तारपूर्वक दिया है, जिसका सारांश यह है कि साहित्य हमारे अनुभवों को समृद्ध बनाता है। मनुष्य का जीवन सीमित होता है। किसी भी आदमी के जीवन में खुद के अनुभव इतने नहीं हो सकते कि वह उनके सहारे एक 'सम्पूर्ण' या 'सफल' मनुष्य बन सकें। साहित्य में नाना प्रकार की मानवीय स्थितियाँ, अनुभव, संकट के क्षण, अनुभूतियाँ आदि मूर्त रूप धारण कर हमारे सामने आती हैं और हमारे अनुभव, के कोश को समृद्ध बना जाती हैं, जिनके आलोक में हम अपने जीवन में सही निर्णय ले पाने में समर्थ होते हैं। किसी अच्छी पुस्तक को आरम्भ करते समय हम जो आदमी रहते हैं, उसे समाप्त करने पर उससे सर्वथा भिन्न, श्रेष्ठतर, व्यक्ति के रूप में परिवर्तित हो गये रहते हैं, यद्यपि इस बात की जानकारी हमें खुद नहीं होती। इससे स्पष्ट हैं कि साहित्य की पढ़ाई इसलिए होती है कि हम अपने अनुभवकोश को समृद्ध बना सकें, हमारी चेतना और संवेदना तीव्र हो सके तथा हम 'पूर्ण मानव' बन सकें। जाहिर है कि इसके लिए पढ़ाये जानेवाले साहित्य का समृद्ध होना आवश्यक है। 'समृद्धि' एक सापेक्ष विशेषण है जिसे किसी भी अंश तक खींचा जा सकता है।

समृद्धि' के लिए जहाँ यह आवश्यक है कि किसी भाषा में दीर्घ काल से साहित्य-रचना होती आ रही हो; वहाँ यह भी जरूरी है कि सामाजिक-राजनीतिक या अन्य कारणों से अनेक प्रतिभाशाली लोग उस भाषा में लिखते रहे हों और लिख रहे हों।

इस परिप्रेक्ष्य में यदि हम बिहार में बोली जाने वाली भाषाओं पर विचार करें तो उनमें हिंदी और उर्दू को छोड़कर किसी भी अन्य भाषा का साहित्य समृद्ध नहीं कहा जा सकता। भोजपुरी, मगही, अंगिका, वज्जिका, तथा आदिवासियों की भाषाओं को छोड़ दें क्योंकि उन्हें अपनी भाषाओं की समृद्धि का दावा नहीं है। पर मैथिली साहित्य पर इस दृष्टि से विचार किया जा सकता है। मैथिली के समर्थक अपने साहित्य की समृद्धि के दावे के रूप में सैकड़ों लेखकों के नाम गिना सकते हैं; पर साहित्यक उपलब्धि की दृष्टि से मैथिली की स्थिति क्या है, यह किसी से छिपी नहीं है। प्राचीन कवियों में विद्यापति और उमापति ही ऐसे नाम हैं जिनका उल्लेख किया जा सकता है। विद्यापति एक श्रेष्ठ कवि हैं, इसमें सन्देह नहीं, पर उनके काव्य-विषय में वैविध्य नहीं है; उनका काव्य हमारे अनुभव-कोश को उल्लेखनीय और किसी सार्थक रूप में समृद्ध नहीं करता। उनकी कविता कामिनी का शरीर और थोड़ा बहुत मन ही नापती रह जाती है, मानव-जीवन के अनुभवों और भावनाओं का वैविध्य और विस्तार उनमें नहीं है। उमापति के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। आधुनिक मैथिली साहित्य के कवियों और लेखकों में चंदन झा से लेकर राजकमल चौधरी के बीच पं० जनार्दन झा जनसीदन, पं० सीताराम झा, हरिमोहन झा, यात्री, जोगानन्द झा, उपेन्द्रनाथ झा व्यास, मायानन्द मिश्र, काशीकान्त मिश्र 'मधुप', ईशनाथ झा, रमानन्द रेणु, शैलेन्द्र रेणु, शैलेन्द्र मोहन झा, मणिपद्म आदि के नाम गिनाये जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें कतिपय श्रेष्ठ लेखक हैं। पं० हरिमोहन झा, यात्री (हिन्दी के नागार्जुन) और राजकमल चौधरी उच्च कोटि के लेखक हैं। पर किसी साहित्य को तब तक 'समृद्ध' नहीं माना जा सकता, जब तक कि उसमें उच्च कोटि के लेखकों की संख्या सैकड़ों में न हो और साहित्य की हर विधा में लिखने वाले, और अच्छा लिखने वाले, काफी संख्या में न हों। निश्चय ही मैथिली इस बात का दावा नहीं कर सकती।

लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में मैथिली साहित्य को समाविष्ट करने के पीछे यह तर्क दिया गया है कि मैथिली आरम्भ से लेकर उच्च कक्षाओं तक में पढ़ाई जाती है। जब मैथिली उच्च कक्षाओं में पढ़ाई जाती है तो लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में इसे स्थान मिलना ही चाहिए, यह बड़ा ही स्वाभाविक निष्कर्ष प्रतीत होता है। पर यह निष्कर्ष जितना स्वाभाविक और निर्दोष 'प्रतीत होता' है उतना वस्तुतः है नहीं। हमारा ध्यान इस बात की ओर भी जाना चाहिए कि मैथिली पढ़ते कौन लोग हैं? क्या छोटानागपुर, पटना और भागलपुर

कमिश्नरियों तथा छपरा, मोतीहारी और मुजफ्फरपुर जिलों के छात्र भी मैथिली पढ़ते हैं ? यदि इन क्षेत्रों के छात्र भी मैथिली पढ़ते होते तो उच्च कक्षाओं में मैथिली की पढ़ाई का विशेष अर्थ होता। अभी की स्थिति तो यह है कि ऑनर्स और एम० ए० की कक्षाओं में मैथिली पढ़ने वाले छात्रों की संख्या दो-चार से ज्यादा नहीं होती। दूसरी बात यह है कि मैथिली के एम० ए० तक की कक्षाओं में पढ़ाये जाने से भोजपुरी, मगही और वज्जिका क्षेत्रों तथा छोटानागपुर के निवासियों के स्वार्थ पर कोई आघात नहीं पहुँचता था। अगर किसी खास क्षेत्र के निवासी अपनी भाषा का साहित्य, चाहे वह असमृद्ध ही क्यों न हो, पढ़ना ही चाहते हैं, तो इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है या कोई क्या कर सकता है ! पर लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में मैथिली के समावेश से बिहार के अन्य भाषाभाषी क्षेत्रों के हितों पर सीधा आघात पहुँचता है। लोक सेवा आयोग की परीक्षाएँ अखिल बिहारीय स्तर पर होती हैं। समस्त बिहार के लिए कुछ निश्चित पद होते हैं और उनके लिए योग्य प्रत्याशियों को चुना जाता है। यह चुनाव परीक्षाओं के द्वारा होता है, जहाँ योग्यता का आधार विभिन्न विषयों में प्राप्त अंक होते हैं। साहित्य विषय के रूप में लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में अब तक स्वीकृत विषय रहे हैं : संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अँगरेजी, फारसी, अरबी और पाली। अब तक बिहार लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं के अधिकांश परीक्षार्थी साहित्य विषय के रूप में संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अँगरेजी लेते रहे हैं। उर्दू को छोड़ दें, तो संस्कृत, हिन्दी और अँगरेजी विषय लेने वाले परीक्षार्थियों को अंकप्राप्ति की दृष्टि से आनुपातिक रूप में कोई हानि नहीं पहुँचती थी। इनमें से कोई भी किसी क्षेत्रविशेष की भाषा नहीं है। ये तीनों राष्ट्रीय स्तर की भाषाएँ हैं। मैथिली के प्रवेश से यह सन्तुलन नष्ट हो जाएगा। मैथिली बिहार के एक क्षेत्रविशेष की भाषा है। उस क्षेत्रविशेष के प्रत्याशी वैकल्पिक विषय के रूप में अनिवार्यतः मैथिली साहित्य को रखेंगे। मैथिली में उन्हें बिना पढ़े या बहुत कम मिहनत करके ऊँचे अंक प्राप्त होंगे। इसके दो कारण हैं। (१) मैथिली साहित्य में पढ़ने के लिए उतनी सामग्री नहीं है, जितनी संस्कृत, हिन्दी या अँगरेजी में है। अतः मैथिली साहित्य लेनेवालों का परिश्रम बच जाएगा, जिसे वे अपने दूसरे विषयों की तैयारी में लगाएँगे। (२) मैथिली साहित्य की ओर परीक्षार्थियों को आकृष्ट करने के लिए उसके परीक्षक परीक्षार्थियों को ऊँचे अंक देंगे। यह सुविधा अँगरेजी, संस्कृत और हिन्दी लेनेवालों को नहीं मिल सकती। फल यह होगा कि अधिकतर सफल प्रत्याशी मिथिला क्षेत्र के होंगे और इस प्रकार मिथिलावासी सारे बिहार पर शासन करेंगे और अमैथिलीभाषी युवक मारे मारे फिरेंगे। क्या यह भविष्य के लिए एक विस्फोटक स्थिति सिद्ध नहीं होगी ?

एक और बात है जिसकी तरफ सरकार का ध्यान जाना चाहिए था। अखिल बिहारीय स्तर की परीक्षाओं के लिए, सभी परिक्षार्थियों के हितों को ध्यान में रखते हुए स्वीकृत विषयों की प्रकृति कम से कम 'अखिल बिहारीय' अवश्य होनी चाहिए। मैथिली की प्रकृति 'अखिल बिहारीय' नहीं है, अत: जब मैथिली को परीक्षा-विषय के रूप में मान्यता दी गयी है तो इसके साथ साथ भोजपुरी, मगही, वज्जिका, अंगिका, सन्ताली, हो, नागपुरी, बँगला आदि सभी भाषाओं को भी, जो बिहार में बोली जाती हैं, मान्यता मिलनी चाहिए थी। यहाँ किसी भाषा के समृद्ध होने या दूसरी के असमृद्ध होने की बात उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है—और सच तो यह है कि भोजपुरी मैथिली की तुलना में किसी भी मानी में कम विकसित भाषा नहीं है। अत: मैथिली के साथ भोजपुरी, मगही आदि को भी बिहार लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं के वैकल्पिक साहित्य विषय के रूप में मान्यता प्रदान की जानी चाहिए या इस निर्णय के साथ ही मिथिला को एक अलग राज्य घोषित कर दिया जाना चाहिए। एक ही राज्य में किसी क्षेत्र विशेष को, अन्य क्षेत्रों के हितों की उपेक्षा करके, एक के बाद दूसरी सुविधाएँ देते जाने से कहीं अच्छा है, उसे अलग राज्य बना देना। मिथिला राज्य के लोक सेवा आयोग में मैथिली को मान्यता मिलेगी तो किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी, पर बिहार में मैथिली को मान्यता दिये जाने से अन्य भाषाभाषियों की आपत्ति बहुत स्वाभाविक है।

मैथिली के साथ भोजपुरी, मगही आदि बिहारी भाषाओं को बिहार लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में समाविष्ट करने की माँग करते समय हम हिन्दी के हित को नजरअन्दाज नहीं कर रहे हैं। यह तो सही है कि इस सरकारी निर्णय और हमारी इस माँग से सबसे ज्यादा अहित हिन्दी का होगा। जब भोजपुरी-मगही आदि बिहारी भाषाएँ मैथिली की तरह उच्च कक्षाओं में अध्ययन-अध्यापन और लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं का विषय बन जाएँगी तो फिर हिन्दी कौन पढ़ेगा? अभी हिन्दी बिहार की साहित्यिक और सांस्कृतिक भाषा मानी जाती है, पर क्या भोजपुरी, मगही आदि को मान्यता मिल जाने पर हिन्दी की यह स्थिति बनी रहेगी? स्पष्ट है कि तब बिहार में भी हिन्दी का वही स्थान हो जाएगा, जो महाराष्ट्र या गुजरात में है। सचमुच हिन्दी के लिए वह दुर्भाग्य का दिन होगा।

पर मैथिली को साहित्य अकादमी ने मान्यता देकर तथा उसे बिहार लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं का विषय बना कर बिहार से हिन्दी को समाप्त करने का अभियान तो केन्द्रीय और राज्य सरकारें ही शुरू कर चुकी हैं। बिहार के मैथिलीतर भाषाभाषी-क्षेत्र इन निर्णयों से क्षुब्ध हैं। हिन्दी (अपने आधुनिक रूप में) उनकी मातृभाषा नहीं है। 'हिन्दी' उन्हें सीखनी पड़ती है। (यह दूसरी बात है कि

हिन्दी सीखने में उन्हें बंगाल, तमिलनाडु, आन्ध्र, केरल के निवासियों जैसी कठिनाई नहीं होती) फिर वे क्या करें ? हिन्दी के लिए वे कब तक अपने हितों की उपेक्षा करते रहें ? यदि मैथिली राज्य अलग हो जाए तो शेष बिहार में कुछ दिनों तक शायद हिन्दी चलायी जा सकती है। पर यह भी ज्यादा दिनों तक नहीं चलने को। मैथिली की सफलता से प्रेरित होकर भोजतुरी और मगही क्षेत्र के लोग भी अपने स्वार्थ की बात सोचने लगे हैं। बिहार में अब हिन्दी को बचाना मुश्किल है।

हमने आरम्भ में ही कहा है कि यह ऐतिहासिक निर्णय है। यह ऐतिहासिक निर्णय बिहार के विघटन का बीजारोपण है। बुद्धिजीवियों को इस समस्या पर विचार करना चाहिए और विघटन से पूर्व होने वाले विनाश की सम्भावना से बचने का उपाय सोचना चाहिए। हमारी समझ में इसका एक ही उपाय है, मैथिली के साथ साथ बिहार की सभी भाषाओं को तत्काल लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में मान्यता देना। हिन्दी का इससे कुछ नुकसान तो अवश्य होगा, पर इससे हजारों-हजार प्रत्याशी अन्याय के चक्र में पिसने से बच जाएँगे, या हम उस विस्फोट के लिए तैयार रहें, जो अल्पसंख्यकों द्वारा बहुसंख्यकों के हितों को हड़पने से पैदा होता है।"

(डॉ० आंज़नेय ने यह लेख तब लिखा था जब तत्कालीन मुख्यमंत्री केदार पाण्डेय (अब स्वर्गवासी) ने मैथिली भाषियों को उपकृत करने के लिए, उन्हें राजनीतिक कारणों से प्रसन्न करने के लिए बिहार लोक सेवा आयोग में मैथिली को एक विषय बनाया था। डॉ० आंजनेय की सभी शंकायें सत्य सिद्ध हुई हैं और इससे भोजपुरी-मगही छात्रों के साथ घोर अन्याय हो रहा है—उनकी रोजी-रोटी के मामलों में भी उपेक्षा हो रही है। अखिल भारतीय भोजपुरी साहित्य सम्मेलन के अनेक अधिवेशनों में प्रस्ताव पारित किए गए, बार-बार मांग की गई किन्तु भोजपुरी को न तो अबतक साहित्य अकादमी से मान्यता ही मिली और न बिहार लोक सेवा आयोग में ही उसे विषय के रूप में स्वीकृति मिल पाई है। यही हाल मगही आदि अन्य भाषाओं का भी है। इसका एक कारण इन क्षेत्रों के राजनेताओं की निष्क्रियता भी है। इन नेताओं को न तो अपनी मातृभाषा से लगाव है और न अपने क्षेत्र से प्रेम। किसी भी क्षेत्र की औद्योगिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक-सामाजिक उन्नति वहां के निवासियों के जागरूक होने से ही सम्भव है और यह जागरण मातृभाषा की समृद्धि के द्वारा ही लाया जा सकता है। पता नहीं कब हमारे नेताओं को अक्ल आएगी और वे सही कदम उठा पावेंगे। बिहार के पिछड़ेपन का एक बड़ा कारण यहाँ की भाषाओं का उपेक्षित और निराश्रित होना भी है। —गोपाल प्रसाद)

□

महामहिम राष्ट्रपति और हिन्दी भाषा

☐ मधुमंगल राय, व्याख्याता

महामहिम राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह हिन्दी के प्रबल समर्थक हैं। वे विदेशों में भी जहाँ-जहाँ गए अपना भाषण हिन्दी में ही किया जिसका सीधा अनुवाद वहाँ की भाषा में किया गया। महारानी एलिजाबेथ के सम्मान में दिए गए भोज में भी उन्होंने स्वागत भाषण हिन्दी में ही दिया। उनके राष्ट्रपति होने से पहले राष्ट्रपति भवन में हिन्दी की पत्र-पत्रिकायें नहीं आती थीं। आजाद भारत के राष्ट्रपति भवन में ही जब भारतीय भाषाओं का कोई स्थान न हो तो देश की एकता कैसे रह सकती है? इनके आदेश से अब हिन्दी के समाचार पत्र और पत्रिकायें राष्ट्रपति भवन में आने लगी हैं। ज्ञानी साहब की मातृभाषा पंजाबी हैं, उर्दू पर उनका अधिकार है, शेरो-शायरी के लिए वे ख्यात् हैं, अँग्रेजी भी वे अच्छी जानते हैं और भी जिस किसी सभा या सेमिनार में वे शिरकत करते हैं, हिन्दी में ही भाषण देना उचित समझते हैं। हिन्दी जानने वालों को अंग्रेजी में बोलते-भाषण करते देखकर वे तुरन्त टोकते हैं, फटकारते हैं। हिन्दी को सम्मान देना, संविधान को सम्मान देना है। संसद में भी वे अपना भाषण मूलतः हिन्दी में ही देते हैं।

राष्ट्रपति जैल सिंह जी की हिन्दी और अन्य जनपदीय भाषाओं के प्रति दृष्टि बिलकुल साफ है। उनके भाषा सम्बन्धी विचारों को महत्त्व दिया जाना चाहिए।

☐ "जो देश अपनी माँ और अपनी मातृभाषा का आदर नहीं कर सकता; दुनिया में कोई उसकी इज्जत नहीं करेगा। अपनी माँ दूसरे की माँ से कितनी भी कम सुन्दर और कम समझदार हो, फिर भी वह अपनी माँ है। दूसरे की माँ अपनी माँ के समान हो नहीं सकती।"

☐ "संविधान में हिन्दी को राजभाषा स्वीकार किया गया है, इसलिए हमें हिन्दी को अधिक-से अधिक बढ़ावा देना चाहिए। राष्ट्रभाषा का सम्मान स्वतंत्र भारत के संविधान का सम्मान है, पूरे राष्ट्र का सम्मान है।"

☐ "हिन्दी ही एकमात्र भाषा है, जो समूचे देश को एक कड़ी में पिरोती है। हिन्दी यदि कमजोर होती है, तो देश कमजोर होता है। हिन्दी मजबूत हुई तो देश की एकता मजबूत होगी।"

☐ "उर्दू और हिन्दी दोनों का जन्म भारत में हुआ है। दोनों ही भारतीय भाषाएँ हैं, जो सारे भारत में समझी जाती हैं। ये दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं। किसी भी भाषा को किसी धर्म विशेष के साथ जोड़ना ठीक नहीं है।"

☐ "प्रादेशिक भाषाओं की कीमत पर हिन्दी का विकास नहीं किया जा सकता परन्तु अगर अँग्रेजी की क़ीमत पर हिन्दी आती है तो हर्ज क्या है?"

☐ "प्रादेशिक भाषाओं की समृद्धि से राष्ट्रभाषा की ही समृद्धि होगी, बेशक वह और मजबूत और व्यापक होगी।" ☐

'अनछुए प्रसंग'

☐ **श्री उमाशंकर राय,**
एम०ए०, बी०एल०, बी०ए०

सन् १९१४ के प्रथम विश्व-युद्ध- की संघर्ष एवं विनाश की घड़ी में बक्सर के ऐतिहासिक नगर में मानवता की प्रगति हेतु कतिपय शिक्षा-प्रेमियों ने १ मार्च, १९१४ को एक शिशु संस्था की स्थापना की, जो 'भूमिहार ब्राह्मण मिड स्कूल' की संज्ञा से अभिहित किया गया। कालान्तर में १५ वर्षों की अल्प अवधि में ही वर्ष-१९२९ में बिहार एवं उड़ीसा प्रान्त के तत्कालीन लोकल सेल्फ गवर्नमेंट के शिक्षा मंत्री सर गणेश दत्त ने इस विद्यालय का उद्घाटन किया जिसका प्रस्तर शिलालेख आज भी मूक साक्षी है। पुनः दूसरे पन्द्रहवें वर्ष १९४४ में इसके ह में विस्तार व विकास हेतु एक ऐतिहासिक निर्णय लिया गया। परिणाम स्वरूप प्रथम जनवरी १९४५ को 'भूमिहार ब्राह्मण उच्च विद्यालय' (बी०बी० हाई स्कूल) अपने वर्तमान अस्तित्व में आया।

यह विद्यालय (अब इण्टर कॉलेज) भूमिहार ब्राह्मण मिडल-स्कूल (बी०बी० मिडल स्कूल) का ही क्रमशः उत्क्रमित व विकसित रूप है। एतदर्थ यह 'भूमिहार ब्राह्मण 'नाम' से ही अभिहित हुआ। विद्यालय की स्थापना में भूमि, भवन, राशि आदि की व्यवस्था में, भूमिहार ब्राह्मण जाति के सम्पन्न, उदार एवं दानी व्यक्तियों ने चंदे एवं दान से काफी सहयोग किया।

विद्यालय के नये रूप में आने के पूर्व मिडल स्कूल का भवन पश्चिम दिशा में, ज दो मंजिला भव्य भवन अवस्थित है, खपरैल के चार कमरों के रूप में अवस्थित था। स्व० शिव प्रसाद पाण्डेय, वकील, पाण्डेय पट्टी, बक्सर मिडल स्कूल की स्थापना एवं विकास में विशेष अभिरूचि रखते थे। उन्हीं की प्रेरणा एवं अन्य लो के अनुरोध पर गंगौली वासी स्व० श्री गंगाधारी ठाकुर ने मिडल स्कूल का ए पक्का भवन बनवाया जिसमें ५ कोठरियाँ तथा एक बरामदा था। आज का प्राथ कक्ष, कार्यालय, शिक्षक कक्ष, पुस्तकालय एवं एन०सी० सी० कक्ष उन्हीं की पु स्मृति स्वरूप हैं।

इस मिडल स्कूल को हाई स्कूल के रूप में उत्क्रमित करने के कई प्रयत्न पर सदैव निष्फल हुए। स्व० राजेश्वर पाण्डेय, मुख्तार (पाण्डे पट्टी) अपने स्व० श्री शिव प्रसाद पाण्डेय के विद्याव्यसनी स्वभाव को अक्षुण्ण रखते हुए स्कूल की प्रगति एवं विकास में पूरी तत्परता एवं ईमानदारी से कार्यरत रहे।

बी०बी० उच्च विद्यालय की स्थापना में जून १९४४ में बक्सर में भारतीय भूमिहार ब्राह्मण महासभा के अधिवेशन ने ही पृष्ठभूमि का कार्य कि

अधिवेशनोपरान्त भूमिहार ब्राह्मण वंश के कुछ प्रमुख संभ्रान्त एवं समाजसेवी क्तियों की एक बैठक हुई, जिसमें यह ऐतिहासिक निर्णय लिया गया कि बक्सर में 'भूमिहार ब्राह्मण हाई स्कूल' खोला जाय। साथ ही यह भी निर्णय हुआ कि १०००) (एकहजार रूपये) की राशि जो अधिवेशन के खर्च के उपरान्त अवशेष है; उसे विद्यालय स्थापना हेतु चन्दा दे दिया जाय। इसकी स्थापना एवं संचालन हेतु निम्नांकित क्तियों की एक कार्यकारिणी समिति गठित की गयी जो बाद में विद्यालय की न्धकारिणी समिति भी बनी।

विद्यालय जन्मदातृ समिति के निम्नांकित सदस्य थे :—

१. चौधरी कालिका प्रसाद राय, डुमरांव
२. चौधरी बृजमोहन राय, मगरांव
३. श्री राजेश्वर पाण्डे, मुख्तार, पाण्डेयपट्टी (बक्सर)
४. श्री अंबिका प्रसाद ठाकुर, आनरेरी मजिस्ट्रेट, गंगौली
५. श्री रामनरेश राय — खोचढ़िया (राजपुर)
६. श्री जगदीश राय — कुछिला (रामगढ़)
७. श्री श्यामा चरण राय — सगरा (राजपुर)
८. श्री राम सुन्दर राय, वकील — बरजा (आरा)
९. श्री मुक्लेश्वर कुमार, वकील — बक्सर

वर्ष १९४५ की १ जनवरी से वर्ग ८ एवं ९ दो वर्ग खोले गये। वर्ग ८ में ३० था वर्ग ९ में मात्र ५ छात्र रहे। श्री शिव कुमार ठाकुर, जो पूर्व में मिडल स्कूल के डमास्टर रह चुके थे, को प्रधानाध्यापक के रूप में नियुत किया गया। सर्वश्री गदीश शर्मा, अंगद प्रसाद राय एवं गिरजानन्दन प्रसाद शिक्षकों की नियुक्ति द्वारा रंभिक अध्यापन कार्य शुरू किया गया।

अपनी स्थापना के दो वर्षों के अन्तर्गत ही जनवरी १९४७ में विद्यालय को वीकृति प्राप्त हुई। मार्च १९४८ में मिडल स्कूल का उच्च विद्यालय में विलयन या गया। विलयन के समय गत्यावरोध तो उत्पन्न हुआ, पर अन्ततोगत्वा सर्व म्मति से दोनों विद्यालयों को मिलाकर 'बी०बी० हाई स्कूल' का नया कलेवर ना। १९५७ तक प्रधानाचार्य श्री शिवकुमार ठाकुर ने भवन-निर्माण एवं क्षणिक प्रगति का कार्य सफलता के साथ सम्पन्न किया। छात्रसंख्या में वृद्धि; नुशासन एवं प्रशासनिक व्यवस्था सभी दृष्टियों से विद्यालय को उन्होंने उत्थान ी ओर उन्मुख किया। श्री ठाकुर ने विद्यालय के संस्थापक प्रधानाध्यापक के प में रहकर महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

श्री शिवकुमार ठाकुर के बक्सर क्षेत्र के विधान सभा सदस्य होने के उपरान्त

विद्यालय का कार्यभार (१९५७ से मई,६० तक) श्री दुर्गा प्रसाद राय, प्रभारी प्रधानाध्यापक ने संवहन किया। उन्होंने भी विद्यालय के पूर्वी पार्श्व में एक दो मंजिले भवन का निर्माण कार्य सम्पन्न कराकर सराहनीय कार्य किया।

मई, १९६० में श्री अंगद प्रसाद राय प्रधानाचार्य के पद पर आसीन हुए और २० वर्षों की-लंबी अवधि में विद्यालय की चतुर्दिक प्रगति कर प्रशंसा के पात्र बने। विद्यालय के पश्चिम पार्श्व का भव्य दोमंजिला भवन, शौचालय, क्रीड़ांगन की पक्की चहारदीवारी आदि उनके रचनात्मक सूझ-बूझ के प्रतीक हैं। वर्ष १९६२ में उ०वि० की सफलता एवं प्रगति के आधार पर श्री राय के कुशल नेतृत्व में इसे उच्चतर मा० विद्या० के रूप में उत्क्रमित किया गया। निस्संदेह इस विद्यालय को शैक्षणिक मानचित्र पर स्थापित करने में प्राचार्य श्री अंगद प्रसाद राय ने अमूल्य योगदान किया है।

इस विद्यालय के जन्म, संवर्द्धन एवं विकास में जिन दो व्यक्तियों का पुण्य स्मरण किया जाना चाहिये, वे थे प्रबंध समिति के अध्यक्ष स्व० अम्बिका प्रसाद ठाकुर एवं मंत्री स्व० राजेश्वर पांडेय। विद्यालय उनकी निःस्वार्थ सेवाओं के प्रति ऋणी है। स्व० विश्वनाथ राय, विधायक (रामगढ़) ने विद्यालय को झंझा एवं तूफान से बचाने में धन, समय एवं शक्ति द्वारा जो प्रशंसनीय कार्य किया है, वह आज भी स्मरणीय है और भविष्य में भी स्मरणीय रहेगा। स्व० वैजनाथ राय, एम०एल०सी० (शाहाबाद सह गया) जो यहाँ के एक प्रतिभाशाली शिक्षक भी रह चुके थे, ने इसके अभ्युदय एवं विकास में अपनी निःस्वार्थ सेवायें अर्पित की।

श्री मार्कण्डेय राय, पूर्व प्रधानाध्यापक, उच्च विद्यालय कोचस (रोहतास) ने प्रबंध समिति के सदस्य का कार्यभार संवहन करते हुए विद्यालय की मान-मर्यादा को अक्षुण्ण रखने हेतु राज्य सरकार के विरूद्ध उच्च न्यायालय पटना में याचिका दाखिल कर सराहनीय कार्य किया। प्रबंध समिति के अन्य मान्य सदस्यों में स्व० श्री मुकेश्वर कुमार राय, राजाराम शर्मा वकील द्वय की सेवाओं के साथ समिति के अध्यक्ष डा० चतुर्भुज सिंह की सेवायें स्मरणीय एवं प्रशंसनीय हैं। विद्यालय के अंकेक्षक श्री राय सिंहासन राय, वकील एवं श्री कृष्ण कुमार सिंह, सदस्य की सेवायें भी सतत याद की जायेंगी।

वर्ष १९६० से १९८० की अवधि में प्राचार्य श्री अंगद प्रसाद राय ने इसे राज्य के एक स्तरीय विद्यालय के रूप में खड़ा किया। इस अवधि में आज के उद्योग मंत्री श्री रामाश्रय प्रसाद सिंह का आगमन तथा श्री रणजीत बहादुर सिंह, एम० एल० सी०, शाहाबाद-सह-गया स्नातक क्षेत्र, का आना उल्लेखनीय है।

विद्यालय के शिक्षक मंडल में सर्वश्री कैलाशपति राय, राजेश्वर राय, स्व० शिवपूजन राय (विशारद जी), मार्कण्डेय राय, स्व० लाल मोहर राय, शिवपूजन

राय, गिरिजानन्दन प्रसाद, पं० जगदीश शर्मा प्रभृत्ति की अमूल्य सेवाओं को विद्यालय सदैव स्मरण करता रहेगा। तत्कालीन उपलब्धियाँ खेल-कूद, एन० सी० सी० तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में भी कम प्रशंसनीय नहीं रहीं। स्व० उदय नारायण राय एवं श्री जगत नारायण राय एन० सी० सी० शिक्षकों के कार्य सदैव सराहनीय रहे। सांस्कृतिक क्षेत्र मे कवि-सम्मेलन, नाटकीय मंचन के साथ-ही-साथ सर्वप्रमुख कार्य हुआ वर्ष १९६७ में 'ज्ञानतरंगिणी' शैक्षणिक एवं साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन। इसे राज्य की एक स्तरीय पत्रिका बनाने में विद्वान् शिक्षक डॉ० अनिल कुमार 'आंजनेय' प्रधान सम्पादक का प्रमुख हाथ रहा। श्री अंगद प्रसाद राय, प्राचार्य ने संरक्षक का दायित्व संवहन करते हुए डॉ० 'आंजनेय' को ही यह महान् दायित्व सौंप कर निस्संदेह अपनी दूरदृष्टि का परिचय दिया।

२-१०-८० को विहार राज्य के सभी उच्च विद्यालयों के राजकीयकृत होने के परिणामस्वरूप इस विद्यालय का कार्यभार प्रभारी प्रधानाध्यापक श्री शिवशंकर राय के ऊपर आ पड़ा। विद्यालय से १-१०-८० से अपराह्न में ही श्री अंगद प्रसाद राय, प्रधानाचार्य, श्री दुर्गा प्रसाद राय, उप प्रधानाध्यापक एवं पं० जगदीश शर्मा, प्रधान पंडित विद्यालयीय सेवा से निवृत्त हुए।

इस अन्तरिम अवधि में एक अस्थायी अशान्ति आयी। श्री शिवशंकर राय, प्रभारी प्रधानाध्यापक ने २ महीने की अवधि में विद्यालय की नौका बड़ी ही सूझ-बूझ एवं धैर्य के साथ किनारे लगायी। ११-१२-८० को राज्य सरकार द्वारा श्री उमाशंकर राय, प्रधानाध्यापक, उच्च विद्यालय (पूर्लिया) के स्थानान्तरण के परिणामस्वरूप उनके योगदान से यह विद्यालय अपने सहज रूप में आ गया।

वर्तमान समय तो स्वयं साक्षी है विद्यालय के विकास एवं संवर्द्धन का। १९८० से १९८५ के पाँच वर्षीय लघु जीवन में विद्यालय में कुछ उल्लेखनीय कार्य-सम्पन्न हुए। अध्यापन, प्रशासनिक व्यवस्था एवं परीक्षाफल के अलावा किसी शैक्षणिक संस्था के सहक्रिया-कलाप ही उसके मूल्यांकन के सही मानदंड होते हैं। इस दृष्टि से विद्यालय में अनेकानेक सांस्कृतिक आयोजन हुए जो विद्यालय की जीवन्तता एवं सक्रियता के द्योतक हैं। विद्यालय में कवि सम्मेलन, मुशायरे, कौमी एकता, जयन्तियाँ, नाटकीय मंचन आदि विविध क्रिया-कलापों का आयोजन हुआ। कविवर श्री अविनाशचन्द्र विद्यार्थी, आचार्य गणेशदत्त किरण, मानसमर्मज्ञ श्री रामप्रवेश शास्त्री, हिन्दुस्तानी आन्दोलन के संस्थापक प्रो० मधु मेहता आदि का आगमन उल्लेखनीय है। विनोबा भावे के नैतिक अधिकारी बाल विजय भाई का 'समता का संदेश' आज भी अक्षुण्ण है।

विद्यालय के शिक्षक डॉ० अनिल कुमार 'आंजनेय' एवं प्रसिद्ध लेखक आचार्य कुलदीप नारायण राय 'झड़प' को उनकी जनपदीय साहित्य सेवा के निमित्त १९८३

में सम्मानित किया गया। राष्ट्रीय ख्याति के लेखक डॉ० विवेकी राय की अध्यक्षता में यह उत्सव संपन्न हुआ। इसका उद्घाटन प्रसिद्ध समीक्षक डॉ० जितेन्द्रनाथ पाठक ने किया। तत्कालीन जिला शिक्षा पदाधिकारी डॉ० ब्रजकिशोर गिरि के अलावा प्रमुख साहित्यकार सर्वश्री सर्वेन्द्रपति त्रिपाठी, हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय', पाण्डेय कपिल, श्री कृष्णराय हृदयेश, प्रो० ब्रजकिशोर, प्रो० नर्मदेश्वर राय आदि की उपस्थिति विद्यालय की शोभावृद्धि में सहायक हुई।

१९८५ का वर्ष विद्यालय के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय वर्ष के रूप में स्मरण किया जाना चाहिए। इस वर्ष विद्यालय में वर्तमान जिला शिक्षा पदाधिकारी श्री दशरथ तिवारी की अध्यक्षता एवं मुख्य अतिथि डॉ० विवेकी राय की उपस्थिति में विद्यालय के सेवा निवृत्त प्राचार्य श्री अंगद प्रसाद राय, श्री दुर्गा प्रसाद राय, सहायक प्रधानाध्यापक पं० जगदीश शर्मा, आचार्य एवं दादागुरु श्री मार्कण्डेय राय प्रभृति को सम्मानित किया गया। यह एक अविस्मरणीय ऐतिहासिक सम्मान प्रदर्शन था जिसमें प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी विमलानन्द सरस्वती, अनेकानेक शिक्षाविद्, समाजसेवी तथा जिले के प्रायः सभी प्रधानाध्यापकों एवं अन्य मान्य शिक्षकों की उपस्थिति उल्लेखनीय रही। श्री श्याम जी सिंह, राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त शिक्षक भी इस मौके पर उपस्थित थे।

२० मई १९८५ को विद्यालय के नवनिर्मित सर गणेशदत्त विज्ञान भवन का उद्घाटन माननीया शिक्षा मंत्री श्रीमती उमा पाण्डेय के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ जिसकी अध्यक्षता विशेष शिक्षा निदेशक श्री रामनरेश राय जी ने की। इस ऐतिहासिक अवसर पर माननीय श्री शत्रुघ्न प्रशाद सिंह, विधायक एवं महामंत्री बिहार मा० शि० संघ, श्री प्रमोद वन विहारी सिंह, क्षेत्रीय शिक्षोपनिदेशक, पटना प्रमंडल, श्री दशरथ तिवारी, जिला शिक्षा पदाधिकारी, भोजपुर, मनीषी लेखक डॉ० विवेकी राय की कृपापूर्ण उपस्थिति उल्लेखनीय है। श्री केदार नाथ सिंह, सिनेटर एवं सम्पादक ने भी उपस्थित होकर विद्यालय को उपकृत किया। श्री श्रीकान्त पाठक विधायक, बक्सर भी उपस्थित रहे। भोजपुर एवं रोहतास के प्रधानाध्यापकों एवं शिक्षकों की उपस्थिति ने इसकी शैक्षणिक उपयोगिता में वृद्धि की। भव्य विज्ञान-भवन को पूरा करने में सर्वश्री शिव शंकर राय, गोपाल प्रसाद इन दोनों सदस्यों ने वर्ष १९८४-८५ में जिस लगन एवं तत्परता से अपना समय देकर इस कार्य को पूरा किया, इसके लिए वे भूरि-भूरि प्रशंसा के पात्र हैं। आदरणीय जिला शिक्षा पदाधिकारी श्री दशरथ तिवारी के कुशल निर्देश, संरक्षा एवं सुरक्षा में ही यह भवन निर्मित हुआ, ऐसा कहना कोई अत्युक्ति नहीं। उनकी प्रेरणा एवं उनका

मार्ग-निर्देश विद्यालय के शिलालेख पर अंकित हैं तथा वे सदैव आदर के साथ स्मरण किए जाएँगे ।

जुलाई '८५ में भोजपुर जिला एवं बक्सर अनुमंडल शिक्षक संघ के अधिवेशन के समय प्रो० के० के० तिवारी, प्रखर सांसद (अब केन्द्रीय मंत्री), श्री पद्मदेव नारायण शर्मा, विधायक एवं प्राचार्य, वाणिज्य महाविद्यालय, पटना वि० वि० एवं श्री दशरथ तिवारी, जि० शिक्षा पदा० भोजपुर की सौजन्यतापूर्ण उपस्थिति ने सम्मेलन को सफल बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया ।

विद्यालय का चरमोत्कर्ष रूप परिलक्षित हुआ १ अगस्त १९८५ को जिस दिन इसे राजकीयकृत इन्टर कालेज (१०+२) के रूप में उत्क्रमित किया गया । ४ सितम्बर '८५ को माननीय सभापति (बिहार विधान परिषद्) प्रो० अरूण कुमार ने इसका उद्घाटन किया । डॉ० गोपाल राय, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पटना कालेज ने इस उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता की । मुख्य अतिथि डॉ० विवेकी राय, श्री दशरथ तिवारी, जिला शिक्षा पदा०, भोजपुर की उपस्थिति स्मरणीय एवं सराहनीय रही । श्री श्याम जी सिंह एवं जिले के सभी प्रधानाध्यापकों तथा शिक्षकों की उपस्थिति से हम अभिभूत एवं गौरवान्वित हुए ।

इस अवधि में विद्यालय में सिरकत करने वालों में श्री कृष्णकान्त सिंह, भूतपूर्व वित्त एवं शिक्षा मंत्री, श्री राजू सिंह, भूतपूर्व ग्राम अभियंत्रण मंत्री एवं प्रो० रामयतन सिन्हा, भूतपूर्व राज्य मंत्री का उल्लेख करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है ।

विद्यालय की पत्रिका 'ज्ञानतरंगिणी' के 'गाँधी स्मृति अंक', 'दिनकर स्मृति अंक' एवं 'तिलक स्मृति अंक' ऐसे ऐतिहासिक दस्तावेज हैं जिनके प्रकाश में विद्यालय का नाम व प्रतिष्ठा राज्य में ही नहीं अपितु अन्य राज्यों में भी फैली हुई है । इसके लिए इसके प्रधान सम्पादक डॉ० अनिल कुमार 'आंजनेय' का विद्यालय सदैव आभारी रहेगा ।

खेल-कूद व क्रीड़ा प्रभारी श्री गणेश उपाध्याय, एन० सी० सी० आफिसर श्री कमलाकान्त राय, पुस्तकाध्यक्ष श्री रमेश शर्मा अपने संबंधित विभागों की देख-रेख में सतत सक्रिय रहे हैं । इनके कार्य संतोषप्रद एवं प्रशंसनीय हैं ।

विद्यालय में जिन्होंने अपनी सेवायें अर्पित की उनमें से कुछ हमारे बीच नहीं रहे किन्तु उनकी पुण्य स्मृति हमें स्फुरित करती रहेगी । प्रबंध समिति के सदस्य संरक्षक सर्वश्री अंबिका प्रसाद ठाकुर, रामेश्वर पांडेय, राय राजाराम शर्मा (वकील); जगदीश राय, राम नरेश राय, चौ० कालिका प्रसाद राय, चौ० बृजमोहन राय; राम सुन्दर राय (वकील), विश्वनाथ राय (एम० एल० ए०), बैजनाथ राय (एम० एल० सी०), श्यामाचरण राय आदि आज हमारे बीच नहीं रहे । शिक्षकों में सर्व

श्री शिवपूजन राय (विशारद जी), बैजनाथ राय (एम० एल० सी०), जगदेव राय, लाल मोहर राय, उदय नारायण राय आदि सेवा निवृत्त शिक्षक अब नहीं रहे। इनका पुण्य स्मरण करते हुए दिवंगत आत्माओं की शान्ति हेतु ईश्वर से प्रार्थना है।

हमारे कुछ सहकर्मी विद्यालयों के राजकीयकृत होने के फलस्वरूप स्थानान्तरित होकर हमसे बिछुड़ गये। इनमें सर्वश्री जनार्दन राय, नागेश्वर राय, रामनाथ तिवारी एवं सिद्धेश्वर उपाध्याय हैं। कुछ ही दिन हुए मौलवी वशीरुद्दीन अहमद एवं आचार्य पं० राजेन्द्र शर्मा भी विद्यालयीय सेवा से निवृत्त हो गये। इन दोनों शिक्षकों की विद्यालय ने भावभीनी विदाई जि० शि० पदा० भोजपुर (श्री दशरथ तिवारी) की अध्यक्षता में दिनांक २१-१२-८५ को की। नये सदस्यों में सर्वश्री शिव बहादुर पांडेय, रामप्रकाश शर्मा, विभूति नारायण राय, रमेश शर्मा, मदन मोहन राय, उमाशरण शर्मा, ललितेश्वर राय, ललन सिंह, विश्वामित्र पाण्डेय, लक्ष्मी नारायण राय, विश्वनाथ दूबे, परमहंस सिंह आदि नवयुवक सहकर्मी हैं। जाने वाले एवं आने वाले सभी हमारे सम्मान एवं आदर के पात्र हैं।

विद्यालय के इन अनछुए प्रसंगों का उल्लेख करना व स्मरण कराना मात्र उत्साह संवर्द्धन एवं प्रेरणा देने हेतु नहीं है वरन् मेरा अभीष्ट है एक न्यायोचित नैतिक पहलू को उजागर करना जो अधेरे में दुबका, सहमा एवं सिमटा हुआ है। मिड्ल स्कूल से उच्च विद्यालय व उच्चतर मा० वि० के स्तरोन्मुख से सम्प्रति विद्यालय इंटर कालेज के रूप में उत्क्रमित होकर राज्य के शिक्षा जगत् में अपना स्थान सुरक्षित रखने के लिए संघर्षरत है। परमेश्वर इसकी प्रगति में सहायक हों, यह हमारी प्रार्थना है।

अपनी प्रिय संस्था जहाँ ११ वर्षीय बालक के रूप में १९३९ में एक देहाती छात्र के रूप में वर्ग षष्ठ (छठा) में प्रवेश किया और आज १९८५ की ३१ दिसम्बर '८५ को प्राचार्य पद से सेवा निवृत्त होते हुए विछोह एवं वियोग की पीड़ा तो होती है, पर आन्तरिक अनिर्वचनीय सुख एवं संतोष भी होता है. इसकी प्रगति एवं उत्कर्ष को देखकर। नये प्राचार्य श्री केशव प्रसाद राय के योगदान से भविष्य के सुन्दर सुनहले सपने देखते हुए, सहकर्मियों के प्रति शुभकामना रखते हुए विद्यालय से विदा ले रहा हूँ।

"सर्वे भवन्तु सुखिनः; सव सन्तु निरामयाः।"

—प्राचार्य

३१-१२-८५

शिव प्रसाद विद्या मन्दिर इन्टर कॉलेज, बक्सर

जनपदीय भाषाओं में प्रचलित गाली-गीत

☐ राजवल्लभ सिंह,
राष्ट्रपति-पुरस्कार-प्राप्त शिक्षक

आम तौर पर आप किसी को गाली दें तो वह बहुत बुरा मान जाएगा और वह आपसे बड़ी शारीरिक हस्ती वाला हुआ तो फिर आपकी हल्की-फुल्की मरम्मत भी कर देगा। गाली बकना अच्छी बात नहीं है किन्तु गालियों का अपना मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी होता है और उचित अवसरों पर गाली सुनने में मजा भी आता है। अजीब बात है कि गाली देने और गाली सुनने दोनों से कभी-कभी मानसिक तनाव दूर हो जाते हैं और दमित वासनाओं को भी प्रकारान्तर से बाहर निकलने का मौका मिल जाता है। मनुष्य हमेशा गम्भीर चेहरा बनाए नहीं रख सकता, वह कदम-कदम पर केवल 'सम्मान' और 'विनय-भाव' के 'शिष्ट प्रदर्शन' का मार्ग भी नहीं अपना सकता। शिष्टता श्लाघनीय है किन्तु प्रतिक्षण इसे गम्भीरतापूर्वक ओढ़े रहने से तनाव उत्पन्न हो सकता है और फिर व्यक्तित्व में अनेक गाँठें भीतर ही भीतर उभर कर आ सकती हैं। अतएव मनोरंजन की श्रेणी में ही 'हँसी-मजाक' तथा 'व्यंग्य-विनोद' को भी व्यक्तित्व-तिर्माण के लिए अत्यावश्यक माना गया है। 'गाली देना' और 'गाली सुनना' भी इसी प्रकार की श्रेणी का एक मनोरंजन है और लोकजीवन में इसे भी मर्यादा दी गई है।

जन-जीवन में ऐसे भी कुछ रिश्ते होते हैं जिनमें अश्लीलता की सीमा तक हँसी-मजाक, छेड़-छाड़ तथा गाली-गलौज को मान्यता प्रदान की गई है। ससुराल में सभी को गाली सुननी पड़ती है, हाल-चाल पूछने वाला भी मुस्कुराकर दुलत्ती झाड़ जाता है और इससे सुननेवाला भी परम आनन्दित होता है तथा बदले में दो-चार सुनाकर ही हिसाब पूरा करता है। साले-बहनोई, साली-जीजा, देवर-भाभी, भाभी-ननद, ननदोई-सरहज आदि के मधुर रिश्ते ऐसे ही हैं। इनके बीच हँसी-मजाक तनिक अश्लील भी हो उठते हैं तो कोई बड़ा-बुजुर्ग बुरा नहीं मानता और न इसके लिए अंकुश डालता है।

भोजपुरी जनपद में होली एक ऐसा त्यौहार है जो सभी प्रकार के बन्धनों को, सभी वर्जनाओं को अस्वीकार करके खेला जाता रहा है। रंग-गुलाल और अबीर-मर्दन के साथ कांदो-पांक और धूर-खेल तक इसमें शोभनीय ही होते हैं। होली-गीतों में अनेक गाली-गीत हैं जो किसी के दरवाजे पर बैठकर नहीं बल्कि ढोल-झाल पर रास्ता चलते गाए जाते हैं। टोली जब जिस मुहल्ले-टोले की पगडंडी से निकली वहाँ की औरतों को लक्ष्य कर गीत के बोल कण्ठ से उच्चरित होकर हवा में तिरने लगते हैं। अब इनका प्रचलन खतम-सा हो रहा है। ऐसे गीत मुख्यतः शृंगार परक ही हैं और अन्य दिनों में नहीं गाए जाते। होली के अवसर पर ही उन्हें सुनने-सुनाने की परम्परा रही है।

व्रत-त्यौहारों की भाँति संस्कार-गीत भी जन-जीवन के अंग हैं और विवाह के अवसर पर जब बरात कन्या के दरवाजे पर लगती है तो हर नेग पर इन गाली-गीतों

को औरतें मनोयोग से गाती हैं। बरातियों को तो कुछ कम किन्तु समधी-समधिन को तो औरतें हीक भर गाली देती हैं। गुरहेथी (कन्या-निरीक्षण) के समय ससुर गाली से तोप दिए जाते हैं और भतखई के समय माँड़ों में खानेवाले समधी तथा उनके साथ जिमनेवाले सभी लोगों को गाली-गीत सुनना पड़ता है। नाना प्रकार के व्यंजनों से सुसज्जित भोजन, खिलाने-परोसने वालों का आदर-सत्कार और ऊपर से गाली भरे गीतों का आस्वाद ! गाली भी इतनी 'प्रेम पियारी' हो सकती है इसका अन्दाजा ऐसे ही मौकों पर लगता है। लोकगीतों में श्रीराम और दशरथ सभी को आजतक इन गालियों का रस चखना पड़ता है।

इन गाली-गीतों का प्रचलन केवल भोजपुरी जनपद या मगही-मैथिली के अंचलों में ही नहीं है। लगभग सारा उत्तर भारत इन्हें तरजीह देता है। लोक जीवन के ये आत्मीयता भरे अन्तरंगता के मधुर क्षण होते हैं जब व्यक्ति मुखरित होता है और ऐसे सरस क्षणों की सुखानुभूति की अभिव्यक्तियाँ अभिव्यंजित होकर अत्यन्त मधुर हो उठती हैं। ये अभिव्यक्तियाँ लोक-रीति तथा व्यवहार में जितनी सरल और मनोहारी होती हैं, काव्य में उससे कहीं अधिक सशक्त एवं माधुर्य से भरी बन जाती हैं।

इन गाली-गीतों में मन खुला-खुला होता है, बिल्कुल निर्बन्ध; निर्लज्ज फिर भी अच्छा और भोला-भाला ! राजस्थान में ऐसे गीतों को 'गालियाँ' या 'गाली-गीत' ही कहा जाता है। बीकानेर के आस-पास इन्हें **'सीठणे'** कहते हैं। मारवाड़ में इन गीतों का बड़ा प्रचलन था और राजस्थान भर में इनकी लोकप्रियता वहीं से हुई। वहाँ गाली गीतों के रचयिताओं की लम्बी परम्परा रही है जो आज भी अबाध गति से चल रही है। सभी धर्मों एवं जातियों में विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले गाली-गीतों के रचयिताओं में कायस्थों की संख्या अधिक रही है क्योंकि यह जाति पढ़ी लिखी थी। जयपुर में गाली गीतों के गायकों की टोलियाँ हैं जिन्हें मण्डल कहते हैं। इन मण्डलों को 'उस्ताद' के नाम से जाना जाता है जैसे 'गुलजार लोक-गीत मण्डल' और 'गुट्टन-बीजन लोकगीत मण्डल' आदि। इन मण्डलों की प्रतियोगितायें भी रात-रात भर चलती हैं। अनेक स्वर्णपदकों को प्राप्त करनेवाले ऐसे एक गायक 'दामोदर नारायण मारवाड़ा' हैं जो राजस्थान भर में लोकप्रिय हैं। होली के अवसर पर गाए जाने वाले ऐसे गीतों को जयपुर में **'गेहर'** कहा जाता है।

भोजपुरी जनपद में होली के अवसर पर गाली-गीतों को विभिन्न तर्जों में मर्दों की टोली ही गाती है। विभिन्न नाच-मण्डलियाँ भी बारातों में नाचगान के अवसर पर ऐसे गीत गाती हैं। संस्कारों के अवसर पर ऐसे गीत प्रायः औरतें गाती हैं और इनमें नवयुवतियों से लेकर बड़ी-बूढी दादियाँ तक शामिल होती हैं। बर-कन्या को नहवाते समय चुमावन करते समय, इटकोर के समय, हल्दी चढ़ाते समय, सिन्दूर-दान के समय, लावा मिलाते वक्त, सगुन उठाने के समय, परिछावन में, बरनेत में,

मतखई के अवसर पर—कोई मौका, कोई नेग ऐसा नहीं होता जब 'गवनिहारिनें' ऐसे गीत नहीं कढ़ातीं। 'जुलुआ' के स्वांग में और विशेषत: 'डोमकच' में तो हद ही हो जाती है।

ऐसे गीत प्राय: श्रृंगारिक हैं और नायिकाओं-नायकों के रूप-वर्णन को इसमें प्रमुखता दी गई है। उपमाओं और प्रतीकों का खुलकर प्रयोग होता है। ऐसे गाली-गीत काफी सुन्दर बन पड़े हैं जिनमें रस की सृष्टि प्रतीकों के माध्यम से की गई है—

सांवर सांवर गोदना गोदइह हे सँवरो,
सुइया चुभुकी रस लेय !

विभिन्न जनपदों में लोक-प्रचलित ये गाली-गीत किसी तरह की बुराई या विरोध नहीं जन्माते, वरन् ये तो मौन संकुचित, कुण्ठित और अन्तर्विरोधों से टूटे हुए मनों को जोड़ने-सहेजने में सहायक होते हैं। ये गीत जहाँ व्यक्ति और व्यक्ति के सम्बन्धों को सुदृढ़ करते हैं वहाँ उसे विगोपित संदर्भों, वर्तमान परिवेश तथा युगीन स्थितियों से भी अलग नहीं होने देते। इन गीतों के दर्पण में व्यक्ति का वैयक्तिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन प्रतिबिम्बित है। छन्द, भाव और भाषा की दृष्टि से भी ये गीत उत्कृष्ट काव्य-सौष्ठव से भरे हैं। अलंकारों का क्या कहना। इनमें नए से नए प्रतीक, नवीन उद्भावनायें, नूतन रूप-विधान, शिल्पगत विशेषता सभी तो हैं।

राजस्थानी गाली-गीतों के कुछ अंश देखिए—

सिर केस खुले, नागन-सी लटिया लटके
भृकुटि कमान की तान मोहिनी पटके
खंजन मदरांजन अंजन में दृग मटके
तिरछी चितवन की चोट कलेजे खटके
है नासा कीर समान घणी बल खाती।
× × × × ×
सुन्दर नार सज सिणगार सारा तन में
हँस रही देख-देख दर्पण में।
कंठ कटसरी, गुलुबन्द, टुस्सी तिलड़ी अरमाला
चन्दरहार हमेल पचमण्यों बालोड्या को हाला
कंठी कठलो, चैन, दुगुदुगी रतन जड़त कुन्दन में।
× × × × ×
शोभा सदन मदन मदमाती सुगढ़ खोडसी बाला
अंग अनंग उमंग भरी सब रंग-ढंग निराला
अति आला अरु अनोखी/लाखों में सबसे चोखी

इन गाली-गीतों के सर्वत्र प्रचलित होने और मान्य होने का अर्थ ही है कि कभी समृद्धि के दिनों में 'काम' को पुरुषार्थ-चतुष्टय में स्थान देने वाला समृद्ध-सुसंस्कृत समाज जनसामान्य के स्तर पर भी उनका खुले मन से आनन्द लेता था और कालिदास, जयदेव, विद्यापति की परम्परा गांव की माटी से ही संजो थी। □

सोवियत संघ का समाधान और

भारत की भाषा समस्या

□ पशुपति नाथ सिंह

भारत में चल रही भाषाई समस्या आजादी के शुरूआती दौर में ही उलझ गयी, वह आज तक नहीं सुलझ सकी है। बल्कि आज यह अँग्रेजी बनाम हिन्दी, हिन्दी बनाम गैर हिन्दी भाषाएँ और हिन्दी बनाम जनपदीय भाषाओं के त्रिकोण में फंस कर राष्ट्रीय एकता के लिए नासूर बन गयी है। हिन्दी को ऐसे त्रिकोण में उलझाने में भारत के तीन तत्वों का प्रमुख हाथ रहा है—पहले, आजादी प्राप्ति के बाद विरासत में मिले मजबूत ब्रितानी शासन तंत्र, जिसके राष्ट्रशक्ति के दबाव में आजादी को स्वीकार कर लिया, लेकिन उसकी आर्थिक, शासकीय और सुविधा के विशेषाधिकार में कोई परिवर्तन नहीं आ सका। इसमें भारत के नये शासक-वर्ग ने शासन-तंत्र की अंग्रेजी विरासत के खेमे में अपने को प्रतिस्थापित कर लिया और शासन रूपी उधारी कार में सवार होकर आगे बढ़ चला। बहरहाल, भूतपूर्व शासकों से विरासत में मिले शासन-तंत्र का विकल्प तैयार करने की जरूरत नहीं समझी गयी, जो पूर्णतः राष्ट्र के प्रति समर्पित होता। आखिर उधार की एक सीमा होती है, जो अब सामने आ रही है। इस प्रकार, साम्राज्यवादी भाषा-अँग्रेजी के विरोध में खड़ी हुई हिन्दी शासन के दरवाजे पर खड़ी रही और अँग्रेजी भाषा का साम्राज्य देशी शासकों के नेतृत्व में कायम रह गया। फलतः आज देश में अंग्रेजी कायम है और हिन्दी सत्ता के गलियारे में खड़ी बगलें झांक रही है।

भारत के हिन्दी-वादियों की सबसे बड़ी असफलता इतिहास से सीख नहीं लेना है; क्योंकि भाषाई समस्या केवल भारत के अन्दर ही नहीं है, बल्कि विश्व के कई देशों को इससे जुझना पड़ा है। इसमें सोवियत संघ की भाषाई समस्या बहुत ही जटिल और उलझी हुई थी। १९१७ की अक्तूबर क्रान्ति के पूर्व पूरे रूसी साम्राज्य में रूसी शासन की भाषा थी। पूरे देश में १३० से अधिक भाषाएँ और बोलियां थीं, जिनमें अधिकांश के पास अपनी वर्णमाला तक नहीं थी। सबको प्रतिष्ठित करने का सवाल था। रूसीवादी पूरे राष्ट्र के लिए रूसी की मांग को लेकर आन्दोलित थे। भयंकर शीतयुद्ध का माहौल था। इसके समाधान के लिए लेनिन का सूत्र "अपनी देशज भाषा में शिक्षा प्राप्त करने का जनता का अधिकार, मीटिंगों में और सार्वजनिक तथा राजकीय संस्थाओं में अपनी देशज भाषा का प्रयोग करने का प्रत्येक नागरिक का अधिकार"—अपनाया गया। इसी आधार पर सोवियत संघ की भाषाई नीति खड़ी हुई और समस्या का समाधान निकला।

लेनिन ने सोवियत जनतंत्र में "किसी एक भाषा के विशेषाधिकार" का विरोध किया। उन्होंने राष्ट्रीय जीवन में बहुसंख्यक के आधार हों या अल्पमत का आधार

सभी तरह के विशेषाधिकार का विरोध किया और सभी भाषाओं की स्वतंत्रता को स्थापित करने की वकालत की। जब पूरे देश में रूसीकरण की बात चली और पत्र-पत्रिकाओं में एक ही सरकारी भाषा रूसी को लेकर हंगामा खड़ा हो गया, ऐसी स्थिति में लेनिन ने इतिहास से समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि रूस को छोटे-से देश स्वीट्जरलैंड से सीखना चाहिए, जहाँ एक ही भाषा नहीं तीन-तीन भाषाओं जर्मनी, फ्रांसीसी, इतावली के होने से उस देश ने कुछ खोया नहीं है बल्कि पाया है।

सोवियत संघ में सभी नागरिकों को अपनी मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करने, अभिव्यक्त करने और शासन-संचालन करने का अधिकार प्रदान कर भाषाई समस्या को सुलझाया गया। वहाँ सभी भाषाओं के विकास के लिए सफल प्रयास हुए। यहाँ तक कि वर्णमाला-विहीन बोलियों के लिए वर्णमाला, साहित्य और तकनीकी शब्दावली को विकसित किया गया। उन्हें आधुनिक भाषा का दर्जा दिलाया गया।

सोवियत संघ का प्रत्येक जनतंत्र अपनी भाषा में कार्य करता है अपने नागरिकों के लिए अपनी भाषा में उच्च से उच्च शिक्षा का प्रबन्ध करता है और पूरे राष्ट्र की उन्नति में भागीदारी करता है। जब दूसरे जनतंत्र के साथ संपर्क करने की आवश्यकता होती है, वैसी स्थिति में भाषाई सुविधा उपलब्ध करा दी जाती है। सोवियत संघ ही क्यों, जब दूसरे देशों के छात्र वहाँ पढ़ने के लिए जाते हैं तो उन्हें सम्बन्धित जनतंत्र की भाषा में ही शिक्षा दी जाती है, जब छः माह में विदेशी छात्र रूसी या सम्बन्धित जनतंत्र की भाषा सीखकर उसमें थीसिस लिख सकते हैं, इंजीनियरिंग और मेडिसीन पढ़ सकते हैं तो भारत में इस अनुभव का लाभ क्यों नहीं उठाया जा सकता? वस्तुतः भारत की भाषाई समस्या को नागरिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से नहीं देखकर वर्गीय दृष्टिकोण से देखा गया, जो राष्ट्रीय संकट का कारण बन गया है।

भारत में हिन्दी का सवाल केवल भाषा का सवाल नहीं है। वस्तुतः यह देश की जनतांत्रिक प्रक्रिया का एक अंग है। इसको भारत की सभी भाषाओं के साथ जनतन्त्र और आजादी के दृष्टिकोण से देखना ही समीचीन होगा। अंग्रेजी को देश के विकास के लिए अनिवार्य बताने वाले भूल जाते हैं कि राष्ट्र की वास्तविक शक्ति के लिए जनतन्त्र सर्वोपरि है और बिना आर्थिक तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के इसकी कल्पना नहीं जा सकती। चतुर्दिक महत्त्व के इस सवाल को हल करने के लिए देशज भाषा की प्रतिष्ठा प्रारम्भिक शर्त है। इसी दृष्टिकोण के अभाव ने सभी कुछ गडमड कर डाला है।

हिन्दीवादियों की अपने को स्थापित होने की भावना और भाषा का परित्याग जनवादी माहौल के निर्माण के लिए आवश्यक शर्त है। इसके लिए भारत की गैर हिन्दी भाषा और जनपदीय भाषाओं को स्थापित करने के लिए हिन्दी को स्वयं आगे आना होगा जिसका आधार भारत की सभी मातृभाषाओं का समान सम्मान और समान अधिकार होगा। किसी भाषा के साथ किंचित मात्र भी अन्याय नहीं, किसी को कोई विशेषाधिकार नहीं, इसी भावना पर खड़ी हुई एकता राष्ट्रशक्ति को उभारने में सफल होगी। यही हिन्दी को वास्तविक स्थान दिलाने का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। □

विचारोत्तेजक पत्र

राष्ट्रभाषा, और जनपदीय चेतना

अंगद प्रसाद राय
एम० ए० (हिन्दी + अँगरेजी), डिप्-इन० एड्०
पूर्व प्राचार्य,
शिवप्रसाद विद्यामन्दिर, बक्सर

सिद्धाश्रम
चरित्रवन, बक्सर
ज्येष्ठ शुक्ल १०, मंगलवार
गंगा दशहरा
१७/६/८६

प्रिय आंजनेय जी,

मधुर एवं स्नेहिल साधुवाद ।

आपका पत्र-परिपत्र । पढ़ा-गुना । 'ज्ञान-तरंगिणी' के जनपदीय अंक के प्रकाशन के प्रकाश से पुलकित हुआ । 'ज्ञान-तरंगिणी' का अवतरण मेरे शिक्षक जीवन के उत्तरार्द्ध में हुआ । सो 'ज्ञान-तरंगिणी' की तरंगों से मेरी रागात्मकता स्वाभाविक है ।

'ज्ञान-तरंगिणी' मात्र एक संस्था विशेष के क्रियाशीलन, सोच एवं संस्कार को ही उजागर नहीं करती, अपितु राष्ट्रीय चिन्तन-स्पन्दन से भी तरंगित होती रही है।

'ज्ञान-तरंगिणी' के भगीरथ ! आप स्मरण करें कि किस विद्रव में 'ज्ञान-तरंगिणी' का अवतरण हुआ था । आज दो दशाब्द पूर्व का अतीत मेरे मन को मथ रहा है ।

सामन्ती शासन, प्रबन्धकारिणी का वह अतृप्त अहं, विभागीय अंकुश, विजड़ित व्यवस्था, प्रधान की दयनीय विवशता, सहकर्मियों की अन्यमनस्कता, अर्थ की अनिश्चतता, क्रूर आक्षेप, अरुन्तुद उपहास आदि-आदि अनगिनत विष-दंश !

यह तो मेरा सौभाग्य था कि ध्येयनिष्ठ, स्वाध्यायी, सृजनधर्मी, सारस्वत साधना के प्रति समर्पित, अर्थ के अनर्थ चिन्तन से सर्वथा मुक्त आप ऐसा सदाशय सहयोगी मुझे वरदान स्वरूप मिला । आंजनेय जी, सच कहता हूँ, अतिरंजना न समझें, आप ऐसे प्राज्ञ सहयोगी के शुभागमन से ही शिवप्रसाद विद्यामन्दिर में सारस्वत यज्ञ का महानुष्ठान सम्भव हो सका । आपके अनथक उत्साह, अभंग प्रेरणा एवं साधुशील स्वभाव के फलस्वरूप मेरी कसी बन्द मुट्ठी खुल गई । निदान 'ज्ञान-तरंगिणी' में अवगाहन का सुयोग पाकर विद्यामन्दिर परिवार धन्य-धन्य हो गया । प्रथम वर्ष के प्रवेशांक से ही इसके ज्योतिर्मय भविष्य की आश्वस्ति हुई । 'ज्ञान-तरंगिणी' उत्तरोत्तर सुधीजन को प्रभावित करने लगी । देश के मूर्धन्य विद्वानों का आशीर्वाद

और सहज स्नेह मिला और मिला गण्यमान्य लेखकों का रचना-सहयोग। 'ज्ञान-तरंगिणी' के महात्मा गाँधी, राष्ट्र कवि दिनकर और लोकमान्य तिलक आदि विशिष्ट अंक साहित्य की अनुपम निधि बने।

ज्ञान-शिल्पी ! यह सब आपकी तत्परता, जागरूकता, तत्त्व चिन्ता, साध और साधना से ही सम्भव हो सका था। निर्विवाद रूप से 'ज्ञान-तरंगिणी' के सम्भार का श्रेय आपको है, आप ही को है।

भाई अनिल जी ! विज्ञान और तकनीक (प्रविधि) ने हमारी दृष्टि और चिन्ता को प्रभावित किया है। एक ओर हम बुद्धि-विलास के स्तर तक अतिवादी तथा तर्कदन्तुर होते जा रहे हैं, और दूसरी ओर श्रद्धा-विश्वासहीन, विवेक-विगलित; हृदयशून्यता के विच्छाय तप्त मरु में हमारे भावों के सुकुमार बाल विहग तृषातुर हो रहे हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि पदार्थ के अंग विशेष को देखती है। विखण्डन, विच्छेद, पार्थक्य एवं विश्लेषणात्मकता से सत्य-संधान की आग्रही विज्ञान-दृष्टि हमारे संशय को निर्मूल नहीं कर पा रही है। विज्ञान आत्मज्ञान का स्फुरण करे, तभी यह वरदान है, तभी यह मंगल-विधायक है। आर्षग्रन्थ पदार्थ में सम्पूर्णत्व को देखने-समझने का निर्देश देते हैं। "ॐ **पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य-पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥**"—यह हमारे संस्कार की संश्लेषणात्मक दृष्टि है, यही आध्यात्मिक दृष्टि है, किंबहुना यही भारत (भा-रत····प्रकाशरत, ज्ञान-रत) दृष्टि है।

हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है। यह राष्ट्र की अस्मिता, स्वतंत्र चिन्ता, अखण्डता, एकात्मता एवं लोकाग्रह की भाषा है। राष्ट्रभाषा हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान को परिभाषित करती है। राष्ट्र के तेज, ओज, बल, वीर्य एवं विवेक के संवर्धन-सम्पोषण के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी की हित-चिन्ता में हमें अपने को समर्पित करना है। यह हमारा राष्ट्रधर्म है। यदि प्रमाद हुआ तो हम धर्मभ्रष्ट होंगे।

राजनेता विग्रह एवं विवाद को अपने कुशल राजनय की कसौटी मानते हैं। भाषायी भेद, धार्मिक उन्माद, साम्प्रदायिक द्वेष, क्षेत्रवाद, विखण्डन एवं वैमनस्य के विष-व्यवसायी राष्ट्र के तथाकथित कर्णधार आज के हमारे कूटधर्मी नेता हैं।

'सत्य-शिव-सुन्दर' के समुपासक साहित्य-साधक सुधी मनीषी राष्ट्र और राष्ट्र-भाषा के अकल्याण का कुविचार स्वप्न में भी अपने मन में लाएँगे, इसकी आशा मुझे नहीं है। साहित्यमनीषी संग्रह और संवाद में आस्था रखते हैं। 'स-हित' भाव के आराधक साहित्यकार "रसो वै सः" के दर्शन करते हैं। ब्रह्मदर्शन की यह निर्मल दृष्टि सर्वात्मभाव की अमृताक्षर भूमिका है।

दृष्टिकोण विस्तृत और विचार उदार हो। दुराग्रह, जड़ता, हीन मनोभाव एवं ग्रन्थि से मुक्ति साहित्य सेवा की आवश्यक प्रश्रुति है। मुझे भय है कि दिङ्मूढ़ जनपदीय आन्दोलन क्षेत्रीय संकीर्णता एवं राष्ट्रिय दिखण्डन की दहकती आग को और हवा न देने लगे। 'एक त डाइन दूसरे लिहली लुआठ' की मुझे शंका है। भगवान् करें कि मेरा यह भय निराधार और मेरी यह शंका निर्मूल हो।

प्रियवर! आपके विचारों की निर्मलता और उद्देश्य की पवित्रता में सन्देह के लिए अवकाश नहीं है। आपकी भाव-शुद्धि का मैं अनुशंसी हूँ। लेकिन यह कहते मुझे संकोच नहीं होता कि शुद्ध भाव भी दुष्टमति के संसर्ग में विषदन्त बन कर उग आते हैं। तृण अग्नि को दीप्त करता है, लेकिन वही तृण जल को दूषित करता है। शल्य चिकित्सक की जीवन दायिनी छुरी गुण्डे के हाथ में जीवन-घातिनी बन जाती है। छुरी एक ही है। लेकिन प्रयोग के स्तर पर परिणाम भिन्न-भिन्न हैं, महदन्तर—जीवन-मरण का अन्तर।

जनपदीय भाषाओं के प्रति मेरे मन में भी अपार श्रद्धा है। परन्तु देखने में आ रहा है कि हमारे अविचारित उत्साह और कर्त्तव्यमूढ़ मोह में परिवार का प्रधान उपेक्षित हो रहा है। हमारे कृत्य से हिन्दी हतदर्प हो, भारत-भारती की मुकुट मणि पददलित हो, यह लज्जा की बात तो है ही, हमारे जातीय पतन की भी पराकाष्ठा है।

बन्धु! मेरे विचारों को अन्यथा न लें। पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन, गुरु-शिष्य परस्पर प्रेम और विश्वास बरतेंगे तो परिवार, समाज और राष्ट्र का संवर्धन होगा। भाषा-परिवार के लिए भी यही सत्य है। ब्रजी, अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, राजस्थानी आदि जनपदीय भाषाएँ एक परिवार की है। इस वृहत् परिवार के संरक्षण, सम्भरण एवं नेतृत्व का दायित्व इतिहास विधाता ने आज खड़ी बोली हिन्दी के सबल कन्धों पर डाला है। भोजपुरी आदि जनपदीय भाषाएँ हिन्दी परिवार की सम्पत्ति हैं। अपनी इस सम्पत्ति से ही हिन्दी की श्री-समृद्धि सम्भव है।

"संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।" जनपदीय आन्दोलन और है और जनपदीय चेतना और। आन्दोलन का सम्बन्ध भावना, विक्षोभ, उद्वेलन और प्रतिक्रिया से है। चेतना का सम्बन्ध सद्-असद् विवेचन, गुण-दोष की समीक्षा, युक्त विचार और विवेक से है। आन्दोलन आँधी है—विस्फोटक और आवेगमय प्रभञ्जन। चेतना है—शीतल मन्द-सुगन्ध मोहन मलय समीर—प्राणवायु!

भाई आंजनेय जी! गलदश्रु भावुकता और अन्ध समर्थन और है और सुविचारित विवेकपूर्ण निर्णय और। आप विचार तो करें सही। महाप्राण निराला, विमा

पुत्र दिनकर, अमृतपुत्र डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी और ज्ञानज्येष्ठ डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवाल की मेधा जनपदीय गैल में कहाँ फँसी बिरमी ? भोजपुरी माटी के गौरव प्रेमचन्द्र और आचार्य शिवपूजन सहाय ने अपनी जनपदीय भक्ति को राष्ट्र-भाषा हिन्दी की शक्ति दी। 'परती-परिकथा' के 'रेणु' ने राष्ट्रभाषा हिन्दी की रेणु को अपने माथे से लगाया और 'मैला आँचल' को महिमा दी। आज भी विद्या-निवास मिश्र, कुबेर नाथ राय, नागार्जुन और विवेकी राय जनपदीय गौरव-गरिमा से राष्ट्रभाषा हिन्दी को स्पन्दित करते हुए साहित्य-सेवा का स्पृहणीय आदर्श उपस्थित कर रहे हैं।

बन्धु ! **'महाजनेन येन गतः स पन्थाः।'** हमें व्यापक दृष्टि से भाषा के प्रश्न पर विचार करना है, भावना में नहीं बहना है। हमें सावधान रहना है। हमारा प्रयास, हमारी चेष्टाएँ हमारी क्रियाशीलता कहीं अँगरेजी सम्प्रभुता के ध्वज-वाही राजनीतिज्ञों के सहायक न बनें. जो देश को बलात् विनाश और विध्वंस की ओर ढकेल रहे हैं। असम और पंजाब की विध्वंस लीला से हमें सीख लेनी है। **दृष्टिपूतं पदं न्यसेत।"**

आंजनेय जी ! आपके शुभ संकल्प का मैं विश्वासी हूँ और आपकी निष्ठा का मैं समादर करता हूँ। जानता हूँ कि क्षेत्रीय क्षुद्रता और भाषिक संकीर्णता के लिए आपके यहाँ प्रश्रय नहीं है। मुझे विश्वास है कि आपका 'जनपदीय अंक' राष्ट्रीयता के उदात्त भावों से परिपूरित, राष्ट्रभाषा हिन्दी का सम्पोषक और उदार होगा। मैं कहता हूँ, मेरे इस विश्वास के आधार अनिल कुमार 'आंजनेय' हैं। एक 'आंजनेय' का ही भरोसा है।

आपके यशस्वी सम्पादन में 'ज्ञान-तरंगिणी' के जनपदीय अंक का प्रकाशन स्वागतव्य है। विश्वास है, यह अंक भी मौलिक, ज्ञान-समृद्ध, भाव-प्रवण और श्रेयस्कर होगा। मंगल कामना स्वीकारें।

प्रशस्त पुण्यपथ पर निर्भ्रान्ति आप आगे बढ़ते चलें।

चरैवेति, चरैवेति।"

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।"

हार्दिक शुभकामना।

सप्रेम
आपका,
अंगद प्रसाद राय

जनपदीय चेतना का आमंत्रण

['ज्ञानतरंगिणी' के जनपदीय-अंक के प्रकाशन की जब योजना बनी तो सम्पादक की ओर से एक आमंत्रण-पत्र मनीषी विद्वानों के पास भेजा गया। अब यह विशेषांक आपके हाथ में है। हम अपने उद्देश्य और योजनापूर्त्ति में किस सीमा तक सफल हो सके हैं, इसका मूल्यांकन आप इस परिपत्र के आलोक मे कर सकें, इसकी सुविधा के लिए हम पूरा पत्र यहाँ पुनः प्रकाशित कर देना उचित समझते हैं। अनेक विद्वानों ने इसे काफी महत्त्वपूर्ण माना है और जनपदीय आन्दोलन के इतिहास और विकास के क्रम में इसे भी एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के में देखा है।]

मान्यवर,

'ज्ञानतरंगिणी' के 'श्रद्धांजलि अंक' और 'लोकमान्य तिलक स्मृति अंक' की गौरवमयी परम्परा में ही हम 'ज्ञानतरंगिणी' का **'जनपदीय अंक'** प्रकाशित करने के अभिलाषी हैं।

आपके सुविचारित-सुचिन्तित-गवेषणापूर्ण गम्भीर निबन्ध/लेख की हम प्रतीक्षा कर रहे हैं। हाथे-माथे लग-जुट कर **'जनपदीय अंक'** को महार्घता प्रदान करने की कृपा करें।

अपनी लेखनी के प्रसाद से 'ज्ञानतरंगिणी' के महनीय-मननीय रूप-विन्यास में आप उदार तो होंगे ही, अपने प्रभामण्डल के तेजस्वी लेखक बन्धुओं के भी अवदान-वरदान से **'जनपदीय अंक'** को वदान्यता प्रदान करने का अनुग्रह करेंगे, यह विश्वास हमारे मन में है।

जनपदीय-अध्वर्यु को हमारा शत-शत नमन। ऋषिऋण को हम कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हैं। लोकगीतों के संग्रह-संकलन का जो प्रेरक-व्रती कार्य श्री रामनरेश त्रिपाठी और श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने किया, उसके प्रति हमारे मन में अथोर आदर भाव है।

फरवरी १९३४ ई० के 'विशाल भारत' में पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ने अपने एक अग्रलेख के द्वारा जनपदीय साहित्य के महत्त्व पर प्रकाश डाला था। अक्टूबर १९४० के 'विशाल भारत' में "हम क्या करें" शीर्षक से प्रकाशित अपनी एक स्कीम के द्वारा उन्होंने बोलियों के क्षेत्र में मण्डल संगठन स्थापित करने पर जोर दिया। पुनः १ अक्तूबर, १९४० को चतुर्वेदी जी के सम्पादन में टीकमगढ़ (बुन्देलखण्ड) से 'मधुकर' पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। समग्र जनपदीय जीवन से अनुप्रवि जागृत करने के शुभ उद्देश्य से अनुप्राणित होकर चतुर्वेदी जी ने 'मधुकर'

माध्यम से जनपदीय आन्दोलन को गति दी। इसी क्रम में अगस्त १९४४ में श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी के सहयोग से चतुर्वेदी जी ने 'मधुकर' का 'जनपद अंक' प्रकाशित कर जनपदीय आन्दोलन-चिन्तन को भास्वरता-प्रखरता प्रदान की। सर्वश्री पं० वनारसी दास चतुर्वेदी, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की जनपदीय विचार-धाराओं का त्रिवेणी संगम है यह अंक। इस ऐतिहासिक अंक ने हमारी जनपदीय चेतना को अभिषिक्त तो किया ही, एक धारा भी दी।

१९५२-५३ ई० में काशी से हिन्दी जनपदीय परिषद् का त्रैमासिक मुखपत्र 'जनपद' प्रकाशित हुआ। सर्वश्री पं० बनारसी दास चतुर्वेदी, डॉ० उदय नारायण तिवारी, पं० वालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के समवेत सम्पादन-सहयोग से 'जनपद' के कुल चार अंक ही निकल पाए। श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' कार्य निर्वाहक सम्पादक थे।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'पृथ्वीपुत्र' के माध्यम से "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" से अभिमंत्रित जनपद कल्याणी योजना का सन्देश देकर जनपदीय कार्यकर्त्ताओं की जल्दी-जहुआई मनोवृत्ति और कर्त्तव्यमूढ़ता तो दूर की ही, हमारी जनपदीय चेतना का संस्कार भी किया। डॉ० अग्रवाल का 'पृथ्वीपुत्र' जनपदीय साहित्य सेवियों के लिए आलोक स्तम्भ है। पूज्य चतुर्वेदी जी के शब्दों में स्व० वासुदेव शरण अग्रवाल की पुस्तक 'पृथ्वीपुत्र' हम जनपदीय कार्यकर्त्ताओं के लिए 'बाइबिल' ही है।

खेद की वात है कि हमारी कुण्ठा का सम्पूर्णंतः निरसन नहीं हो पाया। अब तो जनपदीय आन्दोलन के प्रति विद्वानों एवं हिन्दी सेवियों के मन में संशय के भाव हैं। तो दूसरी तरफ अतिशय उत्साह में उन्मादवश भाषायी दुराग्रह के दुष्चक्र चल रहे हैं। लक्षण शुभ नहीं है। हमारी चिन्ता स्वाभाविक है।

हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जनपदीय आन्दोलन जनपद कल्याणी योजना का विश्वासी है। हम राष्ट्रीय एकता-अखण्डता के आकांक्षी हैं। हमारी जनपदीय चेतना हिन्दी की वर्चस्विता को स्वीकार करते हुए हिन्दी के हित संवर्धन में समर्पित है। राष्ट्रीय ऐक्य, भाषायी सद्भाव और हिन्दी की प्रतिष्ठा का हमें ध्यान है।

पूज्य दादा जी (पं० बनारसी दास चतुर्वेदी) की प्रेरणा से 'ज्ञानतरंगिणी' का 'जनपदीय अंक' प्रकाशित होने जा रहा है। इस 'जनपदीय अंक' के सारस्वत यज्ञ में आप अपनी अनुच्छिष्ट, अमनिया और प्रिय रचना की हवि दें, इसके लिए हम आपको सादर- सविनय आमन्त्रित करते हैं।

आशा है, आपको यह मनःपूत होगा।

विषय-संकेत सेवार्पित है। किन्तु, आप 'क्वचिदन्यतोऽपि' के लिए स्वतंत्र हैं। इदमित्थम् के आग्रही हम नहीं हैं। तत्पर एवं सहृदय स्वतःस्फूर्त्त योग-सहयोग की कामना-प्रार्थना के साथ—

विनीत,
अनिल कुमार 'आंजनेय'
सम्पादक
'ज्ञानतरंगिणी'
[जनपदीय अंक]

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र :
डॉ० अनिल कुमार 'आंजनेय'
प्रधानमन्त्री
अ० भा० अन्तर जनपदीय परिषद्, उजियार
जिला—बलिया (उ० प्र०)
पिन—२७७ ५०१

'जनपदीय अंक' : विषय संकेत

(१) सम्पादकाचार्य पं० बनारसी दास चतुर्वेदी का सन्देश
(२) गाने का मन—डॉ० विद्या निवास मिश्र
(३) बज्जिका भाषा—डॉ० सियाराम तिवारी (शान्ति निकेतन)
(४) प्रत्येक जनपदीय भाषा (हिन्दी की विभाषा या बोली) के स्वरूप का दिग्दर्शन (भिन्न-भिन्न जनपदीय भाषा पर अलग-अलग लेख)
(५) हिन्दी की प्रत्येक जनपदीय भाषाओं में लिखे गये साहित्य पर प्रामाणिक (भिन्न-भिन्न) लेख
(६) जनपदीय चरित्र
(७) जनपदीय आन्दोलन : लक्ष्य, स्वरूप एवं कार्यक्रम
(८) हिन्दी और जनपदीय भाषाएँ
(९) जनपदीय भाषाओं का प्रश्न
(१०) हमारा अगला कदम
(११) जनपदीय आन्दोलन : राष्ट्र और राष्ट्रभाषा
(१२) राष्ट्रीय ऐक्य, भाषायी सद्भाव और जनपदीय आन्दोलन की भूमिका
(१३) जनपदीय भाषाएँ हमारी संस्कृति के मेरुदण्ड
(१४) जनपदीय आन्दोलन के आलोक स्तम्भ
(१५) क्या जनपदीय आन्दोलन से राष्ट्रभाषा हिन्दी को खतरा है ?
(१६) हिन्दी ही क्यों ?

(१७) जनपदीय भाषाओं में पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तकों का सवाल
(१८) जनपदीय भाषाओं के माध्यम से प्राथमिक-मध्य-उच्च विद्यालय तक की शिक्षा
(१९) जनपदीय आन्दोलन : इतिहास और समीक्षा
(२०) पं० बनारसी दास चतुर्वेदी, महापंडित राहुल सांकृत्यायन और डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के जनपदीय विचारों की समीक्षा एवं मूल्यांकन
(२१) लोकगीत
(२२) लोककथा
(२३) लोकगाथा
(२४) जनपदीय भाषाएँ (लोक भाषाएँ) और लोक संस्कृति
(२५) जनपदीय भाषाओं के अवदान
(२६) जनपदीय भाषा के लोक प्रचलित शब्दों का भाषा-वैज्ञानिक-समाजशास्त्रीय-ऐतिहासिक अध्ययन
(२७) सवाल जनपदीय भाषाओं के कोश का
(२८) भोजपुरी की शब्द सम्पदा
(२९) भोजपुरी क्षेत्र का गौरवपूर्ण इतिहास
(३०) शाहाबाद का इतिहास
(३१) गाजीपुर का इतिहास
(३२) बलिया का इतिहास
(३३) छपरा का इतिहास
(३४) रूस ने विभाषाओं के प्रश्न को कैसे हल किया ?
(३५) जनपदीय आन्दोलन के पुरोधाओं के पावन स्मरण
(३६) कस्मै देवाय हविषा विधेम
(३७) माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः
(३८) मिट्टी की ओर चल
(३९) हम क्या करें ?

—सम्पादक

□

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी : जीवन यात्रा

☐ यशवन्त कुमार 'नीरज', आई० ए०

☐ जन्म तिथि : २ संवत् १९४९ वि० । २४ दिसम्बर, सन् १८९२ ई०, तदनुसार
तिथि पौष शुक्ल

☐ जन्म स्थान : फिरोजाबाद, जिला— आगरा, उत्तर प्रदेश ।

☐ पिताश्री : श्री गणेशी लाल चौबे, मुदर्रिस प्राइमरी स्कूल, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, आगरा ।

☐ शिक्षा : इन्टरमीडिएट, सन् १९१४ ई० ।

☐ अध्यापन : (गवर्नमेन्ट हाई स्कूल फर्रुखाबाद में—सहायक के रूप में)। सन् १९१३-१४ ई०

हिन्दी अध्यापक : राजकुमार कॉलेज, इन्दौर—सन् १९१४-१९२० तक।

शान्ति-निकेतन में दीनबन्धु ऐन्ड्रूज के साथ १९२०-१९२१ तक।

साबरमती आश्रम : सन् १९२१-१९२५ तक। महात्मा गाँधी के सान्निध्य में—

☐ पूर्व अफ्रीका की यात्रा—सन् १९२५ ई० में।

☐ स्वतंत्र पत्रकारिता के प्रयोग—सन् १९२५ से १९२६ ई० तक।

इस बीच कुछ समय 'आर्यमित्र' में सहायक सम्पादक; पण्डित हरिशंकर शर्मा, प्रधान सम्पादक के अधीन कुछ दिन (२१ दिन) तक

☐ दैनिक 'अभ्युदय' का सम्पादन।

☐ विशाल भारत का सम्पादन : सन् १९२८ से १९३९ तक।

☐ टीकमगढ़ में निवास तथा 'मधुकर' और 'विन्ध्यवाणी' का सम्पाद
सन् १९३९ से १९५२ तक।

☐ राज्य सभा में सदस्य : सन् १९५२ से १९६४ ई० तक,

☐ रूस की यात्राएँ : सन् १९५९ तथा १९६६ में।

☐ सार्वजनिक सेवाएँ :

१. अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ के प्रधान (मथुरा अधिवेशन)
२. अखिल भारतीय श्रमजीवी पत्रकार संघ के प्रधान (मद्रास अधिवेशन)
३. ब्रज साहित्य मण्डल की स्थापना।
४. जनपदीय कार्य तथा अन्तर जनपदीय परिषद् का संगठन।

☐ साहित्यिक आन्दोलन -

१. अश्लील साहित्य के विरुद्ध 'घासलेट साहित्य विरोधी आन्दोलन'।
२. 'कस्मै देवाय' आन्दोलन।

□ कार्य-क्षेत्र :

१. प्रवासी भारतवासियों की सेवा।
२. शहीदों का श्राद्ध।
३. साहित्य-सेवियों का कीर्त्ति-रक्षा।
४. तथाकथित छुटमइये साहित्यकारों को प्रोत्साहन।
५. नगर फिरोजाबाद की स्वच्छता तथा सफाई के लिए प्रयत्नशील।

□ साहित्यिक सामग्री की सुरक्षा :

१. राष्ट्रीय अभिलेखागार, जनपथ, नयी दिल्ली द्वारा।
२. श्री के० एम० मुंशी विद्यापीठ, आगरा में चतुर्वेदी ब्रज केन्द्र द्वारा।

□ ग्रन्थ-रचना तथा विशेषांक सम्पादन :

१. फीजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष। (श्री तोताराम सनाढ्य के नाम से)
२. प्रवासी भारतवासी।
३. फीजी की समस्या
४. फीजी में भारतीय
५. रेखा चित्र
६. संस्मरण
७. हमारे आराध्य
८. विश्व की विभूतियाँ
९. प्रिंस क्रोपाटकिन का आत्म-चरित
१०. भारत भक्त ऐन्ड्रूज
११. दीनबन्धु ऐन्ड्रूज मिस मार्जोरी साइक्स के साथ
१२. चाँद, विशाल भारत, मर्यादा तथा नवचेतन (गुजराती) के प्रवासी अंक।
१३. **जनपदीय पत्रिकाएँ :** ज्योत्सना (डी० ए० वी०), अमृत (पी० डी० जैन) तथा इस्लामिया आदि कॉलेजों की पत्रिकाओं के विशेषांकों का सम्पादन।
१४. **मुख्य व्यसन :** पत्र व्यवहार।
१५. निधन तिथि : २ मई, १९८५ ई०

□

आशीर्वाद :

प्राचार्य की कलम से

डॉ० अनिलकुमार 'आंजनेय' को वर्षों से जानता हूँ। मुझे तोष है कि दो दशक पूर्व का मेरा वह 'जानना' निरन्तर गाढ़ हुआ है और मेरे विश्वास को दृढ़ आधार मिलता गया है। एक सम्मानित अध्यापक, काव्यशास्त्र विनोदी, समर्पित साहित्यकार, सभासंयोजक-संचालक और एक सफल सम्पादक डॉ० आंजनेय के प्रशस्त व्यक्तित्व के प्रति मेरे मन में एक आकर्षण एवम् अथोर आदरभाव है।

सम्प्रति अध्यापक, साहित्यकार, शब्दमर्मी एवं समा-सेवी डॉ० आंजनेय के प्रौढ़ व्यक्तित्व की चर्चा न कर सम्पादक डॉ० आंजनेय की किञ्चित् विशेषताओं की ओर इंगित मात्र करने तक अपने को सीमित रखना चाहता हूँ। कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉ० आंजनेय की सुरुचि एवं सम्पादन-कला का मैं अनुशंसक-प्रशंसक हूँ।

महाविद्यालय पत्रिका 'ज्ञानतरंगिणी' डॉ० आंजनेय की साहित्यिक सम्पन्नता और आपके सांस्कृतिक अभिनिवेश का निदर्शन है। आपके श्लील सम्पादकत्व में 'ज्ञानतरंगिणी', 'चतुर्मुख' एवम् अन्यान्य पत्रिकाओं के एक से एक पठनीय-संग्रहणीय अंक प्रकाशित हुए। 'ज्ञानतरंगिणी' के समृद्ध अंकों की परम्परा में ही 'चतुर्मुख' का 'आचार्य पण्डित पद्म सिंह शर्मा अंक' भी अपनी साहित्यिक सश्रीकता के कारण सदैव स्मरणीय रहेगा।

अपने उज्जवल इतिहास की इस पृष्ठभूमि में डॉ० आंजनेय के सम्पादकत्व में प्रकाशित होने वाला 'ज्ञानतरंगिणी' का 'जनपदीय अंक' पूर्व अंकों की गौरवमयी परम्परा को और प्रख्य-प्रख्यात करेगा, इसका विश्वास मेरे मन में है।

डॉ० आंजनेय की जनपदीय साहित्यसेवा आदर के साथ स्मरण की जाएगी, इसे मैं सगर्व स्वीकार करने की स्थिति में हूँ। यदि स्व० पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'मधुकर' के माध्यम से जनपदीय आन्दोलन को गति दी है तो डॉ० आंजनेय ने 'ज्ञानतरंगिणी' के 'जनपदीय अंक' द्वारा इसे व्यापकता प्रदान करने का संकल्प लिया है। जनपदीय जीवन का समग्र विवेचन ही पत्रिका का प्रतिपाद्य है।

'जनपदीय अंक' के विषय-संकेत से ही स्पष्ट है कि जनपदीय जीवन का कोई पक्ष सम्पादक की दृष्टि से अनछुआ नहीं रह सका है। विषय-संकेत एवं रचना-सहयोग के लिये आमंत्रण-आह्वाहन साक्षी है कि जनपद की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा, इतिहास, भाषा, लोककथा, लोकगीत एवं राष्ट्रीय समस्याओं के परिप्रेक्ष्य

जनपदीय आन्दोलन के अवदान का विवेचन समग्रता के साथ करने के लिये म्पादक संकल्पशील है।

प्रस्तावित अंक का उद्देश्य जनपदीय जीवन के गौरवमय अतीत का अंकन है, र्तमान का विश्लेषण है और है भविष्य के लिये दिशा-निर्देश देना है। गाँवों को ड़ देने की प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही है। यह उद्दाम प्रवृत्ति जनपदीय जीवन की क चिन्त्य समस्या के रूप में उभर रही है। पर सम्पादक ने 'मिट्टी की ओर त' विषय-निर्धारण द्वारा भविष्य निर्देश तो किया ही है, साथ ही 'हम क्या करें' ा संकेत कर हमारी भावी योजना का स्वरूप स्पष्ट करने का श्लाघ्य यत्न भी या है।

डॉ० आंजनेय की क्षमता और प्रतिभा से परिचित हूँ, सो मुझे विश्वास है कि 'जनपदीय अंक' जनपदीय अध्ययन के प्रकाश स्तम्भ बन सकेगा। साहित्य ार के सुधी पाठक डॉ० आंजनेय की जनपद-कल्याणी-योजना के योग-यत्न को हेंगे तथा जनपदीय चिन्तना को सहृदयता के साथ ग्रहण करेंगे, ऐसी आशा है।

डॉ० आंजनेय के इस स्तुत्य प्रयास के लिये अपनी हार्दिक शुभकामना व्यक्त ते हुए मैं प्रसन्नता और गर्व का अनुभव करता हूँ। प्रस्तावित अनमोल अंक का य से स्वागत ! बहुश: अभिनन्दन !!

बक्सर
दि०-३१ मई, ८६

केशवप्रसाद राय
प्राचार्य,
शिवप्रसाद विद्यामन्दिर इन्टर कॉलेज, बक्सर

गीत

जय हिन्दी, जय राष्ट्र-भारती।
तुलसी, सूर, कबीर आदि की रचना जिसका स्वर सँवारती।

भोजपुरी, राजस्थानी, ब्रज आदिक से मण्डित मृदु वाणी
सत्यं - शिवं - सुन्दरम् संयुत राग-विराग भरी कल्याणी
राष्ट्र-देवता के मंदिर की अविचल ज्वलित अखण्ड आरती।
जय हिन्दी जय राष्ट्र-भारती।

हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, इसाई आदि सभी की पावन भाषा,
समय-समय पर दी हैं जिसने राष्ट्र-एकता की परिभाषा
कोटि-कोटि जनता भारत की निशि-दिन जिसके पग पखारती।
जय हिन्दी जय राष्ट्र-भारती।

रंक-राव औ' अज्ञ-विज्ञ की असि-मसि की शुभ-गिरा पावनी,
हिमगिरि से सागर तक फैले भारत की भाषा सुहावनी
जिसकी चौदह बहनें अविरत जिस पर निज सर्वस्व वारती।
जय हिन्दी, जय राष्ट्र-भारती।

—डॉ० जगदीश वाजपेयी
११३, द्वारकापुरी,
मुजफ्फर नगर (उ० प्र०)

सम्पादकीय

जनपदीय चेतना का आख्यान इस अंक के पृष्ठों में इतना हो चुका है कि और कुछ कहना शेष नहीं है। जनपद यानी 'जन और जन स्थान'। जन और जनस्थान के प्रति प्रतीति-प्रीति जगाना ही जनपदीय चेतना का लक्ष्य है।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः (अथर्ववेद १२-१-१२) "यह भूमि माता है मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ।" इस ज्ञान और विश्वास का अभाव हमारे साहित्य को तो निस्तेज और निर्वीर्य कर ही रहा है, हमें सर्वथा भाव-दरिद्र भी कर रहा है और हमारी अस्मिता के लिए भी एक प्रश्नचिह्न बना हुआ है।

पृथिवीपुत्र पृथ्वी के प्रति मातृभाव की श्रद्धा रखता है और पृथ्वी के लता-गुल्म-विरूथ, वन, पर्वत, नदी, समुद्र और पशु-पक्षी उसके सगोती हैं।

अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के ऋषि की दृष्टि, जो कुछ पृथ्वी से जन्मा पूजा के भाव से देखती है—

'हे पृथिवी, जो तेरे वृक्ष, वनस्पति, शेर, बाघ आदि हिंस्र जन्तु, यहाँ तक साँप और बिच्छू भी हैं, वे भी हमारे लिए कल्याण करने वाले हों।'

रीतिकाल के कवि ने कहा—

'साईं के जितने जीवन हैं उन्हें उन्मुक्त खेलने-फिरने दो।

आज वायु-प्रदूषण, जल प्रदूषण और वानिकी संकट का मूल कारण जनपदीय चेतना का ह्रास है। लोक साहित्य, लोक-भाषा, लोक शब्द, और लोक संस्कृति प्रति अनुराग जगाना ही जनपदीय चेतना है।

जनपदीय चेतना में देश का समग्र भूगोल उल्लसित है, राष्ट्रीय भाव तरंगित है, इतिहास गौरव मुखर है, आहत वर्त्तमान के प्रति समवेदना है, चुनौ का स्वीकार है और भविष्य की अपलक प्रतीक्षा है। जनपदीय चेतना का भाव आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'सोगहग' यानी 'समग्र भाव'

हमारी भारतीय संस्कृति और समाज-व्यवस्था में समग्रता पर, पूर्णता पर जोर दिया गया है और इसीको आनन्द का, सुख का स्रोत कहा-माना गया है। समग्रता यानी पूर्णता। अभाव में सुख नहीं है, अपूर्णता और संकीर्णता से दुःख उपजते हैं। अपने व्यक्तित्व का विकास समग्रता की प्राप्ति के लिए करने से सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है।

'छान्दोग्यपनिषद्' में गुरु-शिष्य का एक वार्तालाप है। शिष्य ने अपने गुरु से जिज्ञासा की—'भगवन् ! वेदान्त ने जिसे सुख (आनंन्द) बताया है, उसे मैं जानना चाहता हूँ। कृपा करके मुझे बतलाइए कि वह सुख क्या है और किस पदार्थ से उस सुख की प्राप्ति संभव है ?'

ऋषि ने उत्तर दिया—"**यो वै भूमां तत्सुखं। नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्। भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति।**

अर्थात् 'समग्रता, सम्पूर्णता, अविच्छिन्नता, और एकात्म भाव ही वह सुख है, उसी से सच्चा आनन्द प्राप्त हो सकता है। **नाल्पे**……अल्पता में, संकुचत्व में या मात्र अपनी देह का ही विचार करने से, स्वयं को एक टुकड़ा, एक खण्ड रूप में देखने-समझने से सुख नहीं मिलता। सुख के लिए हम खण्डत्व भाव से परे जाना होगा, इस देह से ऊपर उठना होगा, सत्यता को छोड़ना होगा। भूमा का, समग्रता का सुख भागवती सुख है। यही 'परिपूर्णता' या भगवत् भाव जानने योग्य है। 'पूर्ण' को जानो, स्वयं पूर्ण बनो तो सुख हो, शान्ति हो।"

"जिस व्यक्ति ने स्वयं उस सुख से जीवन को, आत्मा को परिपूर्ण नहीं किया, सचराचर से एकात्म नहीं हुआ वह दूसरों का कुछ भी उपकार नहीं कर सकता। पहले अपने को परिपूर्ण करो, पहले 'पूर्ण' को जानो-समझो-आत्मसात् करो तो दूसरे को भी पूर्ण बना सकते हो स्वयं हीनता, न्यूनता, अल्पता, अपूर्णता से ग्रस्त रहने पर अन्य हीन-विपन्नों का कल्याण कोई कैसे कर सकता है? पहले अपने भीतर संतुष्टि और तृप्ति उत्पन्न हो, अन्तः करण में रस भर जाय तक अन्यों को रस दिया जा सकता है, सुख प्रदान किया जा सकता है। अतः हमारी संस्कृति हमें ज्योति की ओर बढ़ने की, अमृतत्व की ओर बढ़ने की, समग्रता की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है। भारतीय जीवन-दर्शन किसी भी वस्तु को उसकी पूर्णता में देखने की दृष्टि प्रदान करता है, खण्ड-खण्ड में नहीं। आनन्द भी खण्डित नहीं होता, शान्ति भी टुकड़े-टुकड़े में नहीं मिलती। अखण्ड सुख-शान्ति को ही शाश्वत शान्ति और आनन्द कहा गया है।

"मैं ही सब में हूँ। मुझसे भिन्न कोई नहीं, कुछ भी नहीं। सारा जगत् मेरा ही आत्मस्वरूप है। जो इस प्रकार सबमें आत्मभाव रखता है, यही सुनता है और इसी को जानता है—वही समग्र का स्वरूप है। वह पूर्ण रूप है। वही सुख प्रदाता है, वही प्रत्यक्ष 'भूमा' है, आनन्द है। यही समग्रता एकात्मकता अमृत है और विभाजन या खण्डित होना मृत्यु है।"

अन्त में शिष्य ने जिज्ञासा की—'भगवन् ! वह जो सम्पूर्ण है, समग्र है—वह रहता कहाँ है ?'

महर्षि ने बतलाया—'वह अपनी व्यापकता, एकात्मकता जिसे तुम महिमा कह सकते हो—उसी में बसता हैं या फिर वह उस महिमा से परे भी रहता है।

'स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति।' अर्थात् समग्र सीमित होकर नहीं रहता। भूमा तो अनन्त रूप है। टुकड़े-टुकड़े में उसका परिचय नहीं दिया जा सकता। समग्रता या पूर्णता का बोध वस्तुतः परम तत्त्व का बोध है, परम सत्ता का स्वरूप है।"

जनपदीय चेतना के विकास में इसी पूर्णता का, इसी समग्रता का प्रस्फुटन होता है। जनपदीय भाषाएँ तो बाँसुरी-सी बजती हैं, हृदय-वीणा के तार झंकृत हो उठते हैं। यह धरती, सारा-का-सारा आकाश, कल-कल निनादिनी नदियाँ, गुनगुनी धूप, झूमती-सिहरती बयार—सभी के साथ जुड़ता मन निहाल हो जाता है! जनपदीय चेतना विश्व-संस्कृति को समग्रता में ही सँवारती है। जनपद भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, जनपदीय भाषाएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं किन्तु उनके बीच मूलतः अभेद होता है, अभिन्नता होती है। 'भूमा' का प्रतिनिधित्व जनपदीय भाषाओं की उदार रसोद्रेकन की क्षमता ही करती है।

यह जनपदीय भाव भूमि की अवमानना होगी, यदि उसे आंचलिक मोह, क्षेत्रीय उन्माद के स्वार्थ-संकुल घेरे में घेरने के कुचक्र को स्वप्निल परिकल्पना की स्वर-रचना में नियोजित किया गया।

सरलता और पौरुष की धरती, जागृत मेधा मनीषा की धरती, ऋतम्भरा-विश्वम्भरा-वसुन्धरा-अन्नपूर्णा धरती से, पुत्रवत्सला धरती से पृथिवी-पुत्रों की पहचान और ममता गाढ़ हो, यही जनपदीय चेतना का लक्ष्य है और यही इसका श्रेय है। वीरप्रसू धरती से, पौरुष के टप्पे-टप्पे से, ऋषियों-मनीषियों के धाम से, पौरुष और साधना से गर्वस्फीत पूर्वजों की ममता के स्वर से परिचय (पहचान) को गाढ़ करना; अपनी माटी से, खेत-बधार से जुड़ने का सन्देश देना, यही जनपदीय धर्म है।

माटी और प्रकृति की रंग-शोभा, परब-तीज-त्योहार का उल्लास, जन्म और संस्कार अनुष्ठान की मंगल चेतना, क्लेद-क्लिन्न कलुष से मुक्ति की अकुलाहट परमाराधन की पुनीत प्रेरणा तथा श्रेयस् को हाँक लगाती सौम्य चेतना की उदत्त अभिव्यक्ति ही जनपदीय चेतना की अपनी पहिचान है। लोकसंस्कृति के प्रति अनुराग जगाना हमारा जनपदीय चेतना प्रेरित धर्म है; यही जनपदीय धर्म है।

जनपद आन्दोलन साहित्य को लोक-जीवन से गहरे जोड़ने का संकल्प है। सर्वसाधारण की जिन्दगी की विवशताओं को जानना और उन परिस्थितियों में भी उनकी जीजिविषा के तेज का साक्षात् करना जनपदीय आन्दोलन का लक्ष्य है।

सादर प्रणति

सर्वश्री महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, ज्ञानमूर्त्ति डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल और प्रेरक साधक संपादकाचार्य पं० बनारसी दास चतुर्वेदी के त्रिवेणी-तीर्थ पर हम श्रद्धानिमज्जित हैं। स्व० बाबू वृन्दावन दास का भी हम पुण्यस्मरण करते

है। दादाजी (पूज्य चतुर्वेदीजी) की परिकल्पना-योनना के अनुसार इस अंक के सम्पादन-प्रकाशन में हम यथाभक्ति यथाशक्ति संलग्न हुए। दादाजी और बाबूजी इस अंक को देखकर निहाल हो गए होते। विद्वान् मनीषियों के सहयोग से यह अंक समृद्ध बन पड़ा है परिकल्पना फलवती हुई है, इसलिए वे प्रसन्न होते, यह कहने और सोचने का भी मैं साहस नहीं करता। दादाजी कहा करते थे, The best is enemy of good. (सर्वोत्तम उत्तम का शत्रु हुआ करता है)। हमेशा कुछ नहीं करने से कुछ करते जाने को वे वरेण्य मानते थे। इस 'कुछ' किए को ही वे उत्फुल्ल हृदय से सराहते, और इसकी प्रशंसा में सैकड़ों रुपये के पत्र लिख जाते और तब भी वे अघाते नहीं।

स्व० रामनरेश त्रिपाठी, डॉ० कन्हैया लाल सहल, देवेन्द्र सत्यार्थी, रामइकबाल सिंह 'राकेश', कृष्णानन्द गुप्त, रामचरण ह्यारण मित्र, रामनारायण उपाध्याय, आचार्य पं० कुलदीपनारायण झड़प और पं० गणेश चौबे की साधना और इनके द्वारा जनपदीय यज्ञार्थ दी गई आहुति और प्रयत्नों से भी परिचित हूँ। इनके प्रति भी मेरी सादर प्रणति है।

दादाजी : स्मृति तर्पण

हिन्दी साहित्य संसार पं० बनारसी दास चतुर्वेदी को 'दादाजी' कहता था; दादा जी कहकर सम्बोधित करता था। यह श्रद्धा-विगलित अपनत्वभरा सम्बोधन था।

दूसरों को हँसाना और उस हँसी में स्वयं घुल जाना उनका स्वभाव था। उनके अट्टहासों का खजाना कभी खाली नहीं हुआ और उनकी मस्ती की तिजोरी सदा भरी रही। वह अपनी हँसी उड़ाकर दूसरों को हँसाते रहे।

दादाजी के ही प्रेरणा-प्रोत्साहन से 'चतुर्मुख' का 'पं० पद्मसिंह शर्मा अंक' निकला, 'ज्ञानतरंगिणी' का 'दिनकर अंक' निकला और अब यह 'जनपदीय अंक' निकल रहा है। जनपदीय अंक की योजना दादाजी ने ही दी। ज्ञानतरंगिणी के प्रस्तावित अंक का स्वागत करते हुए उन्होंने पत्र-पर-पत्र लिखे और अपने जीवन के अन्तिम प्रहर में जहाँ-जहाँ उन्होंने साक्षात्कार दिए, पत्र-पत्रिकाओं और आकाशवाणी को सन्देश उन्होंने दिए—'जनपदोय अंक' का स्वागत किया और इन पंक्तियों के लेखक के प्रयत्न की सराहना की। १६-३१ मार्च, १९८५ की 'आकाशवाणी' में (वर्ष – ५०, अंक-६) प्रकाशित नन्द भारद्वाज द्वारा २४ दिसम्बर, १९८४ को लिया गया साक्षात्कार और 'बुन्देलखण्ड साहित्य अकादमी, छतरपुर की पत्रिका 'मामुलिया' (वर्ष—४, अंक-१४) विशेष रूप से उलेखनीय है। दादाजी ने 'महापुरुषों की खोज में' नामक अपने आत्मचरित ग्रन्थ में भी हमारा सस्नेह स्मरण किया है। दादा प्रेरणा, प्रोत्साहन और नेह-छोह से भरे महामानव थे और जनपदीय कल्याण के शुभ कार्य में लगे प्रत्येक व्यक्ति पर अपनी कृपा की वर्षा करते अघाते नहीं थे।

सामग्री एकत्र करने, उन्हें सम्पादित कर, सजाने-सँवारने में ही काफी समय निकल गया और 'ज्ञानतरंगिणी' का यह अंक उनके चरणों में रखकर आनन्दित होने का अवसर मैं चूक गया।

दादाजी २ मई, १९८५ को ही स्वर्गवासी हो गए। हमें खेद है, वे यह अंक नहीं देख सके। दादाजी की पुण्यस्मृति में यह अंक समर्पित करते हुए हम उन्हें अपनी सादर श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

बाबूजी वृन्दावन दास

बाबू वृन्दावन दास भी आज हमारे बीच नहीं हैं। उनका ज्ञानतरंगिणी और इन पंक्तियों के लेखक के प्रति वह स्नेह था, जिसे आज शब्द नहीं दिया जा सकता है। 'बाबू वृन्दावनदास के पत्र' (प्र०—साहित्य प्रकाशन, नई सड़क, मालीवाड़ा, दिल्ली-६) में अकेले इन पंक्तियों के लेखक के नाम लिखे बाबूजी के २१ पत्र प्रकाशित हैं। बाबूजी के स्नेह-विश्वास के ये पत्र ही प्रत्यक्ष गवाह हैं। बाबूजी का स्वर्गवास १८ दिसम्बर, १९८५ को हुआ। उनकी पुण्यस्मृति में हमारी विनम्र श्रद्धांजलि।

हार्दिक श्रद्धांजलि

सदेह गरिमा, मनीषा और स्वाभिमान के धनी, जनपदीय माटी की गन्ध बाबू जगजीवन राम, 'समीक्षा' की प्रेरणा और शक्ति स्व० करुणा राय (पत्नी डॉ० गोपाल राय, अध्यक्ष स्नातकोतर हिन्दी विभाग, पटना कालेज) और हिन्दी के उत्साही प्रचारक-प्रसारक आचार्य बैजनाथ राय को ज्ञानतरंगिणी-परिवार अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

० हिन्दी के जाने-माने कवि, कहानीकार और गद्य की विविध विधाओं में रचना करने वाले **श्रीकान्त वर्मा** का २५ मई, ८६ को न्यूयार्क में कैंसर की बीमारी से निधन हो गया।

०० हिन्दी के यशस्वी कथाकार **ख्वाजा बदीउज्जमाँ** का १६ मई, ८६ को नयी दिल्ली में निधन हो गया। वे गया बिहार के निवासी थे। केन्द्रीय सरकार की सेवा में केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो के संयुक्त निदेशक थे।

००० कन्नड़ के सुख्यात कथाकार **श्री मास्ति वेंकटेश आयंगर श्रीनिवास** का ६ जून, १९८६ को ९६ वर्ष की आयु में निधन हो गया। मास्तिजी ने १९८३ में ज्ञानपीठ पुरस्कार पाया था। मातृभाषा तमिल किन्तु साहित्य सृजन कन्नड़ में। 'श्रीनिवास' नाम से वे साहित्य रचना करते थे।

वयोवृद्ध लेखक और स्वतंत्रता सेनानी श्री छविनाथ पाण्डेय का निधन ६ जून, ८६ को ९६ वर्ष की आयु में हुआ। जन्म उत्तर प्रदेश में बलिया जिले में। कर्मभूमि बिहार, पटना। बिहार हिन्दी सा० सम्मेलन और बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से आजीवन सम्बद्ध और उसके स्तम्भ रहे।

इस सभी दिवंगत आत्माओं की शान्ति के लिए प्रभु से हमारी प्रार्थना है और इन्हें विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित है।

हम क्या करें ?

कवीन्द्र रवीन्द्र ने मिट्टी की ओर लौट चलने का सन्देश दिया है। हम रती की पुकार सुनें, धरती से प्रेम करें, धरती से अपना सम्बन्ध जोड़ें। यदि ने आत्म प्रवंचना की तो यह सर्वनाश की घड़ी होगी। आज हमारा अपरिचय घना, र अज्ञान प्रबल होता जा रहा है। हमें अपनी माटी से ममता नहीं, हम वत्सला दियों, देवतात्मा पर्वतों, वनश्री, सगोती वृक्ष-लता-गुल्म और पशु-पक्षियों को नहीं चानते। आज भिनुसहरा की शीतल बयार न तो मन में उछाह भरती है, न त-बधार के लहलहाते पौधों की धड़कनें हमारी आँखों को स्वप्निल ही करती । हम कट गए हैं अपने परिदेश से, अपनों से, अपनी माटी से। हमारी यह दासीनता, हमारी यह अन्यमनस्कता सचमुच हमारे दुर्भाग्य का सूचक है।

हमारा कवि, हमारा लेखक, हमारा विद्वान् जब उमड़ता है तो वेद-उपनिषद् लता है, आगम-निगम उद्धृत करता है, पुस्तकोन्मुखी होता है। कबीरदासजी ने हा 'तूँ कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी'। खुले नयन सि-हँसि देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ।'—**कबीर**

वेद नहीं लोक की साक्षी देनी है। हमें अपना अनुभव कहना है।

हम घर में फुदकती गोरैया से, घर के बँड़ेरे पर उचरते कौए से, मधुमक्खी से, नवरत श्रमरत चींटी से, अपने साथ रहनेवाले पशुओं से, झूमते वृक्षों और हरितिम ता-गुल्म-विरूथ से तथा अपनी माटी से सर्वथा अनजान हैं। अपने भू-भाग के ाथ अपने मन का मधुर सम्बन्ध चिरजीवी बनाने की साधना, हमारी साध होनी हिए। हमारे देश का कण-कण हिन्दी के लेखकों की लेखनी का वरदान पाने बाट देख रहा है। हमारे लेखकों को अपने परिचय का क्षेत्र बढ़ाना चाहिए र सहोदर प्रीति का परिचय देना चाहिए।

भारत गाँवों का देश है। भारत माता ग्रामवासिनी हैं। जनपदों में ही राष्ट्र हृदय धड़कता है। जनपदों की धूलि में ही संस्कृति के हीरे पड़े हैं। अपनी ा और संस्कृति की जीवन्तता के लिए हमें जनपदों की पुकार सुननी ही होगी। का यह आमंत्रण सकारना ही होगा।

भाषायी ऐक्य और सौहार्द

हिन्दी राजभाषा नहीं, सन्तों की भाषा रही है। सन्तों की बानी बनकर हिन्दी रात और महाराष्ट्र में ही नहीं, केरल और आन्ध्र तक अपना सन्देश लेकर ची। कबीर से बहुत पूर्व नामदेवजी महाराज महाराष्ट्र में जन्मे थे, लेकिन ता-आन्दोलन का प्रचार उन्होंने भी हिन्दी में ही किया था।

> "हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीत।
> नामा सोई सेविया, जहँ देहरा न मसीत ।:"
>
> —नामदेव (१२वीं सदी)

साम्प्रदायिक संकीर्णता को यहाँ स्थान कहाँ? और, यहाँ क्षेत्रीयता की भला गन्ध कहाँ? कबीर, जायसी, रहीम, रसखान, आलम, शेख, मुबारक और रसलीन की भाषा हिन्दी है। हिन्दी के सन्त साहित्य में सिक्ख गुरुओं की वाणियाँ प्रमुख स्थान रखती हैं। हिन्दी भाषी प्रान्तों में अनेक जनपदीय भाषाएँ हैं, लेकिन एक होकर उन्होंने सभी हिन्दी भाषी प्रान्तों को एक सूत्र में बाँधा है। यही नहीं, हिन्दी का एक अदृश्य तार गुजरात-महाराष्ट्र से लेकर असम तक सारे उत्तर भारत को एक धागे से बाँधे हुए है।

मराठी, गुजराती, पंजाबी, उड़िया, बँगला आदि शब्दों का हिन्दी संस्कृत के साथ तुलनात्मक भाषा शास्त्रीय अध्ययन होना चाहिए, जिससे भाषायी ऐक्य और स्नेह सौहार्द व्यापक हो।

हम राष्ट्रीय एकता, अखण्डता के आकांक्षी हैं। राष्ट्रीय गौरव और अपने सांस्कृतिक ऋक्थ (थाती) का हमें स्वाभिमान है। हमारी जनपदीय चेतना हिन्दी की वर्चस्विता को स्वीकार करते हुए राष्ट्रभाषा हिन्दी के हित में समर्पित है। राष्ट्र, राष्ट्रीय ऐक्य, भाषायी सद्भाव और राष्ट्रभाषा हिन्दी की प्रतिष्ठा का हमें पूरा ध्यान है। डॉ॰ इकबाल ने कहा है—

"मिट्टी की मूरतों में समझा है तू देवता है।
मुझको तो मादरे वतन का, हर जर्रा देवता है॥"

जनपदीय चेतना पृथिवी के कण-कण में देवत्व के दर्शन करती है।

इसी चेतना से मण्डित होकर राष्ट्रभाषा हिन्दी और अधिक समुज्ज्वला होगी, प्रभावान होगी—इसमें सन्देह करना व्यर्थ है। भाषायी ऐक्य और सौहार्द ही राष्ट्रीय एकता का आधार है क्योंकि संस्कृति के स्वर भाषा में ही अभिव्यक्ति होते हैं।

देश-विदेश में हिन्दी प्रयोग

अभी हाल में ही भारत सरकार के विदेश मंत्रालय ने एक परिपत्र भेजकर अपने दूतावासों को निर्देश दिया है कि वे अधिकाधिक काम-काज हिन्दी के माध्य से करें। ऐसे परिपत्र पहले भी भेजे गए हैं। आदेश देना, परिपत्र भेजना, कागज़ घोड़े दौड़ाना हमारा स्वभाव हो गया है और उसका अनुपालन नहीं होना भी एक मान्य प्रक्रिया हो गई है। विदेशों में काम करने वालों को न तो राष्ट्रभाषा से कोई लगाव है और न वे हिन्दी जानते ही हैं। उनका चुनाव ही किया जाता है इसी आधार पर कि वे हिन्दी नहीं जानते। अँग्रेज़ी स्कूलों में पढ़े-बढ़े ये लोग हिन्दी संस्कृति को ही ओछी निगाहों से देखते हैं—तो उसके प्रयोग से परहेज करें ही। हमारे नेतागण ही विदेश को कौन कहे देश के भीतर ही आयोजनों सेमिनारों में अँग्रेजी बोलना पसन्द करते हैं ताकि उनकी काबलियत की धाक जमे

रहे। जनता सरकार के विदेश मंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने पहली बार संयुक्त राष्ट्रसंघ में हिन्दी में भाषण किया किन्तु वे ही जब सोवियत संघ में गए तो वहाँ उपस्थित तत्कालीन प्रधान मंत्री मोरारजी भाई ने भारतीय छात्रों को हिन्दी में नहीं अँग्रेजी में ही सम्बोधित करने का आदेश दिया और अटलजी को उसे मानना पड़ा। कारण; कुछ दिनों पूर्व सांसदों का एक शिष्टमण्डल जब रूस गया था और भारतीय छात्रों को एक सांसद हिन्दी में सम्बोधित कर रहे थे तो दक्षिण भारत के कुछ छात्र विरोध प्रकट करते हुए वहिर्गमन कर गए थे। बेचारे सांसद अँग्रेजी जानते ही नहीं थे अन्यथा वे भी हिन्दी में बोलने की गलती नहीं करते! देश के भीतर की टुच्ची राजनीति ने विदेशी भूमि पर भी राष्ट्रभाषा का अपमान कराया और राष्ट्र तथा प्रकारान्तर से संविधान को भी अँगूठा दिखाने से नहीं चूकी। भारत सरकार उन छात्रों का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकी वरन् बाद में उन्हीं की मनोवृत्ति के साथ समझौता करके विदेश मंत्री को भी अँग्रेजी ही बोलनी पड़ी। कितने मजबूर हैं हम, कितने विवश हैं हमारे ये सिद्धान्तविहीन नेता! जैसे-जैसे हमारी दृष्टि महत् से हटकर क्षुद्र पर टिकती जा रही है, जैसे-जैसे जीवन मूल्यों का ह्रास होता जा रहा है वैसे-वैसे हम मनुषत्व के चिह्नों को एक-एक कर छोड़ने में ही गौरव अनुभव करने लगे हैं। मनुष्य एक उन्माद् की अवस्था से गुजर रहा हैं। करते रहें हम 'विश्व हिन्दी सम्मेलन' किन्तु वह महज कुछ लोगों के सैर-सपाटे और मौज-मस्ती से अधिक कुछ नहीं होगा।

विदेशों में हिन्दी का प्रयोग हो, इसके पहले जरूरी है कि देश के भीतर हिन्दी को वह सम्मान मिले जिसकी वह अधिकारिणी है और देश में हिन्दी को भी तभी सम्मान मिलेगा जब वह स्वयं सबको जोड़कर चलेगी, सबके स्नेह को पाकर समृद्ध होगी। हिन्दी जोड़ने वाली भाषा रही है, सबको एकजुट करने वाली भाषा रही हैं, सन्तों की भाषा रही है, एकता और जनसामान्य की भाषा रही है। हिन्दी वालों को प्रयास करना होगा कि हिन्दी इसी स्वरूप को विकसित करे।

न्यायालयों, कार्यालयों, बैंकों आदि में हिन्दी के प्रयोग के नाम पर खर्च तो हो रहा है, किन्तु बेमन से। किसी का लगाव नहीं है उसमें। हिन्दी में थीसिस (शोध प्रबन्ध) लिखने वाले छात्रों को प्रताड़ना और अपमान सहना पड़ता है इस देश में। यह सब उस मानसिकता के कारण है जिसमें देश के शासक जीते हैं। वे एक विशेष वर्ग का सृजन कर सत्ता-सुख भोगते रहना चाहते हैं और तृतीय श्रेणी की मेधा वाले आज के नेता हर बात के लिए उन्हीं का मुँह जोहते हैं।

हिन्दी में इतनी सामर्थ्य है कि उसमें हम किसी भी विषय का सम्यक् ज्ञान दे सकते हैं—बशर्त्ते हम देना चाहें। यही "चाहना' असल बात है। इसी चाह को पैदा करना पड़ेगा और जो लोग हिन्दी को मजबूत बनाने के नाम पर केवल शोर-शराबा करते हैं, वे एक प्रकार से हिन्दी का घोर नुकसान कर रहे हैं। हिन्दी को

व्यापकता तभी मिलेगी, सबका स्नेह-दुलार तभी प्राप्त होगा जब देश की सभी भाषाओं के बीच परस्पर सौहार्द और सहयोगात्मक भाव पैदा होगा; एक दूसरे के सुख-दुख को आँच में तपकर तोष पाने का चाव होगा। इसके लिए पहल करनी होगी हिन्दी वालों को ही। सबसे अधिक उत्तरदायित्व उन्हीं का है। जनपदीय भाषाओं के साथ उपेक्षा नहीं सहयोग और प्रेम का वर्त्ताव आवश्यक है।

हिन्दी की एक और बेटी 'सरनामी'

यह सुखद और और आश्चर्यजनक बात है कि सुदूर देशों में सौ वर्ष पूर्व जाकर बस जाने वाले भोजपुरी आदि क्षेत्रों के मजदूर अपनी भाषा और संस्कृति को छाती से लगाए आजतक जुगाए रहे और आज मारीशस, फिजी आदि देशों में भोजपुरी ही हिन्दी की पहिचान है। जनपदीय भाषा ने अपने को हिन्दी की गंगा में विलीन कर गौरवान्वित ही किया है। इसी क्रम में विश्व-क्षितिज पर एक नयी भाषा 'सरनामी' का उदय हुआ है। हम हिन्दी की इस बेटी का स्वागत करते हैं जो भोजपुरी-अवधी के मूल की है। इसकी लिपि रोमन है।

१९७५ में सूरीनाम के आजाद होने से कुछ साल पहले कई राजनीतिक विचारकों और बुद्धिजीवियों ने अपनी बोली को स्वतंत्र भाषा का रूप देने का निश्चय किया, जिसे "सरनामी" नाम दिया गया। आजादी मिलने के बाद अनेक भारतवंशियों ने सूरीनाम छोड़कर नीदरलैंड की नागरिकता ले ली और सूरीनाम छोड़ गये। १९८० में जब देश में सैनिक शासन स्थापित हुआ तब और भी अनेक भारतवंशी सूरीनाम छोड़ गये। नीदरलैंड में बसे भारतवंशी सूरीनामियों ने सरनामी को हिन्दी से अलग एक स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित करने का संगठित आन्दोलन शुरु किया।

नीदरलैंड के यूत्रेक विश्वविद्यालय के हिन्दी के प्रोफेसर श्री दाम्सत्रेक और बेल्जियम के प्रो० केम्पेन जैसे कुछ विदेशी विद्वानों नें विश्वविद्यालय में हिन्दी के साथ-साथ सरनामी की पढ़ाई का भी प्रबंध किया है।

पिछले दिनों सूरीनाम में आयोजित एक विचार गोष्ठी में सरनामी भाषा के व्याकरण, संरचना और साहित्य पर विचार किया गया। प्रो० दाम्सत्रेक ने अपने भाषण में भारत के मानचित्र में अवधी और भोजपुरी बोली के स्थानों को सरनामी भाषा का मूल स्थान बताया। भारत से गये लोगो ने पिछले सौ वर्ष में नये देश की नयी परिस्थियों में डच और अफ्रीकी बोलियों के संपर्क के कारण इस नयी बोली का निर्माण किया है।

सूरीनाम में भारत के राजदूत बच्चू प्रसाद सिंह और कुछ अन्य बुद्धिजीवी इस बात के पक्ष में नहीं हैं कि सरनामी को एक अलग भाषा का दर्जा दिया जाये। श्रीसिंह के अनुसार भाषा का प्रश्न हमेशा संवेदनशील रहा है। आज हिन्दी और हिन्दी प्रदेशों

विभिन्न बोलियों के बीच कोई संघर्ष नहीं है। सच्चाई यह है कि हिन्दी के खड़ी ोली रूप ने विभिन्न बोलियों के वीच सेतु का काम किया है। अपनी-आपनी जगह र ये बोलियां आज भी प्रचलित हैं।

लिमोटजस्टी

लिमोट जस्टी फ्रेंच भाषा का शब्द है। अर्थ है 'प्रॉपर वर्ड।' अर्थात् अभिव्यक्ति मा एवं सम्प्रेषण सिद्ध सटीक शब्द के सन्धान की ललक ही लीमोट जस्टी है। स के विश्व प्रसिद्ध उपन्यासकार फ्लोवेयर का सिद्धान्त था कि एक प्रकार के व को अभिव्यक्त करने के लिये एक ही शब्द हो सकता है। लेखक का कार्य उस उपयुक्त शब्द की तलाश करना। फ्लोवेयर को एक पृष्ठ लिखने में कभी-ी घण्टों समय लगता था, क्योंकि जिस विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति अभीष्ट , उसके लिए अर्थक्षम अभीप्सित शब्द जल्दी प्राप्त नहीं होते थे तो उपयुक्त शब्दों आंखमिचौनी शुरू हो जाती थीं। वह लिखता था, काटता था और पुनः लिखता । अन्तिम प्रारूप तैयार करने के पूर्व वह कई वार लिखता और काटता था। क पृष्ठ लिखने में उसे कई दिन लगते थे। किसी विशेष भाव की अभिव्यक्ति लिये सही शब्द की तलाश में वह कई-कई दिन व्याकुल रहता था। सार्थक टीक शब्द के सन्धान में साहित्य की वलिवेदी पर शहादत देने वाला इतना बड़ा ाहित्यकार विश्व में कोई दूसरा नहीं हुआ है। यही कारण है कि एक कृति Madame Bouary के द्वारा उसकी गणना विश्व के महानतम उपन्यासकारों में ोती है।

शब्दों में जादू होता है। शब्द को भारतीय चिन्तकों ने ब्रह्म कहा है। सही-ी शब्द जब एक साथ जुटते हैं, तो उनकी ध्वनि चिन्मय मंत्रशक्ति से सम्पन्न हो ाती है। ऐसे शब्दों की जुगत लगानी पड़ती है लेखकों को। शब्द-भंडार परिपूर्ण तो उनकी विनिया-बिछिया भी सहज होती है। हिन्दी का शब्द-भंडार काफी ृद्ध हो जाय यदि लोकभाषाओं के अकूत शब्द भंडार को हम सादर अपना लें पदीय भाषाओं की समृद्धि हिन्दी की समृद्धि है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

'भोजपुरी धरती और लोक राग' का स्वागत

डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र ने कृपापूर्वक मेरे अवलोकनार्थ 'भोजपुरी धरती और क राग' शीर्षक अपनी प्रकाशित व्याख्यान-पुस्तिका (व्याख्यान) भेजी है। रतीय भाषा परिषद्, कलकता के लोकसाहित्य व्याख्यान माला का यह प्रथम ष्प है। डॉ० मिश्र लोक साहित्य के प्रेमी हैं। और अपनी माटी की पहचान ें है। धरती से जुड़े साहित्यकार हैं वे, उन्हें धरती के रस-गन्ध की पकड़ (परख) और है गहरी आत्मीयता, समवेदना और सहानुभूति। राग के स्तर पर वे धरती जुड़े हैं। लोकराग से स्तर पर वे माटी से जुड़े हैं। उन्हें धरती से प्रेम है और इसकी

सम्भावना में गहरी आस्था। आत्महारा हृदय की आकुल पुकार उन्हें धरती की ओर प्रेरित कर रही है। विक्षुब्ध चित्त को कोई अनजाने मथ कर हिलोरें जगा देता है और वही हिलोरें लोकराग की धरती को छूने के लिए तट की ओर धावमान होती हैं।

इस भाषण में जनपदीय चेतना का स्पन्दन है। डॉ० मिश्र के इस व्याख्यान का और (इसके अन्तर्निहित मर्म का) अन्तःप्रवाही अपराजेय प्राण के दुर्निवार वेग का मैं स्वागत करता हूँ।

यह जनपदीय अंक

जनपदीय अंक आपके समक्ष है। निर्णय आप करेंगे कि यह कैसा बन पड़ा। रसोइया भोजन बनाता है। भोजन बनाने तक का ही वह दायी है। भोजन में रस हैं या नहीं, रसोइया पाक कला में सिद्ध है या नहीं, यह निर्णय तो भोजन करनेवाले देवें। दर्वी एक से एक सुस्वादु भोजन परसती है। लेकिन भोजन के स्वाद से वह सर्वथा अपरिचित रहती है। रस का आस्वाद तो रसना लेती है और स्वाद पर राय देते हैं, फैसला देते हैं लम्बी जीभ वाले। कलछी, रसोइया और सम्पादक एक वर्ग के हैं। रसोइया और सम्पादक का धर्म है, परसते चलो, केवल परसते चलो, चखो मत और चखो तो कहो मत, बढ़-बढ़ बोलो मत। दर्वीव्रत का पालन करो। दर्वीव्रत से विचलित हुए कि धर्मभ्रष्ट हो जाओगे। रसोइया और सम्पादक की जीभ का बढ़ना भी ठीक नहीं और बढ़-बढ़ कर बोलना भी ठीक नहीं। इस अंक के बारे में मैं मौन रहना ही उचित समझता हूँ किन्तु पाठकों से मौन की अपेक्षा नहीं है। उनसे प्राप्त प्रतिक्रिया काफी मूल्यवान होगी हमारे लिए। आगे की योजनाओं का वही सम्बल होगा।

करहु कृपा आपन जन जानी

एक तो जनपदीय भाषाओं पर साधिकार लिखनेवाले वे लोग हैं जिनका सम्बन्ध जनपदों से बड़ा गाढ़ा है। उनके पास तक अपनी गुहार पहुँचाने का, अपनी टेर सुनाने का एकमात्र साधन हमारे पास था—पत्र लिखना, बार-बार पत्र लिखना। आज देश की जैसी हालत है, डाक-व्यवस्था की जो स्थिति है उसमें पत्र गन्तव्य तक पहुँच ही जायेंगे, इसका भरोसा नहीं रहता। हमारे लेखक भी ठहरे मान-शान वाले। बार-बार टोकने पर जब कभी आलस का आलम टूटता है तो वे कलम उठाते हैं। और, फिर 'ज्ञानतरंगिणी' अव्यावसायिक पत्रिका होने के कारण उनके लिए 'पत्रम् पुष्पम्' का जोगाड़ भी तो नहीं लगा सकती। तो, फिर हमें तो केवल अपनी टेर का, अपनी गुहार का ही भरोसा था। यह तो जनपदों के दुःख-दर्द को महसूसने वाले, जनपदीय भाषाओं के विकास के प्रति समर्पित विद्वानों की महती उदारता ही थी कि उन्होंने हमारे निवेदन को स्वीकार कर अपनी रचनाओं से हमें भरपूर सहयोग दिया। हम उनकी कृपा पाकर उपकृत हुए। इस उदार

योग को पूरा-पूरा हम सहेज-बटोर भी नहीं सके। अकिंचन की झोली ही तनी बड़ी होती है ! इस समाव को देखते हुए झोली में जो अँट सका; जितना हम अँटा सके, उसे बिलम्ब से ही सही, पाठकों की सेवा में अर्पित कर एक तो होता ही है मन को। इस तोष का सुख वड़ा आह्लादकारी होता है। आह्लाद को, इस सुख को, इस तोष को हम अपने मंनीषी लेखकों और धैर्यवान पाठकों के बीच बाँट देना चाहते हैं।

देश के गणमान्य विद्वानों की अहैतुकी कृपा हुई। कृपा वारि की धाराधार हुई। महासमर्थ, महामान्य जह्नु ऋषि सदृश सम्पूर्ण कृपावारि को चुल्लू में कर ग्रहण नहीं कर पाया, यह मेरी विवशता और सीमा थी। क्षमार्थी हूँ।

कृपा करहु आपन जन जानी।

क्षमा-याचना

अज्ञानता में कितने ही रत्नों को काँच समझकर फेंक दिया। कितने लेखों पर सम्पादकीय मद के कुल्हाड़े का निर्मम प्रहार किया है। लेख की भावना के थ हुआ अन्याय मुझे कठघरे में खड़ा करेगा और वह अन्याय खुद यह गवाही कि मैंने कल कमल पर कुल्हाड़ा चलाया है और कमल को कसौटी पर कसने निर्मम जड़ता की है। मेरे इस सम्पादकीय अधिकार-प्रयोग से किसी विद्वान् क का मन आहत हो तो मैं पहले ही क्षमा चाहता हूँ। मेरे पास स्थान और न की सीमा थी। मेरी विवशता को लेखक बन्धु अनदेखा नहीं करेंगे— का भरोसा मुझे है।

इन सब अक्षम्य अपराधों के साथ ही साथ एक गुरुतर अपराध हुआ है कि पदीय अंक अरयाशित विलम्ब से निकल रहा है। इस अपराध के मूल में मेरी तव्यस्तता और मेरी स्वास्थ्य हानि है। इस कार्य के सम्पादन में मन का जो योग क्षित है, वह योग सध ही नहीं रहा था। क्षमाप्रार्थी हूँ।

पत्रिका की प्रतीक्षा में हमारे अधीर प्रेमी पाठकों को बड़ा कष्ट हुआ। अस्तु; ने उदार पाठकों से भी हम क्षमा चाहते हैं।

संकोच

पत्रिका में कुछ पत्र और सन्देश ऐसे प्रकाशित हो गए हैं जिनका प्रकाशन लीनता मर्यादा विरुद्ध है। आत्मप्रशंसा अतृप्ति, ग्रन्थि, कुण्ठा और अन्तःप्रवाही यक्त लोभ-वासना की सूचक है।

लेकिन यह निर्लज्ज लीला विद्यालयीय किशोर बालकों के हित की दृष्टि से य है।

इस निर्लज्ज लीला से एक अवस्था विशेष के हमारे कोमलमति बाल छात्रों के में पत्रिका की गम्भीरता बढ़ी, पढ़ने-लिखने की रुचि जगी, पत्रिकाप्रेम अंखुआ-

सका तो मुझे अपने इस अकर्त्तव्य की कोई ग्लानि नहीं होगी और न तो इसका पश्चाताप ही होगा। प्रायः कच्चा मन सम्मति देखकर ही पत्रिका के महत्त्व और उसकी गम्भीरता का विश्वासी होता है। यह सध सका तो निर्लज्ज व्यापार भी वदान्य हो जाएगा।

अपनी प्रशंसा को आशीर्वाद रूप में भी स्वीकार किया गया है। सतत शुभैषी गुरुजनों ने एक ऊंचाई का आदर्श खड़ा किया है और उनकी शुभेच्छा है कि छू सको तो इस ऊँचाई को छू लो, बढ़ सको तो इस ऊंचाई तक बढ़ो।

सम्मान्यवर श्री अंगद प्रसाद राय। श्रद्धेय दशरथ तिवारी (जि० शि० पद०) और वर्त्तमान प्राचार्य आदरणीय श्री केशव प्रसाद राय की स्नेहविह्वल शुभकामना को मैं प्रणत होकर स्वीकार कर रहा हूँ। और, उन्हें विश्वास दिलाता हुँ कि उनकी आशा और मर्यादा के अनुरूप अपने को बनाने का यत्न करूँगा। उनका अमोघ आशीर्वाद मेरा संबल होगा।

आभार

ब्रजलोक साहित्य एत्मादपुर (आगरा) के महामंत्री डॉ० शिवकुमार आनन्द ने मुझे १०० रु० भेजे थे। जनपदीय अंक की योजना से प्रभावित होकर एक सौ रुपयों से उन्होंने साग्रह सहयोग किया। मैंने उस १०० रु० का पत्राचार और डाक-व्यय में उपयोग किया। ब्रजलोक साहित्य, एत्मादपुर (आगरा) के महामंत्री डॉ० शिवकुमार आनन्द वैद्य का मैं आभारी हूँ उनके सौजन्य और उदारता के लिए।

इस पत्रिका के प्रकाशन में पूर्व प्राचार्य श्री उमाशंकर राय के प्रेम उत्साह और प्रेरणा का स्मरण न करना एक बड़ी कृतघ्नता होगी।

प्रो० दशरथ तिवारी शिक्षा प्रेमी, विद्यानुरागी, शिक्षकों के परम हितैषी और अति उदार जिला शिक्षा पदाधिकारी हैं। 'ज्ञानतरंगिणी' के प्रति आपका स्नेह अनजाना नहीं है। आपके सत्परामर्श, शुभेच्छा और प्रेरणा के मूल्य को स्वीकारते हुए हम अपनी प्रणत कृतज्ञता अर्पित करते हैं।

हमारे वर्त्तमान प्राचार्य श्री केशव प्रसाद राय एक मनस्वी कृती विद्वान् हैं। आपका संबल हमें नहीं मिला होता तो पत्रिका का भविष्य संभवतः अधजल में ही अँटका रह जाता।

हमारे विद्यालय का यह सौभाग्य रहा है कि यहाँ प्राचार्यों की उदारता, क्रियात्मकता की एक स्वस्थ परम्परा बनी रही है। वदान्य प्राचार्य श्री अंगद प्रसाद राय की मर्यादा से इसे एक गरिमा और टोन मिला, साधुशील प्राचार्य श्री उमाशंकर राय की सहृदयता; मिलनसारिता और कर्मनिष्ठा से इसकी

प्रतिष्ठा और लोकप्रियता को एक वृहत्तर आयाम मिला और वर्तमान प्राचार्य श्री केशव प्रसाद राय की विद्वता, गम्भीरता और दूरदृष्टि इसको शिक्षा-जगत् में गौरव शिखर पर स्थापित करने के निमित्त कृत-संकल्प लगती है। इण्टर कालेज के रूप में इसके विकास को दशा-दिशा देने के लक्ष्य की ओर हम तेजी से बढ़ रहे हैं।

हम आभारी हैं, सर्वश्री दशरथ तिवारी, उमाशंकर राय और केशव प्रसाद राय की त्रिमूर्त्ति के।

—डॉ० अनिलकुमार आंजनेय

शिवप्रसाद विद्यामन्दिर इण्टर कालेज
बक्सर (बिहार)

□

खेद प्रकाश

'जनपदीय अंक' के लिए 'नवनीत' के सम्पादक श्री गिरिजा शंकर त्रिवेदी की अनमोल सम्मति हमें मिली थी और 'ज्ञान-तरंगिणी' श्रद्धांजलि अंक (दिनकर अंक) में प्रकाशित 'नजरान-ए-अकीदत' के यशस्वी कवि मौलाना मुजिबुल्लाह 'अकमल' भोजपुरी की एक कीमती गज़ल की भेंट भी हमें मिली थी।

आदरणीय त्रिवेदी जी की सम्मति और जनाब अकमल भोजपुरी साहब की लासानी गज़ल 'बड़ी स्याह है रात' कहीं रख-रखा गई है। हमें खेद और पश्चाताप है कि हम अपनी उस सम्पत्ति से जनपदीय अंक को सम्पन्न-समृद्ध नहीं कर पा रहे हैं।

अपने प्रमाद के लिए हम आदरणीय त्रिवेदीजी और अपने प्रिय कवि जनाब अकमल भोजपुरी साहब के साथ ही अपने उदार पाठकों से क्षमा प्रार्थी हैं।

—सम्पादक

हमारा विद्यालय परिवार

१.	श्री केशव प्रसाद राय, प्राचार्य	एम. ए., डिप-इन-एड्
२.	,, शिवशंकर राय, उपप्राचार्य	एम. ए., डिप-इन-एड्
३.	,, रमाशंकर राय	एम. ए., बी. एड्
४.	,, सिद्धनाथ ठाकुर	एम. ए., एम एड्
५.	,, परमहंस सिंह	एम. एस-सी. डिप-इन-एड्
६.	,, डॉ० अनिलकुमार राय 'आंजनेय'	एम.ए. (हिन्दी + प्रा०भा० इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व) बी. एड् पी-एच.डी., विद्यावाचस्पति, विद्यासागर
७.	,, राममूरत तिवारी	एम. ए., डिप-इन-एड्
८.	,, शिवबहादुर पांडेय	एम. ए., डिप-इन-एड्
९.	,, मधुमंगल राय	एम. ए., डिप-इन-एड्
१०.	,, गोपाल प्रसाद	बी. एस-सी., डिप-इन-एड.
११.	,, गणेश उपाध्याय	एम. ए., डिप-इन-एड्
१२.	,, ललन सिंह	बी. एस-सी., डिप-इन-एड
१३.	,, लक्ष्मी नारायण राय	बी ए., डिप-इन-एड्
१४.	,, शेषनाथ राय	बी. एस-सी. (आनर्स), डिप-इन-एड्
१५.	,, रामेश्वर सिंह	एम. एस-सी., डिप-इन-एड्
१६.	,, तारकेश्वर राय	बी. एस-सी., बी. एड्
१७.	,, विभूति नारायण राय	बी. एस-सी., डिप-इन-एड्
१८.	,, रामप्रकाश वर्मा	एम. ए. (द्वय), बी. एड्
१९.	,, मदनमोहन राय	एम. ए. सी. टी.
२०.	,, विश्वनाथ दूबे	एम. ए. सी. टी.
२१.	,, ओमप्रकाश गुप्त	एम. ए., बी. एड्
२२.	,, कमलाकान्त राय	एम. ए., बी. एड्
२३.	,, मोहम्मद सोहराब	एम. ए., डिप-इन-एड्
२४.	,, धनराज प्रसाद	बी. ए., बी. एड्
२५.	,, ललन राय	एम. ए., बी. एड्
२६.	,, उमाशरण शर्मा	बी. एस-सी., बी. एड्
२७.	,, शशिभूषण सिन्हा	बी. एस-सी., बी. एड्
२८.	,, रमेश शर्मा	एम. ए., बी. एड्
२९.	,, विश्वामित्र पाण्डेय	बी. एस-सी., बी. एड्
३०.	,, अनन्त प्रसाद—लिपिक	बी. ए., सी. टी.
३१.	,, रामाशंकर ठाकुर– लिपिक	बी. ए., डिप-इन-एड्
३२.	,, ललितेश्वर राय—प्रधान सहायक	बी. ए.
३३.	,, बैजनाथ चौबे आदेश पाल	—
३४.	,, बासु राम— ,, ,,	—
३५.	,, दीनानाथ प्रसाद ,, ,,	मैट्रीक
३६.	,, धर्मदेव यादव ,, ,,	—
३७.	,, शंभु नाथ ,, ,,	—
३८.	,, धनेसर प्रसाद ,, ,,	—

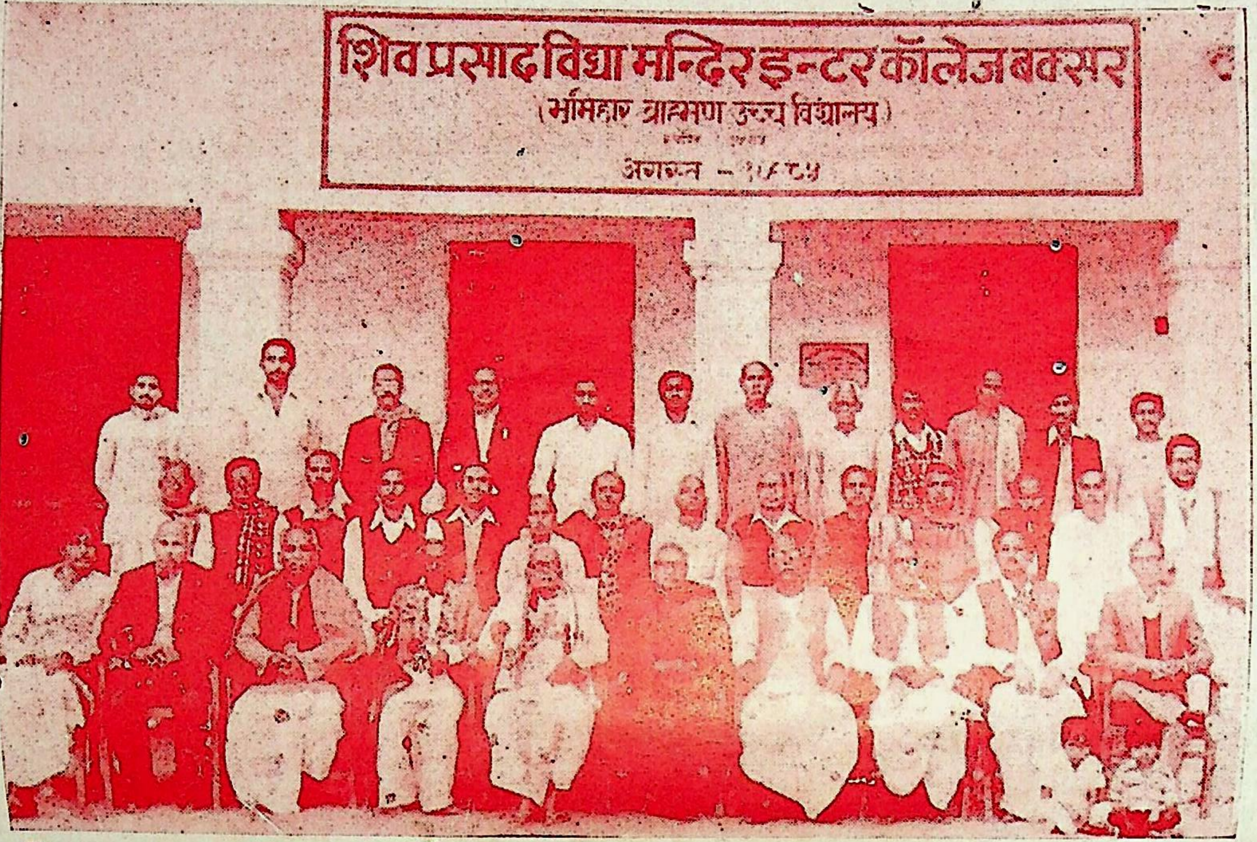
शिव प्रसाद विद्या मन्दिर इन्टर कॉलेज बक्सर
(भूमिहार ब्राह्मण उच्च विद्यालय)
अगस्त –

सम्मान-समारोह

पण्डित श्री राजेन्द्र शर्मा एवं मौ० श्री बशीरुद्दीन अहमद

(३१ दिसम्बर, १९८५)

कुर्सी पर बायें से— (सामने के पृष्ठ पर छपे समूह चित्र में)

श्री मधुमंगल राय; श्री रामसूरत तिवारी, डॉ० श्री अनिलकुमार 'आञ्जनेय'; मौ० श्री बशीरुद्दीन अहमद, पं० श्री राजेन्द्र शर्मा, प्रो० श्री दशरथ तिवारी (जिला शिक्षा पदाधिकारी), श्री उमाशंकर राय (प्राचार्य); श्री शिवशंकर राय (उपप्राचार्य), श्री रमाशंकर राय; श्री सिद्धनाथ ठाकुर

द्वितीय पंक्ति (बायें से)

सर्वश्री १. शेषनाथ राय, २. लक्ष्मीनारायण राय, ३. रमाशंकर ठाकुर, ४. कमलाकान्त राय, ५. ओम प्रकाश गुप्त, ६. विभूतिनारायण राय ७. शशिभूषण सिन्हा, ८. ललन सिंह, ९. तारकेश्वर राय, १०. रामेश्वर सिंह; ११. मदनमोहन राय, १२. अनन्त प्रसाद (लिपिक), १३. गोपाल प्रसाद, १४ ललितेश्वर राय (प्रधान सहायक)

तृतीय पंक्ति (बायें से)

सर्वश्री १. विश्वामित्र पांडेय; २. उमाशरण शर्मा; ३. ललन राय, ४. रमेश शर्मा, ५. मु० सोहराब; ६. रामप्रकाश वर्मा; ७. बैजनाथ चौबे; (आदेश पाल); ८. बासु राम (आदेशपाल), ९. दीनानाथ (आदेशपाल); १०. धर्मदेव (आ०पा०); ११. शंभुनाथ (आ० पा०); १२. घनेसर (आ० पा०)।

बाँसुरिया-सी बजै ब्रजभाषा

□ श्री गोपालप्रसाद व्यास

ये अनुराग के रंग रंगी, रसखान खरी, रसखान की भाषा।
यामैं घुरी मिसुरी मधुरी, यह गोपिन के अधरान की भाषा।
को सरि याकी करै कवि 'व्यास', ये भाव भरे अखरान की भाषा।
बोरति भक्ति, निचोरति ज्ञानहि, गोविंद के गुनगान की भाषा।

कंकड़ हू यहां कांकुरि ह्वै रहै, शंकर हू की लगै यहां तारी।
झूठे लगैं यहां वेद-पुरान, अनूठे लगैं रसिया, रस-गारी।
छींकिबौ-झींकिबौ यामैं नहीं, ये उछाह की फूल रही फुलवारी।
ये ब्रज की कविता है किधौं, ब्रजचंद नैं चांदनी आपु पसारी।

ओठन में मधु घोल गयी, रसना में रसी, बनी कंठ-पिपासा।
बांसुरी-सी बजी कानन में, उर में उतरी, उभरी अभिलाषा।
'व्यास' कौ नेह नबीनौ दियौ, औ सनेह कौ दीनी नयी परिभाषा।
श्याम कौ मोर की पांख दयी, अरु सूर कौ आंख दयी ब्रजभाषा।

सूर कही, तुलसी नैं लही, प्रभु पांयन सौं परसी ब्रजभाषा।
देव-बिहारी करी उर-धारन, मोतिन की लर-सी ब्रजभाषा।
भूषन पाये भवानी भई; कवि 'व्यास' हिये हरषी ब्रजभाषा।
मतिराम के मानस तैं उमही, घन आनंद ह्वै, बरसी ब्रजभाषा।

नूपुर-सी रुनकै-झुनकै, पग पायलिया-सी सजै ब्रजभाषा।
झूलत 'व्यास' उरोजन पै मणि, माल मनोज-मजै ब्रजभाषा।
बोल परैं चुरियां-कंगना, रस, केलिन बीच रजै ब्रजभाषा।
पीवत हैं अधरारस पीउ कौ। बांसुरिया-सी बजै ब्रजभाषा।

'माखन सौ मन; दूध सौ जोबन', राधिका-सी बिहरै ब्रजभाषा।
कोकिल-सी कुहुकै ब्रज-कुंजन; फूलन-सी बिछरै ब्रजभाषा।
'व्यास' हिये में विराजत भारती आरती-सी उतरै ब्रजभाषा।
'ज्यों-ज्यों निहारिय नर ह्वै नैंनन, त्यों-त्यों खरी निखरै' बृजभाषा।

हमारे विशिष्ट लेखक

कुबेरनाथ राय /	—
डॉ० श्रवण कुमार गोस्वामी /	आश्रय, नयी नगड़ा टोली, कैफी गली (पूरब), राँची-८३४००१ ।
श्री आनन्द शंकर माधवन /	पो० मन्दार विद्यापीठ, जिला-भागलपुर (बिहार)
डॉ० अम्बा प्रसाद 'सुमन' /	ए-८७, विवेक नगर, दिल्ली रोड, सहारनपुर-२४७००१ (उ० प्र०) ।
श्री राम बहाल तिवारी /	१७, रत्न पल्ली, डाकघर-शान्ति निकेतन, प० बंगाल, पिन-७३१२३५ ।
डॉ० भगवान सहाय पचौरी /	संपादक—ब्रजभारती, २५, कृष्णापुरी; मथुरा (उ० प्र०) ।
डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव ।	संपादक, परिषद् - पत्रिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-४
विद्यानिवास मिश्र /	कन्हैयालाल मुंशी हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्व विद्यालय, आगरा (उ० प्र०) ।
रामइकबाल सिंह 'राकेश' /	—
महेश चन्द्र गर्ग /	संपादक, 'हितो[illegible]', सासनी; अलीगढ़ (उ० प्र०) ।
नर्मदेश्वर चतुर्वेदी /	साहित्य सलाहकार, किताब महल; इलाहाबाद-२
विवेकी राय /	बड़ी बाग, गाजीपुर (उत्तर-प्रदेश) ।
जनार्दन उपाध्याय /	ऋतम्भरा, बी १/१२६, अस्सी, वाराणसी-पिन-२२१००५.
किरण मराली /	हिन्दी विभाग, मालवीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भाटपार रानी, देवरिया (उ० प्र०) ।
रामनारायण उपाध्याय /	साहित्य कुटीर, ब्राह्मणपुरी, खण्ड क (म० प्र०)
वेद प्रकाश 'अमिताभ' /	द्वारिकापुरी, अलीगढ़ ।
र्य पं० कुलदीप नारायण 'झड़प' /	लिलकर, बलिया (उ० प्र०) ।
युगेश्वर /	प्राध्यापक, काशी विद्यापीठ, वाराणसी ।
जितेन्द्रनाथ पाठक /	अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर ।
विद्या विन्दु सिंह /	—
विद्यानाथ ओझा /	निदेशक, भोजपुरी अकादमी, पटना ।
ष्णानन्द गुप्त /	पो० गरौठा, झाँसी, उत्तर प्रदेश
शारदा पाण्डेय /	१४२, बाघम्बरी गृह योजना, इलाहाबाद ।
वदत्त चतुर्वेदी /	छिपैटी, इटावा (उत्तर प्रदेश) ।
ह्मानन्द शर्मा /	सचिव, ब्रज अकादमी, वृन्दावन, मथुरा (उ० प्र०)
रिणीश झा /	६३, मीरा गली, दारा गंज, इलाहाबाद-८११००६

डॉ० चन्द्रसेन कुमार जैन /	इमर्ती देवी महिला महाविद्यालय, नयी कटक (उड़ीसा)।
श्री दशरथ तिवारी /	जिला शिक्षा पदाधिकारी, भोजपुर (बिहा
श्री शीलभद्र साहित्यरत्न /	संयोजक, जयचन्द्र विद्यालंकार, अ प्रतिष्ठान, पतोर, जिला-दरभंगा।
श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी /	३५, काकानगर, नई दिल्ली-३
डॉ० प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन' /	—
डॉ० गोपाल राय /	अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पटना कॉलेज, पट
डॉ० विष्णुदत्त भारद्वाज /	सेक्टर-६, एन ५२०, रामकृष्णपुरम्, दिल्ली-११००२२।
श्री रमण शाण्डिल्य /	ग्राम-जवाही, पत्रा०-राधाउर, द्वारा- जिला-सीतामढ़ी (बिहार)।
श्री अखिल विनय /	—
डॉ० तेजनारायण कुशवाहा /	कुलसचिव, विक्रमशिला हिन्दी विद्यापीठ, नगर, ईशीपुर (भागलपुर)
श्री नरेश पाण्डेय 'को[illegible]' /	संपादक, 'अंगमाधुरी', बोरिंग रोड (प पटना-१।
डॉ० भोलानाथ तिवारी /	प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्ववि दिल्ली।
डॉ० त्रिलोकी नाथ व्रजबाल /	—
श्री वेद प्रकाश गर्ग /	खटीबान, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०) पिन-२५
श्री त्रिभुवन शर्मा 'मधु' /	बारावंकी, उत्तर प्रदेश।
डॉ० श्याम सुन्दर बादल /	राठ, जिला-हमीरपुर (उत्तर प्रदेश)।
डॉ० मनोहर शर्मा /	१६, कैलाश निकुंज, रानी बाजार, बी (राजस्थान)।
[illegible] ह /	४०६, उरंहट, पी० के० स्कूल के पास, (मध्य प्रदेश)।
डॉ० रामप्रवेश सिंह /	गौतम बुद्ध अकादमी, पोखर पड़ाव आमगोला, मुजफ्फरपुर (बिहार) पिन-८४२
डॉ० राजेन्द्र रंजन /	सासनी (अलीगढ़), उत्तर प्रदेश।
श्री राजबल्लभ सिंह /	पत्रा० कौड़िया, द्वारा-बसन्तपुर, जिला-सीवा
प्रो० व्रजकिशोर /	संपादक, 'योगिराज', रूप प्रकाशन, मह पटना-६.
श्री शंकर दयाल सिंह /	कामता सदन, बोरिंग रोड, पटना-१.
श्री पशुपति नाथ सिंह /	द्वारा, रूप प्रकाशन, पटना-६.
श्री अंगद प्रसाद राय /	सिद्धाश्रम, चरित्रवन, बक्सर (भोजपुर)।
डॉ० जगदीश बाजपेयी /	१२३, द्वारकापुरी, मुजफ्फनगर, (उत्तर प्रदेश)
श्री गोपाल प्रसाद व्यास /	—
डॉ० रामस्वरूप आर्य /	नयी बस्ती, बिजनौर